

श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

श्रीमद्भगवद्गीता

(पारायण संस्करण)

शाङ्करभाष्योपेता एवं मिताक्षराहिन्दीटीकासंवलिता



कैलास विद्या प्रकाशन, कैलास गेट

दुःख मृत्यु से नहीं, मृत्यु के भय से होता है। - आर्ष वचन.

भजन क्या है?

जो दिख रहा है वह मेरा नहीं है और मेरे लिए भी नहीं है। यह भजन का मूल मन्त्र है।
यह भाव ही सच्चा भजन है। भजन का फल है सार है।

"श्रद्धा स्निग्ध प्रश्न ही जिज्ञासा कहलाता है। – "स्वामी सुबोधानन्द जी महाराज

धर्म और अध्यात्म सम्बन्धी संवाद, जिससे मोह कटता है, गीता कहलाता है।
पूज्य ब्रह्मलीन
स्वामी चिन्मयानन्द जी
महाराज



।।श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य त्रयःसप्ततितमः (७३वाँ) सोपानः

श्रीमद्भगवद्गीता

(पारायण संस्करण)

शाङ्करभाष्योपेता एवं विद्यानन्दीमिताक्षरासंवलिता

मिताक्षराव्याख्याकार एवं निर्देशक

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य



सम्पादक

स्वर्ण लाल तुली

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूज़ीलैण्ड)

प्रकाशक

श्री कैलास विद्या प्रकाशन, कैलास आश्रम, ऋषिकेश – २४९२०१

द्वारा

श्रीकैलासविद्यातीर्थ-आदि शंकराचार्य स्मारक

६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली – ११०००१ दूरभाष : ३३४७४७५

सौजन्य : मातुश्री वेलाबेन मूल जी दैया एवं पिताश्री मूल जी भाई विश्राम नरसी दैया की पुण्य स्मृति में श्री हरिराम मूल जी विश्राम नरसी चैरिटेबल ट्रस्ट उद्योग नगर, फ्लैग रोड, मुम्बई-२२ दूरभाष : ४०१५३०१, ४०१५२३७

प्रसंग : ऋषिकेशस्थ ब्रह्मविद्यापीठ श्री कैलासाश्रम के पञ्चम पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी प्रेम पुरी जी महाराज के संकल्पित स्वामी प्रेम पुरी अध्यात्म विद्याभवन प्रतिष्ठा रजत जयन्ती महोत्सव

प्रथमावृत्तिः २०००   वि. सं. २०५७; सन् २००० ई०

मूल्य : २२५ रुपये

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

१. **कैलास आश्रम,** कैलास गेट, ऋषिकेश-२४९२०१ दूरभाष : ०१३५-४३०५९८
२. **दशनाम संन्यास आश्रम,** भूपत वाला, हरिद्वार-२४९४०१ दूरभाष : ०१३३-४२७२०६
३. **कैलास आश्रम,** उजेली, उत्तरकाशी – २४९१९३ दूरभाष : ०१३७४-२२३६१
४. **कैलासधाम,** नई झूंसी, प्रयागराज – २२१५०६ दूरभाष : ०५३२-६६८७१८
५. **शंकर ब्रह्मविद्या कुटीर,** ८३-ए, द्वारकापुरी, मुजफ्फर नगर – २५१००१
६. **रामाश्रम,** सामाना मण्डी (पटियाला)- १४७१०१ दू० : ०१७६४-२०४५०
७. **कैलास विद्यातीर्थ - आदि शंकराचार्य स्मारक,** ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१ दूरभाष : ०११-३३४७४७५
८. **कैलास आश्रम,** मॉडल टाऊन, रोहतक – १२४००१
९. **कैलास विद्याधाम,** रूप नगर, जम्मू तवी – १८०००१
१०. **कैलास विद्या तीर्थ,** गिरियक रोड़, राजगीर (नालन्दा)-८०३ ११६ दूरभाष : ०६११९-२५२८३
११. **नर्मदा सत्संग आश्रम,** भिलाड़िया घाट, सिवनी मालवा, होशंगाबाद (म. प्र.)

मुद्रक :– **नाथ प्रिंटर्ज,** जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली – ११०००५
दूरभाष – ३५५५५८९, ३६११९७०

लेज़र कम्पोज़िंग : – **आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स,** जनक पुरी, नई दिल्ली-५८
दूरभाष : ५५२३००६, ५५२६८५६

ॐ

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

प्रस्थानत्रयी शाङ्करभाष्य ग्रन्थों के पठन पाठन से भी श्रुति स्मृति ग्रन्थों के स्वाध्याय का क्रम बहुत पुराना है। गुरुमुख से इन का श्रवण कर सुयोग्य शिष्य मनन द्वारा इन ग्रन्थों के अभिप्राय को भलीभाँति समझ जाते थे। तत्पश्चात् निदिध्यासन द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को आत्मसात कर लेने में ये सफल हो जाते थे। इस क्रम में लिखित ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश करने के उपरान्त, इस ग्रन्थ के श्रवण के लिये कुछ अनुबन्धों का निर्देश किया -

इदं ते न तपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

इस गीता ज्ञान को तपहीन, अभक्त, सुनने में अरुचि और भगवान् में दोषारोपण करने वाले को मत सुनाना। इस कथन से यह बात सिद्ध होती है कि अर्जुन में इतनी योग्यता भगवान् मानते थे कि बिना ग्रन्थ देखे अर्जुन गीता ज्ञान को दूसरे को देने में सक्षम थे क्योंकि उस समय जो भगवान् बोले उसे ग्रन्थरूप में परिणत करने की संभावना को ध्यान में रख कर भगवान् ने अर्जुन को नहीं कहा कि तुम अमुक अमुक व्यक्ति को यह ज्ञान मत सुनाना।

भविष्य में मनुष्य की मेधाशक्ति का ह्रास हो जायेगा, इसे ध्यान में रखते हुये भगवान् वेदव्यास जी ने शास्त्रों का ग्रथन किया। भगवद्वाणी गीता ज्ञान को महाभारत में ज्यूँ का त्यूँ रख दिया। यह उनका अति उपकार मानव मात्र के ऊपर माना जायेगा।

उससे आगे एक ऐसा समय आया जब ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ समझने की क्षमता लोगों में कम होने लगी। कुछ लोग मनमाना अर्थ भी लगाने लगे जो श्रुति सिद्धान्त से विपरीत था। इससे अर्थ की बजाए अनर्थ की उत्पत्ति होने लगी। इस परिस्थिति से निपटने के लिए आचार्यों ने भाष्यग्रन्थ रचकर मानव को सही राह दिखाई।

कलियुग के प्रभाव ने मानव के मस्तिष्क को उलटा सोचने को बाध्य किया **'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता'** जिससे वेद विरुद्ध मतो का जन्म हुआ और आसुरी प्रकृति के अनुरूप तीव्र गति से यह विस्तार को प्राप्त हुए। अब तो मानव का अभुदय और निःश्रेयस दोनों खतरे में पड़ गये। ऐसी परिस्थिति में भगवान् शंकर को स्वयं आदि शङ्कराचार्य के रूप में अवतरित होना पड़ा। भगवान् शङ्कराचार्य ने उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर वैदिक सिद्धान्तानुकूल प्रामाणिक भाष्यों की रचना की और अपने अल्प जीवन काल में ही भारत में छाये हुये अन्धकार को प्रकाश में बदल दिया। भारत की अखण्डता बनाये

रखने में भी उन्होंने अद्वितीय भूमिका निभाई। उनके सभी कार्य अलौकिक थे। शास्त्र रचना में वे बेजोड़ थे। दो सौ से भी अधिक ग्रन्थें की ताथी वे धर्मानुयायियों के लिए छोड़ गये। उनके प्रस्थानत्रयी – उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्य सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक माने जाते हैं। उनका चिन्तन विश्व को चौंका देने वाला है। कई विद्वानों ने उन्हें भगवान् वेदव्यास जी से भी अधिक सम्माननीय घोषित किया। श्री मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्त बिन्दु में लिखा है –

न नौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्धः।
विनापि तैः संग्रथितमशेषं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च॥

अर्थात् "सूत्रों की रचना करने के बाद भी उपनिषदों के अभिप्राय को वेद-व्यास जी नहीं बाँध सके क्योंकि वेदव्यास जी के सूत्रों की व्याख्या अन्यथा भी विद्वानों ने की है। पर बिना सूत्र रचना के ही आदि शंकराचार्य जी और उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य जी ने जिस केवलाद्वैत सिद्धान्त को सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है एतदर्थ श्री वेदव्यास जी की अपेक्षा भी हम आदि शंकराचार्य जी एवं सुरेश्वराचार्य जी को अधिक वन्दनीय मानते हैं।"

श्रीमद्भगवद्गीता को विद्वान् गीतोपनिषद् मानते हैं। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में आए 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु' पद का यही अभिप्राय है। समृति प्रस्थान होने पर भी गीता वस्तुतः श्रुति प्रस्थान की अंगीभूत ही है। भगवद्गीता का तात्पर्य शोक निवृत्ति में है जो **'तरति शोकमात्मवित्' 'तमेव विदित्वा मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय'** इत्यादि श्रौतसिद्धान्तनुकूल है। भगवान् शंकराचार्य के भाष्यों में यह वैशिष्टय है कि उन्होंने श्रौतसिद्धान्तानुकूल प्रस्थानत्रयी ग्रन्थों का नितान्त आवश्यक समन्वय प्रस्तुत किया है। उनके भाष्यों के आधार पर प्रस्थानत्रयी ग्रन्थों का स्वाध्याय ही यथार्थ प्रज्ञा को उत्पन्न कर सकता है। वैसे भी निष्पक्ष विद्वान् यह मानते हैं कि अन्य जितने भी भाष्यों की रचना हुई है वे भगवान् शंकराचार्य भाष्यों के उच्छिष्ट ही हैं। भगवान् शंकराचार्य ने मानव के लिए एक अनमोल धरोहर अपने ग्रन्थों के रूप में छोड़ी जिसे अपना कर वह सरलता से अपने लक्ष्य ब्रह्मात्मैक्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है।

उचित तो यह था कि भगवान् शंकराचार्य के उपकारों को हम लोग कभी भुलाते नहीं और उनकी वाणियों का उसी प्रकार समादर करते जैसे सिख भाई गुरु ग्रन्थ साहब का करते हैं। पर खेद की बात है कि हम इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे। आज की पीढ़ी भगवान् शंकराचार्य के नाम में भी भ्रमित हो रही है। कई लोग भगवान् शंकराचार्य द्वारा संस्थापित चार मठों के वर्तमान मठाधीशों को ही शंकराचार्य जानते हैं। उनकी दृष्टि आद्यजगद्गुरु शंकराचार्य भगवत्पाद तक नहीं पहुँच पाती। इस परिस्थिति में उनकी रचनाओं से ये लोग लाभ कैसे ले सकेंगे?

उपरोक्त शांकरी परम्परा के संपोषणार्थ एवं उससे संभावित मानव कल्याणार्थ

श्रीकैलास आश्रम ऋषिकेश की संस्थापना अनन्त श्री विभूषित स्वामी धनराज गिरि जी महाराज ने सन् १८८० ई० में की। इस पीठ पर क्रमश: दस आचार्य अब तक हुये हैं। वर्तमान् दशम आचार्य पाद ने शांकरी परम्परा संपोषणार्थ विशेष अभियान चलाया जो भागीरथ प्रयत्न ही माना जाएगा। प्रस्थान त्रयी भाष्य ग्रन्थों को आपने टीका, टिप्पण एवं स्वरचित हिन्दी व्याख्याओं सहित प्रकाशित करवाया। इससे भी आगे बढ़ कर अब पारायण संस्करण इन ग्रन्थों के प्रकाशित करवा रहे हैं जिससे शाङ्करभाष्य नित्य पारायण में लोगों को सौविध्य हो। जो व्यक्ति आजीवन नित्य प्रति एक घण्टा भाष्य पारायण करने का संकल्प ले उसे बिना मूल्य पारायण संस्करण ग्रन्थ उपलब्ध कराने की भी व्यवस्था की है। अतएव संतों एवं भक्तों का आपको **'शांकरीपरम्परासंपोषकाचार्य'** उपाधि से समलङ्कृत करना बहुत ही उचित माना जायगा।

उपरोक्त प्रकाशन क्रम में श्रीमद्भगवद्गीता पारायण संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रन्थ में मूल गीता श्लोक, उनकी विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या और शांकर भाष्य ये तीन सामग्रियाँ रखी गई हैं। हिन्दी व्याख्या शांकरभाष्य के ऊपर श्रीदशम कैलासपीठाचार्य महाराज श्री द्वारा रचित ललिता व्याख्या का ही संक्षेपरूप है। अत: यह शांकरमतानुसार मूल गीता श्लोकों का अर्थ है जो अन्यत्र प्रकाशनों में हमें देखने को नहीं मिला। इस पारायण संस्करण के प्रकाशन में भी, इस से पूर्व प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता ललिता संस्करण की भाँति श्री वेलाबेन मूल जी दैया एवं श्री मूल जी भाई विश्राम नरसी दैया जी की पुण्य स्मृति में श्री हरि राम मूल जी विश्राम नरसी चैरिटेबल ट्रस्ट उद्योग नगर, मुम्बई का सौजन्य प्राप्त हुआ है। इसे ऋषिकेशस्थ ब्रह्मविद्या पीठ श्री कैलास आश्रम के पञ्चम पीठाधीश्वर अनन्त श्री स्वामी प्रेमपुरी जी महाराज के संकल्पित स्वामी प्रेमपुरी अध्यात्म विद्याभवन मुम्बई के रजत जयन्ती महोत्सव प्रसंग पर प्रकाशित कर इन्होंने इस महोत्सव को चार चाँद लगा दिए हैं।

हम उपरोक्त ट्रस्ट के सभी सदस्यों एवं परिवारजनों को भूरिश: धन्यवाद देना अपना पावन कर्तव्य मानते हैं। इस ग्रन्थ में जहाँ हमारे आराध्य सद्गुरुदेव वर्तमान कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज का बराबर मार्ग दर्शन प्राप्त होता रहा वहाँ प्रूफ संशोधन में आचार्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी, आचार्य श्री स्वामी भास्कर संवित गिरि जी एवं विद्वद्देशीय ब्र. सिद्धार्थकृष्ण जी का सहयोग भी हमें प्राप्त हुआ। एतदर्थ हम सद्गुरुदेव के सदा अधमर्ण रहेंगे और उक्त तीनों महानुभावों के भी कृतज्ञ रहेंगे। श्री ब्र० सिद्धार्थ कृष्ण जी के निबन्ध 'सुभाशंसा' के लिये भी हम उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं। इत्यों शान्ति:!

दीपावली वि०सं० २०५७

गुरुपादानुरागी

स्वर्ण लाल तुली

विद्यासदन, दिल्ली - ११०००९

ॐ

शुभाशंसा

ॐ भव शङ्कर देशिक मे शरणम् ॐ

वैदिके किल सनातनधर्मे विवेकवैराग्यादिसाधनचतुष्टयसम्पन्नस्य मर्त्यस्य निरपेक्षामृतत्वसिद्धये सम्प्रदाविद्भिः प्रस्थानत्रयमभ्युपगम्यते–श्रुतिप्रस्थानम् (उपनिषदः), स्मृतिप्रस्थानम् (श्रीमद्भगवद्गीता), दर्शनप्रस्थानञ्चेति (ब्रह्मसूत्रम्)। तत्र यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीतायाः ब्रह्मसूत्रेषु भगवतः भाष्येषु चासकृदेव स्मृतित्वसमाख्यानदर्शनान्न श्रुतित्वम्, तथाप्युपनिषत्त्वं तु निर्बाधमेव "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्" इति तस्याः सर्वोपनिषत्सारत्वकथनात्, "उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः। निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेद्" इत्यादिना वार्त्तिकत्रयेण भगवद्भिः सुरेश्वराचार्यैरुक्तस्योपनिषल्लक्षणस्यास्यां समावेशात्, अध्यायान्तेषु सर्वत्र पुष्पिकायां "गीतासूपनिषत्सु" इति वचनोपलब्धेः, स्त्रीलिङ्गा–भिधानान्यथानुपपत्तेश्च। तस्यैतस्य प्रस्थानत्रयस्य सुमधुरं श्रुतिस्मृतिन्यायानुसारिभिः वचनैः समुपबृंहितमतिप्राञ्जलं दुराग्रहादिविकृतमनोमालिन्यरहितैः सर्वैरपि विद्वद्भिः सुपूजितं प्रशस्तं गद्यकाव्यस्येव रमणीयं भाष्यरत्नं जगद्गुरुणा भगवता भाष्यकारेण रचयाञ्चक्रे इति सर्वं सुप्रसिद्धमेव जगति। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिद्" इति शैल्या सर्वाण्यपि शास्त्राणि सर्वज्ञेन भगवता भाष्यकारेणाचार्यशंकरेण मुमुक्षुजनशङ्करे स्वभाष्यमौक्तिके विस्तरतो वा, संक्षेपतो वा, सूत्रतो वा ग्रथितानीति सर्वं पारायणपद्धत्या तदैकनिष्ठो भूत्वाध्ययनेनैवावबुध्यते, नतु केवलं प्रसिद्धपद्धत्याऽध्ययनाध्यापनमात्रेणेति स्वानुभूतमेवास्माकं न प्रमाणोपन्यासमपेक्षते मनागपि।

एतदेव निगूढं रहस्यं विदित्वा श्रीशाङ्करवाङ्मयमात्रैकनिष्ठाः प्रातःस्मरणीयाः परमपूज्याचार्यचरणाः परमादर्शमहामण्डलेश्वराः स्वामिविद्यानन्दगिरिमहाराजाः वेदान्तसर्वदर्शनाचार्याः शतकृत्वः प्रसिद्धाध्यापनशैल्या श्रीशाङ्करभारतेः जिज्ञासुभ्यः व्याख्यानं विधायापि वर्षं यावद्भाष्यपारायणस्य व्रतं गृहीतवन्तः पुरा कदाचित्। तत्राशातिक्रान्तामुपलब्धिं सञ्जातामवलोक्य श्रीशाङ्करभाष्यस्य प्रसन्नगम्भीरां चित्तशोधिकां मनआह्लादकरीं निर्गुणनिर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारकारिकां सुमधुरवाचमारसयन्त सततमेव परमानन्दमनुभवन्तः, तस्यां पुनः पुनः रिरंसवः श्रीशाङ्करभाष्यभाषयाहृतचित्ताः वत्सरे

समासिंयातेऽपि व्रतपरित्यागं कर्तुमसमर्था अद्यत्वेऽपि नित्यशः सकृद्धोरापर्यन्तं पारायणं कुर्वन्ति, अन्यानापि शताधिकान् गृहीतव्रताननेकजन्मसञ्चितसुकृतवशात्समुत्पन्नसौभाग्यान् कारयन्तीति जानन्ति समेऽपि भवन्तः। एवंप्रकारेणाद्भुतोऽयं सर्वजनलोकोपकारकः पारायणक्रमोऽभूतपूर्वोऽवतरितोऽस्यां भुवि। पारायणकर्तॄणां सौकर्याय पारायणक्रमस्य समस्तलोकसंग्रहाय प्रचारं कर्तुं च सम्पूर्णस्यापि श्रीशाङ्करवाङ्मयस्य विश्राम-स्थलसङ्केतादिसंवलितं पारायणसंस्करणं प्रकाशनीयम्, गृहीतपारायणव्रतेभ्यः भग-वत्कृपापात्रेभ्योऽनेकानेकजन्मसञ्चितसुकृतकर्मवशाद्भाष्यपारायणे सञ्जाताभिलाषेभ्यः सज्जनेभ्यः भगवत्कृपात्मतया पूजागृहे स्थाप्यममूल्यमिदं ग्रन्थरत्नं निःशुल्कमेव प्रदातव्यञ्चेति दृढपरिकराः सन्त्याचार्यचरणाः। तदधुना भगवतोऽ भिनवचन्द्रेश्वरस्य देवाधिदेवस्य महत्या कृपया श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यस्य पारायणसंस्करणमपि निष्प्रत्यूहं प्रकाशितं सत्पारायणकर्तॄणां सज्जनानां सेवायां समुपस्थापितं प्रकाशकैरिति महतः हर्षस्य विषयोऽस्माकम्।

उपर्युक्तस्य शुभसङ्कल्पस्य पूर्त्यै भगवतः शुभप्रेरणया श्रीहरिराममूलजी-विश्रामपरसेवान्यासस्य न्यासिनः ग्रन्थरत्नस्यास्य प्रकाशनं महाराजानां चरणकमलयोः प्रार्थितवन्तः, यद्धि साधुवादपुरःसरमनुज्ञातमाचार्यचरणैः। पूर्वेऽपि ललिताटीका-संवलितसंस्करणस्य प्रकाशनमेतेषामेव महानुभावानामर्थव्ययेन सञ्जातम्। तथैवायं ग्रन्थोऽपि स्वर्गवासिनां मातृचरणानां श्रीमती वेलाबेनमूलजीदैयाख्यानां स्वर्गवासिनां पितृचरणानां श्रीमतां मूलजीभाईविश्रामनरसीदैयाख्यानां पुण्यस्मृतौ तदीयसुपुत्रैरुपर्युक्त-न्यासस्य प्रधानन्यासिभिः श्रीकृष्णकुमारमूलजीदैयावर्यैः प्रकाश्यते। तस्मात्तेषां महानुभावानामन्येषाञ्च न्यासिनां सपरिकराणां, ग्रन्थमौक्तिकस्यास्य प्रकाशने सम्पादने च कृतपरिश्रमाणां सम्पादकवर्याणां श्रीस्वर्णलालतुलीत्यभिधानां सर्वधर्मान्परि-त्यज्येत्यादिभगवत्कथनानुगुणं श्रीकृष्णचरणकमलयोः दृढा भक्तिः, सकलपापनिर्मोचनम्, अद्वैततत्त्वसाक्षात्कारेण शोकाद्यात्मकसंसारस्य सकारणस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः भवेदिति प्रार्थयामहे।

विदुषां वशंवदः
सिद्धार्थकृष्णः
उपनिषत्प्रचारकेन्द्रम्, ऋषिकेशः

अनन्तचतुर्दशी,
वि. सं. २०५७

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता (पारायण संस्करण)

आह्निकप्रदीपिका

आह्निक सं.	अध्याय - श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
१	२-२१	३४
२	२-७२	६५
३	३-४३	९५
४	४-४२	१२७
५	६-२	१५४
६	६-४७	१७८
७	८-२२	२०८
८	१०-११	२३७
९	११-३१	२६७
१०	१२-२०	२९५
११	१३-२१	३२३
१२	१४-२७	३५०
१३	१६-२४	३७८
१४	१८-१७	४०७
१५	१८-५५	४३५
१६	१८-७८	४५६

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ करन्यासः

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम्।। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः।। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम्।। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः।। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः।। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इत मध्यमाभ्यां नमः।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः।। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः।। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।। इति करन्यासः।।

अथ हृदयादिन्यासः

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः।। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा।। अच्छेद्यो-ऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति शिखायै वषट्।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम्।। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट्।। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट्।। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः।।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी–
मम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।।१।।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।२।।

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।।३।।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।।४।।

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकःकेशवः ।।५।।

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपंकजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ।।६।।

मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ।।७।।

अथ गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ।।१।।

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ।।२।।

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।।३।।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।४।।

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।५।।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।६।।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।७।।

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ।।१।।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ।।२।।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ।। जय०
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा ।। जय०

निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल, मलहारी ।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी ।। जय०

राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा ।। जय०

आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी ।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी ।। जय०

समता-त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी वानी ।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ।। जय०

दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै ।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ।। जय०

श्रीकृष्ण परमात्मा हैं

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु-१-१०.

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्रीवेदव्यासप्रणीतमहाभारतान्तर्गता

श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्योपेता एवं मिताक्षराटीकासंवलिता



अथ श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचितभाष्यम्

[तत्रोपोद्घातभाष्यारम्भः]

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम्।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी॥

स भगवान्सृष्ट्वेदं जगत्तस्य च स्थितिं चिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वाप्रजापतीन्प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास।

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तत्रैको जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च श्रेयोर्थिभिरनुष्ठीयमानः। दीर्घेण कालेनानुष्ठातॄणां कामोद्भवाद्धीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेनाधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने चाधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसु-

देवादंशेन किल संबभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम्।

स च भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य, अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते। स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश, गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठीयमानश्च धर्मः प्रचयं गमिष्यतीति। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान्गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध।

तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्। तदर्थाविष्करणायानेकैर्विवृतपदपदार्थवाक्यार्थन्यायमप्यत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैर्गृह्यमाणमुपलभ्याहं विवेकतोऽर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि।

तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणम्। तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्माद्भवति। तथेममेव गीतार्थधर्ममुद्दिश्य भगवतैवोक्तम्—

"स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने" (महा. आश्व. १६.१२) इत्यनुगीतासु। तत्रैव चोक्तम्—

"नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी।
यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन्"॥

(महा. आश्व. १९.७)

'ज्ञानं संन्यासलक्षणम्' इति च (महा. आश्व. ४३.२६)

इहापि चान्त उक्तमर्जुनाय—'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (गी. १८.६६) इति। अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णानाश्रमांश्चोद्दिश्य विहितः, स च देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि सन्नीश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसंधिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते। तथा चेममेवार्थमभिसंधाय वक्ष्यति—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' (गी. ५.१०) 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' (गी. ५.११) इति।

इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थतत्त्वं च वासुदेवाख्यं परं ब्रह्माभिधेयभूतं विशेषतोऽभिव्यञ्जयद्विशिष्टप्रयोजनसंबन्धाभिधेयवद्गीताशास्त्रम्। यतस्तदर्थे विज्ञाते समस्तपुरुषार्थसिद्धिः इत्यतस्तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यस्योपोद्घातः॥







ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमषट्कम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच —

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥१॥

अथ 'विद्यानन्दीमिताक्षरा' टीका

(महाभारत संग्राम दस दिनों से चलते रहने पर जब कुरुक्षेत्र में अर्जुन के बाणों द्वारा भीष्मपितामह शरशय्या पर सुला दिये गये, तब इस संदेश को सुनते ही प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र कह उठा) हे संजय! (प्रवृत्ति एवं निवृत्तिरूप धर्म की उत्पत्ति एवं उसके रक्षणस्थान) धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे तथा पाण्डुपुत्रों ने क्या कर दिया? (**'किम्'** शब्द यहाँ पर आक्षेप अर्थ में है, प्रश्न या प्रकार अर्थ में नहीं)॥१॥

संजय उवाच —

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥२॥

संजय ने कहा कि उस समय पाण्डवों की व्यूहाकार सेना को देख राजा दुर्योधन ने (भयभीत हो) गुरुदेव द्रोणाचार्य के पास जाकर (यह) वचन कहा॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥३॥

हे आचार्य! आप के बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा पाण्डुपुत्रों की व्यूहाकार खड़ी की गयी इस महती सेना को आप देखें॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥६॥

शत्रु की इस सेना में जो शूरवीर हैं वे सब के सब बड़े-बड़े धनुष वाले, युद्ध में भीम व अर्जुन के समान हैं। यथा युयुधान (सात्यकि) विराट्, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, शक्तिशाली काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और पाण्डवों के अंश से द्रोपदी में उत्पन्न पाँच पुत्र-ये सब के सब महारथी हैं, (अतः उपेक्षणीय नहीं हैं) ॥४-६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥७॥

(परकीय शक्तिशाली सेना को देख हमें कोई भय नहीं है, क्योंकि) हमारी सेना में जो विशिष्ट सेनानायक हैं, हे द्विजोत्तम! उन्हें आप अच्छी प्रकार समझ लें। (आप पहले से भी जानते हैं, उनसे अपरिचित आप नहीं हैं और न वे आप से अज्ञात हैं; फिर भी) विज्ञापन के रूप में उन्हें मैं आप के समक्ष कहता हूँ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥८॥

आप, पितामह भीष्म, कर्ण, संग्रामविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और वैसे ही सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥९॥

(आप से लेकर मेरी सेना में जो भी प्रविष्ट हैं वे) अन्य शूरवीर मेरी विजय के लिए जीवन की आशा छोड़कर, नानाशस्त्र एवं प्रहरण से युक्त हैं और सब के सब युद्ध विद्या में कुशल हैं॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

(अपने भयाभाव को बतलाने के लिए दुर्योधन एक और हेतु द्रोणाचार्य के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रसिद्ध महिमा, सूक्ष्म बुद्धि वाले) भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी सेना को जीतना सुगम नहीं है किन्तु भीम द्वारा अभिरक्षित इन पाण्डवों की यह सेना जीते जाने में सुगम है॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

(अपनी सेना को भीष्मपितामह द्वारा अधिष्ठित होने के कारण दुर्योधन ने बलिष्ठ कहा) ऐसी स्थिति में आप सब का कर्त्तव्य हो जाता है, कि अपने-अपने मोर्चे पर यथास्थान डटे रहें और पितामह भीष्मजी की ही सभी ओर से रक्षा करते रहें॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

(आचार्य से इस प्रकार कहते समय भयाविष्ट दुर्योधन को देखकर भीष्मपितामह ने तदनुरूप कार्य किया) कौरवों में वृद्ध प्रतापी भीष्मपितामह ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए पहले सिंह के समान गर्जना की और तत्पश्चात् जोर से शङ्ख फूँक दिया॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥

राजा दुर्योधन के अभिप्राय को समझकर भीष्मपितामह की उक्त प्रवृत्ति के बाद उनके पक्ष के वीरों ने भी शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदंग और नरसिंग बाजे एक साथ बजाये जिनका मिलित शब्द बड़ा भयंकर हुआ॥१३॥

त्रैलोक्यविजयोपकरणभूते - महति स्यन्दने

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥

इस प्रकार दुर्योधन पक्ष के वीरों की प्रवृत्ति देखकर उसके निकटवर्ती चार सफेद घोडों से जुते महान् रथ पर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुनन्दन अर्जुन ने भी दिव्य शङ्ख बजाये॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥

हृषीकेश श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्यनामक और धनंजय अर्जुन ने देवदत्तनामक शङ्ख बजाया। भयंकर कर्म करने वाले वृकोदर (भीम) ने पौण्ड्रनामक महान् शङ्ख को बजाया॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१६॥

कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शङ्ख को बजाया। नकुल ने सुघोष नामक और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शङ्ख को बजाया॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥१८॥

हे पृथ्वीपते! काशिराज, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, द्रुपद और द्रोपदी के पाँचों पुत्र एवं सुभद्रापुत्र अभिमन्यु ने भी सभी प्रकार से पृथक्-प्रथक् शङ्ख बजाये। इन सभी वीरों के लिए महाधनुर्धारी, महारथी, अजेय और महाबाहु ऐसे चार विशेषण दिए गये हैं (जो उचित ही है)॥१७-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

उन पाण्डवपक्षीय वीरों के शङ्ख बजाने पर उत्पन्न हुए महान् शब्द ने धृतराष्ट्रपक्षीय वीरों के हृदयों को विदीर्ण कर डाला, क्योंकि वह भयंकर शब्द आकाश एवं पृथ्वी को गुँजाते हुए उनके हृदय को कंपायमान कर रहा था॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
अर्जुन उवाच—
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥

हे पृथ्वीपते! (भयंकर शब्द सुनने के बाद धृतराष्ट्र पक्ष के वीरों को भागना चाहिए था, किन्तु) वे अब भी व्यवस्थित खड़े हैं ऐसा उन्हें देख पाण्डुपुत्र कपिध्वज अर्जुन ने शस्त्रप्रहार प्रवृत्ति के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण से यह वचन कहा— (अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को '**अच्युत**' शब्द से सम्बोधित किया क्योंकि वे अपने स्वरूप, ऐश्वर्य एवं मर्यादा से कभी भी च्युत नहीं होते) — सन्निकटवर्ती दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को खड़ा करें॥२०-२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥२२॥

शत्रुपक्ष में खड़े इन युद्ध करने की इच्छा वालों को जब तक मैं अच्छी प्रकार से देख लूँ और इस रण प्रांगण में किन-किन लोगों के साथ मुझे युद्ध करना है, इसका भी निर्णय कर लूँ, इतनी देर तक रथ को खड़ा रखें॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥

दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले ये जो वीर राजा नाना देश से कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए हैं, उन शस्त्रास्त्र से सुसज्जित युद्ध की इच्छा वाले शूरवीरों को मैं देखूँगा॥२३॥

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥२५॥

संजय ने कहा—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! गुडाकेश अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने भीष्मद्रोणादि जिसमें प्रमुख हैं ऐसे सभी राजाओं के सामने दोनों सेनाओं के मध्य में उत्तम रथ को खड़ा करके कहा कि हे पार्थ! इन समीपवर्ती एकत्रित कुरुवंशियों को देख (जिनके साथ तुझे युद्ध करना है)॥२४-२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

(इस स्थिति में हिंसा महान् अधर्म है ऐसी विपरीत बुद्धि हो जाने

के कारण अर्जुन के मन में युद्ध से उपरामता हो आती है जिसे आगे कहते हैं) भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर पृथापुत्र अर्जुन ने दोनों सेनाओं में स्थित पितरों तथा पितामहों, आचार्यों, मातुलों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, श्वशुरों और सुहृदों को भी देखा॥२६, २७ पूर्वार्ध॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥२७॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
अर्जुन उवाच—
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥२९॥

वह कुन्ती पुत्र अर्जुन दोनों सेनाओं में व्यवस्थित पूर्वोक्त सभी बन्धुजनों को देखकर अत्यन्त कायरता से घिर गया और उसने विषाद करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण से यह कहा। अर्जुन ने कहा— हे श्रीकृष्ण! युद्ध की इच्छा से युद्धभूमि में उपस्थित इन आत्मीयजनों को देखकर मेरे शरीरावयव शिथिल हो रहे हैं और मुख अत्यन्त सूख रहा है। मेरे शरीर में कम्पन और रोमाञ्च हो रहा है॥ २७-२९॥

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥३०॥

गाण्डीवधनुष हाथ से सरकता जा रहा है और त्वचा भी अत्यन्त जल रही है। मेरा मन चक्कर काट रहा है, अतः मैं खड़ा रहने में समर्थ नहीं हूँ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥३१॥

हे केशव! इस समय मैं विपरीत शकुनों को देख रहा हूँ, (इसलिए मुझे उपरति हो गयी है— ऐसा मानकर अर्जुन कहता है।) संग्राम में अपने बन्धुजनों को मारकर मैं कल्याण भी नहीं देखता॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३॥

अतः हे गोविन्द! इस युद्ध से प्राप्त होने वाले विजय, राज्य और सुख को भी मैं नहीं चाहता हूँ। हमें राज्य से क्या लेना है, भोगों और जीवन से भी क्या प्रयोजन है? क्योंकि जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख अभीष्ट थे, वे ही हमारे आत्मीयजन धन एवं प्राणों की आशा छोड़कर युद्ध में सामने खड़े दीखते हैं॥३२-३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥३४॥

आचार्य, पितर, पुत्र, वैसे ही पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, श्याले और सम्बन्धीजन सामने (खड़े हैं)॥३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥

हे मधुसूदन! ये मुझे मारें तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता। भूमि के राज्य प्राप्ति की बात कौन कहे, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६॥

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि को मारकर हमें क्या

प्रसन्नता होगी, प्रत्युत इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही तो लगेगा॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३७॥

(अतः युद्ध का कोई अच्छा फल नहीं दीखता और अनर्थ भी सम्भव है,) इसलिए अपने ही बन्धुजन धृतराष्ट्र पुत्रों को मारना हमारे लिए उचित नहीं है। हे माधव! भला स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकेंगे?॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥

यद्यपि लोभ से नष्ट हुई बुद्धि वाले ये लोग कुल के क्षय के कारण होने वाले दोष को और मित्रों के साथ द्रोह करने से होने वाले पातक को नहीं समझ रहे हैं। (इसलिए युद्ध में इनकी प्रवृत्ति सम्भव हो रही है)॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३९॥

पर हे जनार्दन! कुलक्षयजनित दोष को समझने वाले हम लोग इस पाप से निवृत्त होने की बात क्यों न समझ लेवें। (कुल के नाश से और मित्रों के साथ द्रोह करने पर जो पाप होता है उसे जाने बिना उसका परिहार सम्भव नहीं है। अतः हम लोग पहले उसे समझें और तत्पश्चात् युद्ध में प्रवृत्त न हों, बस यही उचित होगा)॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

कुल के नाश होने पर कुल परम्परा से होने वाले अग्निहोत्रादि क्रिया-

साध्य सनातनधर्म, कर्ता के अभाव में, नष्ट हो जाते हैं और धर्म के नष्ट होने पर कुल घातक के सम्पूर्ण कुल को अधर्म अत्यन्त दबोच डालता है ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥

हे कृष्ण! अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ संयम न रखने के कारण अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वृष्णिवंशी भगवन्! फिर तो उन दुष्ट स्त्रियों में वर्ण संकर सन्तान उत्पन्न होती है॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

वर्णसंकर सन्तान कुलघातियों को एवं कुल को नरक में ही पहुँचाती है। इतना ही नहीं, श्राद्धादि पिण्ड क्रिया और तर्पणादि उदक क्रिया के लुप्त हो जाने पर उनके पितरों का पतन भी अवश्य हो जाता है॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

ये सब वर्ण संकरकारक दोष हैं। इनसे कुलघातियों के जाति धर्म और सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं। (इन सभी दोषों को देखते हुए हमें युद्ध से उपरत होना ही श्रेयस्कर है)॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥४४॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे मनुष्यों का नरक में निश्चित वास होता है, ऐसा हमने शास्त्रों एवं पूर्वपुरुषों से सुना है॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥

आश्चर्य है एवं दुःख भी है कि राज्य सुख के लोभ से प्रेरित हो हम अपने स्वजनों का वध करना रूप महत्पाप करने का निश्चय कर चुके हैं और उद्यत भी हैं॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४६॥

मैं अब शस्त्र छोड़ रहा हूँ और इसके आगे कोई प्रतिकार भी नहीं करूँगा, फिर भी मुझे धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मारें, तो वह मेरे लिए कल्याणकारक होगा॥४६॥

सञ्जय उवाच —
एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि इस प्रकार अर्जुन ने कहा और शोक संविग्न (उद्विग्न) मन वाला वह बाण के सहित धनुष को फैंककर रथ के पिछले भाग में जा बैठा॥४७॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित अर्जुनविषादयोगनामकप्रथमाध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१॥

☆☆☆☆

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥१॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि पूर्वोक्त अध्याय में बतलायी गयी कायरता से घिरे, नेत्रों में आँसू भरे व्याकुल नेत्र वाले उस विषाद युक्त अर्जुन से मधु दैत्य के संहारक भगवान् श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा, अर्थात् उसकी उपेक्षा नहीं की॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥२॥

भगवान् ने कहा (कि अर्जुन तुम क्षत्रिय प्रवर हो,) तुममें शिष्टपुरुषों से गर्हित, युद्ध से पराङ्मुखत्व, विषम स्थान में किस कारण से उपस्थित हो गया। यह तो शास्त्र के तात्पर्य को न जानने वाले लोगों से सेवित है, स्वर्ग को न देने वाला, प्रत्यवाय का कारण एवं अपयश कराने वाला कश्मल है॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥३॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! तुम नपुंसकता को प्राप्त मत होओ, ऐसे महामहिमा-शाली तेरे लिए यह उचित नहीं है। अतः हे शत्रुओं को संतप्त करने वाले! तू हृदय की दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़ा हो जा॥३॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! इस महाभारत संग्राम में मैं किस प्रकार पितामह भीष्म और गुरु द्रोण के साथ बाणों से युद्ध करूँगा, क्योंकि हे अरिसूदन! (ये दोनों ही प्रतिदिन पुष्पों से) पूजा के योग्य हैं॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

ये गुरुजन महानुभाव हैं, शास्त्रज्ञान से सम्पन्न हैं। इन्हें न मारकर यदि इस लोक में मुझे भिक्षान्न से जीवन बिताना पड़े तो भी मैं उसे श्रेष्ठ मानता हूँ, (गुरुजनों की हिंसाकर राज्य भोग की हमें कोई अपेक्षा नहीं है) इन गुरुजनों को मारकर इनके रक्त से रंजित भोगों को ही तो भोगूँगा॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

साथ ही इस बात से भी हम आश्वस्त नहीं हैं कि इस संग्राम में हम जीतेंगे अथवा हमें वे लोग जीत लेंगे। (कथंचित् हमारी विजय का आश्वासन मिल भी जाय तो भी). जिन्हें मारकर हम स्वयं भी जीवित रहना नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र और उनके पक्ष के वीरवर सामने खड़े दिखायी दे रहे हैं। (अर्थात् भिक्षान्न जीवन से युद्ध में श्रेष्ठत्व सिद्ध नहीं हो रहा है)॥६॥

यहाँ अर्थ ऐसा होना चाहिए कि मैं उन पर विजय प्राप्त करूँ या उनको जीतने दूँ इसमें क्या श्रेष्ठ है यह अर्जुन का [illegible]

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

कार्पण्य दोष से दूषित चित्तवाला तथा परब्रह्म के सम्बन्ध में जिसका चित्त विवेकशून्य हो ऐसा आज मैं हो गया हूँ। अतः आप से पूछता हूँ, आप मुझे जो निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उस साधन को बतलावें। मैं आप का शिष्यत्व स्वीकार करता हूँ और आप की शरण में भी आ गया हूँ। ऐसे शरणागत मुझ शिष्य को निश्चित कल्याणकारक साधन अवश्य बतलावें॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम्॥८॥

क्योंकि सप्तद्वीपा पृथ्वी में निष्कण्टक एवं धनधान्य से सम्पन्न राज्य को और साथ ही इन्द्रादि देवताओं के स्वामित्व को प्राप्त कर भी मैं इनके भीतर शोकापनयन साधन को नहीं देखता हूँ। ये सब मिलकर भी मेरी इन्द्रियों को शोषित करने वाले शोक को दूर नहीं कर सकेंगे। (अतः अब तो शोक संतरण का उपाय आप ही मुझे बतलावें)॥८॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—परंतप गुडाकेश ने हृषीकेश श्रीकृष्ण से कहा कि हे भगवन्! मैं अब युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा गोविन्द से कहकर उस रणभूमि में अर्जुन मौन हो गया॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

संजय ने यह भी कहा कि हे भारत! दोनों सेनाओं के मध्य उस विषादयुक्त अर्जुन से इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ने हँसते हुए यह वचन कहा, (जिसे भगवद्गीता कहते हैं)॥१०॥

॥अथ श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धभाष्यम्॥

अत्र च —

'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' (गी. १.२) इत्यारभ्य 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (गी. २.९) इत्येतदन्तः प्राणिनां शोकमोहादिसंसारदुःखबीजभूतदोषोद्भवकारणहेतुप्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्येयो ग्रन्थः। तथा ह्यर्जुनेन राज्यगुरुपुत्रमित्रसुहृत्स्वजनसंबन्धिबान्धवेष्वहमेषां ममैत इत्येवंप्रत्ययनिमित्तस्नेहविच्छेदादिनिमित्तावात्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' (गी. २.४) इत्यादिना। शोकमोहाभ्यां ह्यभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षात्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपरराम। परधर्मं च भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रववृते। तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्। स्वधर्मे प्रवृत्तानामपि तेषां वाङ्मनःकायादीनां प्रवृत्तिः फलाभिसंधिपूर्विकैव साहंकारा च भवति। तत्रैवं सति धर्माधर्मोपचयादिष्टानिष्टजन्मसुखदुःखसंप्राप्तिलक्षणः संसारोऽनुपरतो भवतीत्यतः संसारबीजभूतौ शोकमोहौ। तयोश्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञानान्नान्यतो निवृत्तिरिति तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थमर्जुनं निमित्तीकृत्याऽऽह भगवान्वासुदेवः—अशोच्यानित्यादि।

तत्र केचिदाहुः, सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठामात्रादेव

केवलात्कैवल्यं न प्राप्यत एव, किं तर्हि? अग्निहोत्रादि-श्रौतस्मार्तकर्मसहिताज्ज्ञानात्कैवल्यप्राप्तिरिति सर्वासु गीतासु निश्चितोऽर्थ इति। ज्ञापकं चाऽऽहुरस्यार्थस्य—'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि' (गी. २.३३) 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गी. २.४७) 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (गी. ४.१५) इत्यादि।

हिंसादियुक्तत्वाद्वैदिकं कर्माधर्मायेतीयमप्याशङ्का न कार्या, कथं क्षात्रं कर्म युद्धलक्षणं गुरुभ्रातृपुत्रादिहिंसालक्षणमत्यन्त-क्रूरमपि स्वधर्म इति कृत्वा नाधर्माय, तदकरणे च 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि' (गी. २.३३) इति ब्रुवता यावज्जीवादिश्रुतिचोदितानां पश्वादिहिंसालक्षणानां च कर्मणां प्रागेव नाधर्मत्वमिति सुनिश्चितमुक्तं भवतीति।

तदसत्, ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्विभागवचनाद्बुद्धिद्वयाश्रययोरशो-च्यानित्यादीनां भगवता यावत् 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (गी. २.३१) इत्येतदन्तेन ग्रन्थेन यत्परमार्थात्मतत्त्वनिरूपणं कृतं, तत्सांख्यं तद्विषया बुद्धिरात्मनो जन्मादिषड्विक्रियाभावादकर्ताऽऽत्मेति प्रकरणार्थनिरूपणाद्या जायते सा सांख्यबुद्धिः सा येषां ज्ञानिनामुचिता भवति, ते सांख्याः।

एतस्या बुद्धेर्जन्मनः प्रागात्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वकर्तृ-भोक्तृत्वाद्यपेक्षो धर्माधर्मविवेकपूर्वको मोक्षसाधनानुष्ठाननिरूपण-लक्षणो योगः, तद्विषया बुद्धिर्योगबुद्धिः। सा येषां कर्मिणा-मुचिता भवति ते योगिनः। तथा च भगवता विभक्ते द्वे बुद्धी निर्दिष्टे—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गी. २.३९) इति। तयोश्च सांख्यबुद्ध्याश्रयां ज्ञानयोगेन निष्ठां सांख्यानां विभक्तां वक्ष्यति—'पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता।' इति। तथा च योगबुद्ध्याश्रयां कर्मयोगेन निष्ठां विभक्तां

वक्ष्यति—'कर्मयोगेन योगिनाम्' (गी. ३.३) इति। एवं सांख्यबुद्धिं योगबुद्धिं चाऽऽश्रित्य द्वे निष्ठे विभक्ते भगवतैवोक्ते ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्वैकत्वानेकत्वबुद्ध्याश्रययोरेकपुरुषाश्रयत्वासंभवं पश्यता।

यथैतद्विभागवचनं तथैव दर्शितं शातपथीये ब्राह्मणे—"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तो ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति" (बृ. ४.४.२२) इति सर्वकर्मसंन्यासं विधाय तच्छेषेण "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ. ४.४.२२) इति। तत्रैव च — "प्राग्दारपरिग्रहात्पुरुष आत्मा प्राकृतो धर्मजिज्ञासोत्तरकालं लोकत्रयसाधनं पुत्रं द्विप्रकारं च वित्तं मानुषं दैवं च, तत्र मानुषं वित्तं कर्मरूपं पितृलोकप्राप्तिसाधनं विद्यां च दैवं वित्तं देवलोकप्राप्तिसाधनं" "सोऽकामयत" (जै. २-६) इत्यविद्याकामवत एव सर्वाणि कर्माणि श्रौतादीनि दर्शितानि। "तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति" इति व्युत्थानमात्मानमेव लोकमिच्छतोऽकामस्य विहितम्। तदेतद्विभागवचनमनुपपन्नं स्याद्यदि श्रौतकर्मज्ञानयोः समुच्चयोऽभिप्रेतः स्याद्भगवतः।

न चार्जुनस्य प्रश्न उपपन्नो भवति 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' (गी. ३.१) इत्यादि। एकपुरुषानुष्ठेयत्वासंभवं बुद्धिकर्मणोर्भगवता पूर्वमनुक्तं कथमर्जुनोऽश्रुतं बुद्धेश्च कर्मणो ज्यायस्त्वं भगवत्यध्यारोपयेन्मृषैव "ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः" (गी. ३.१) इति। किंच यदि बुद्धिकर्मणोः सर्वेषां समुच्चय उक्तः स्यादर्जुनस्यापि स उक्त एवेति—'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' (गी. ५.१) इति कथमन्यतरविषय एव प्रश्नः स्यात्? न हि पित्तप्रशमार्थिनो वैद्येन मधुरं शीतं च भोक्तव्यमित्युपदिष्टे तयोरन्यतरत्पित्तप्रशमनकारणं ब्रूहीति प्रश्नो भवति।

अथार्जुनस्य भगवदुक्तवचनार्थविवेकानवधारणनिमित्तः प्रश्नः कल्प्येत, तथाऽपि भगवता प्रश्नानुरूपं प्रतिवचनं देयं, मया बुद्धिकर्मणोः समुच्चय उक्तः किमर्थमित्थं त्वं भ्रान्तोऽसीति। न तु पुनः प्रतिवचनमननुरूपं पृष्टादन्यदेव द्वे निष्ठे मया पुरा प्रोक्ते इति वक्तुं युक्तम्। नापि स्मार्तेनैव कर्मणा बुद्धेः समुच्चयेऽभिप्रेते विभागवचनादि सर्वमुपपन्नम्।

किंच क्षत्रियस्य युद्धं स्मार्तं कर्म स्वधर्म इति जानतः 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि' (गी. ३.१) इत्युपालम्भोऽनुपपन्नः, तस्माद्गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणाऽऽत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद्दर्शयितुं शक्यः।

यस्य त्वज्ञानाद्रागादिदोषतो वा कर्मणि प्रवृत्तस्य यज्ञेन दानेन तपसा वा विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानमुत्पन्नं परमार्थतत्त्वविषयमेकमेवेदं सर्वं ब्रह्माकर्तृ चेति, तस्य कर्मणि कर्मप्रयोजने च निवृत्तेऽपि लोकसंग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तिस्तथैव कर्मणि प्रवृत्तस्य यत्प्रवृत्तिरूपं दृश्यते, न तत्कर्म, येन बुद्धेः समुच्चयः स्यात्।

यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षात्रकर्मचेष्टितम्, न ज्ञानेन समुच्चीयते पुरुषार्थसिद्धये तद्वत्तत्फलाभिसंध्यहंकाराभावस्य तुल्यत्वाद्विदुषः। तत्त्ववित्तु नाहं करोमीति मन्यते न च तत्फलमभिसंधत्ते। यथा च स्वर्गादिकामार्थिनोऽग्निहोत्रादिकामसाधनानुष्ठानायाऽऽहिताग्नेः काम्य एवाग्निहोत्रादौ प्रवृत्तस्य सामिकृते विनष्टेऽपि कामे तदेवाग्निहोत्राद्यनुतिष्ठतोऽपि न तत्काम्यमग्निहोत्रादि भवति।

तथा च दर्शयति भगवान् 'कुर्वन्नपि' (गी. ५.७) 'न करोति न लिप्यते' (गी. १३.३१) इति तत्र तत्र। यच्च 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' (गी. ४.१५) 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः

जनकादयः'(गी. ३.२०) इति, तत्तु प्रविभज्य विज्ञेयम्। तत्कथम्? यदि तावत्पूर्वे जनकादयस्तत्त्वविदोऽपि प्रवृत्तकर्माणः स्युस्ते लोकसंग्रहार्थं 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३.२८) इति ज्ञानेनैव संसिद्धिमास्थिताः कर्मसंन्यासे प्राप्तेऽपि कर्मणा सहैव संसिद्धिमास्थिता, न कर्मसंन्यासं कृतवन्त इत्येषोऽर्थः। अथ न ते तत्त्वविद ईश्वरसमर्पितेन कर्मणा साधनभूतेन संसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं ज्ञानोत्पत्तिलक्षणां वा संसिद्धिमास्थिता जनकादय इति व्याख्येयम्।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ (गी. ५.११)

एतमेवार्थं वक्ष्यति भगवान्सत्त्वशुद्धये कर्म कुर्वन्तीति। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गी. १८. ४६) इत्युक्त्वा सिद्धिं प्राप्तस्य च पुनर्ज्ञाननिष्ठां वक्ष्यति 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' (गी. १८.५०) इत्यादिना। तस्माद्गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्न कर्मसमुच्चितादिति निश्चितोऽर्थः। यथा चायमर्थस्तथा प्रकरणशो विभज्य तत्र तत्र दर्शयिष्यामः।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धभाष्यम्॥

अथ श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचितं गीताभाष्यम्।

तत्रैवं धर्मसंमूढचेतसो मिथ्याज्ञानवतो महति शोकसागरे निमग्नस्यार्जुनस्यान्यत्राऽऽत्मज्ञानादुद्धरणमपश्यन्भगवान्वासुदेवस्ततोऽर्जुनमुद्दिधारयिषुरात्मज्ञानायावतारयन्नाह—

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

तब श्री भगवान् ने कहा कि— न शोक करने योग्यों के लिये इस प्रकार तुम शोक करते हो और साथ ही बुद्धिमानों जैसी बात

भी कर रहे हो। परन्तु आत्मज्ञानी पण्डित मरे हुए और जीवित के विषय में भी शोक नहीं करते हैं॥११॥

अशोच्यानित्यादि। न शोच्या अशोच्या भीष्मद्रोणादयः सद्वृत्तत्वात्परमार्थरूपेण च नित्यत्वात्, **तानशोच्यानन्वशोचोऽ**नुशोचितवानसि ते म्रियन्ते मन्निमित्तमहं तैर्विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेति। **त्वं प्रज्ञावतां** बुद्धिमतां **वादांश्च** वचनानि च **भाषसे**। तदेतन्मौढ्यं पाण्डित्यं च विरुद्धमात्मनि दर्शयस्युन्मत्त इवेत्यभिप्रायः। यस्माद्**गतासून्**गतप्राणान्मृता**नगतासून**गतप्राणाञ्जीवतश्च **नानुशोचन्ति पण्डिता** आत्मज्ञाः पण्डाऽऽत्मविषया बुद्धिर्येषां ते हि **पण्डिताः** "पाण्डित्यं निर्विद्य" (बृ. ३.५.१) इति श्रुतेः। परमार्थतस्तु नित्यानशोच्याननुशोचस्यतो मूढोऽसीत्यभिप्रायः॥११॥

कुतस्तेऽशोच्याः? यतो नित्याः। कथम्?—

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

मैं (तत्पदार्थ परमात्मा) किसी समय नहीं था, ऐसी बात नहीं है, वैसे तू और ये सब राजा नहीं थे, ऐसा नहीं है और भविष्य में भी हम सब लोग नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं है॥१२॥

न त्वेव जातु कदाचि**दहं नाऽऽसं** किंत्वासमेवातीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु घटादिषु वियदिव नित्य एवाहमासमित्यभिप्रायः। तथा **न त्वं** नाऽऽसीः किं त्वासीरेव। तथा **नेमे जनाधिपा** नाऽऽसन्किं त्वासन्नेव। तथा **न चैव न भविष्यामः**, किंतु भविष्याम एव। **सर्वे वयमतो**ऽस्माद्देहविनाशात्**परमु**त्तरकालेऽपि त्रिष्वपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेणेत्यर्थः। देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनं नाऽऽत्मभेदाभिप्रायेण॥१२॥

तत्र कथमिव नित्य आत्मेति दृष्टान्तमाह—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

जिस प्रकार इस वर्तमान देह में देहविशिष्ट जीवात्मा की बाल्यावस्था, युवावस्था और वयोहानिरूप वृद्धावस्था होती है, वैसे ही इसे देहान्तर की प्राप्ति भी होती है, इस विषय में धीरपुरुष मोहित नहीं होते॥१३॥

देहिन इति। देहोऽस्यास्तीति देही तस्य **देहिनो** देहवदात्मनोऽ**स्मिन्**वर्तमाने **देहे यथा** येन प्रकारेण **कौमारं** कुमारभावो बाल्यावस्था, **यौवनं** यूनो भावो मध्यमावस्था, **जरा** वयोहानिर्जीर्णावस्थेत्येतास्तिस्रोऽवस्था अन्योन्यविलक्षणा-स्तासां प्रथमावस्थानाशे न नाशो, द्वितीयावस्थोपजनने नोपजनन-मात्मनः, किं तर्ह्यविक्रियस्यैव द्वितीयतृतीयावस्थाप्राप्तिरात्मनो दृष्टा यथा, **तथा** तद्वदेव देहादन्यो देहान्तरं तस्य प्राप्तिर्**देहान्तर-प्राप्ति**रविक्रियस्यैवाऽऽत्मन इत्यर्थः। **धीरो** धीमांस्तत्रैवं सति **न मुह्यति** न मोहमापद्यते॥१३॥

यद्यप्यात्मविनाशनिमित्तो मोहो न संभवति नित्य आत्मेति विजानतस्तथाऽपि शीतोष्णसुखदुःखप्राप्तिनिमित्तो मोहो लौकिको दृश्यते, सुखवियोगनिमित्तो दुःखसंयोगनिमित्तश्च शोक इत्येत-दर्जुनस्य वचनमाशङ्क्याऽऽह—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग होने पर जो शीत-उष्ण और सुख-दुःख होते हैं, वे आगमापायी होने से अनित्य हैं। अतः हे ज्ञान में रत रहने वाला अर्जुन! तू उन्हें सहन कर॥१४॥

मात्रास्पर्शा इति। **मात्रा** आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति

इनके द्वारा नापा जाता है

श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, मात्राणां **स्पर्शाः** शब्दादिभिः संयोगास्ते **शीतोष्णसुखदुःखदाः**, शीतमुष्णं सुखं दुःखं च प्रयच्छन्तीति। अथवा स्पृश्यन्त इति **स्पर्शा** विषयाः शब्दादयः, मात्राश्च स्पर्शाश्च **शीतोष्णसुखदुःखदाः**, शीतं कदाचित्सुखं कदाचिद्दुःखं तथोष्णमप्यनियतरूपम्। सुखदुःखे पुनर्नियतरूपे, यतो न व्यभिचरतोऽतस्ताभ्यां पृथक्शीतोष्णयोर्ग्रहणम्। यस्मात्ते मात्रास्पर्शादय **आगमापायिन** आगमापायशीलास्तस्माद**नित्या** अतस्ताञ्शीतोष्णादीं**स्तितिक्षस्व** प्रसहस्व तेषु हर्षं विषादं च मा कार्षीरित्यर्थः ॥१४॥

शीतोष्णादीन्सहतः किं स्यादिति शृणु—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःख में समान रहने वाले जिस ज्ञानी पुरुष को शीतोष्णादि द्वन्द्व विचलित नहीं करते हैं वह (द्वन्द्वसहिष्णु पुरुष आत्मनिष्ठ हो) मोक्ष प्राप्ति के लिए समर्थ होता है॥१५॥

यं हीति। **यं हि पुरुषं समदुःखसुखं** समे दुःखसुखे यस्य तं समदुःखसुखं सुखदुःखप्राप्तौ हर्षविषादरहितं **धीरं** धीमन्तं **न व्यथयन्ति** न चालयन्ति नित्यात्मदर्शना**देते** यथोक्ताः शीतोष्णादयः, **स** नित्यात्मदर्शननिष्ठो द्वंद्वसहिष्णु**रमृतत्वाया**मृतभावाय मोक्षाय **कल्पते** समर्थो भवति॥१५॥

इतश्च शोकमोहावकृत्वा शीतोष्णादिसहनं युक्तं, यस्मात्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

शोक के कारण अनात्मवस्तु शीतोष्णादि का परमार्थतः अस्तित्व है ही नहीं और सत् आत्मा का कभी अभाव नहीं होता, इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शियों द्वारा देखा गया है॥१६॥

वेदान्त - वेदानां अन्तः - निर्णयः।

मिथ्या - अविद्यमानत्वे सति भासमानत्वम् ।

नासत इति। **नासतो**ऽविद्यमानस्य शीतोष्णादेः सकारणस्य न **विद्यते** नास्ति **भावो** भवनमस्तिता। न हि शीतोष्णादि सकारणं प्रमाणैर्निरूप्यमाणं वस्तु संभवति।

विकारो हि सः; विकारश्च व्यभिचरति, यथा घटादिसंस्थानं चक्षुषा निरूप्यमाणं मृद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरसत्तथा सर्वो विकारः कारणव्यतिरेकेणानुपलब्धेरसन्, जन्मप्रध्वंसाभ्यां प्रागूर्ध्वं चानुपलब्धेः। मृदादिकारणस्य च तत्कारणव्यतिरेकेणानुपलब्धेरसत्त्वम्। तदसत्त्वे च सर्वाभावप्रसङ्ग इति चेत्। न, सर्वत्रबुद्धिद्वयोपलब्धेः सद्बुद्धिरसद्बुद्धिरिति। यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत्सत्, यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तदसदिति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वैरुपलभ्येते समानाधिकरणे।

न नीलोत्पलवत्सन्घटः सन्पटः सन्हस्तीति। एवं सर्वत्र। तयोर्बुद्ध्योर्घटादिबुद्धिर्व्यभिचरति, तथा च दर्शितम्; न तु सद्बुद्धिः; तस्माद्घटादिबुद्धिविषयोऽसन्व्यभिचारात्, न तु सद्बुद्धिविषयोऽव्यभिचारात्। घटे विनष्टे घटबुद्धौ व्यभिचरन्त्यां सद्बुद्धिरपि व्यभिचरतीति चेत्; न, पटादावपि सद्बुद्धिदर्शनात्; विशेषणविषयैव सा सद्बुद्धिः। सद्बुद्धिवद्घटबुद्धिरपि घटान्तरे दृश्यत इति चेत्। न, पटादावदर्शनात्।

सद्बुद्धिरपि नष्टे घटे न दृश्यत इति चेत्। न, विशेष्याभावात्। सद्बुद्धिविशेषणविषया सती विशेष्याभावे विशेषणानुपपत्तौ किंविषया स्यात्, नतु पुनः सद्बुद्धेर्विषयाभावात्। एकाधिकरणत्वं घटादिविशेष्याभावे न युक्तमिति चेत्। नेदमुदकमिति मरीच्यादावन्यतराभावेऽपि सामानाधिकरण्यदर्शनात्। तस्माद्देहादेर्द्वन्द्वस्य च सकारणस्यासतो न विद्यते भाव इति।

तथा **सतश्चा**ऽऽत्मनो**ऽभावो**ऽविद्यमानता **न विद्यते** सर्वत्राव्यभिचारादित्यवोचाम। एवमात्मानात्मनोः सदसतो**रुभयोरपि**

दृष्ट उपलब्धोऽ**न्तो** निर्णयः सत्सदेवासदसदेवेति **त्वनयोर्य**थोक्तयो**स्तत्त्वदर्शिभिः**। तदिति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तदिति तद्भावस्तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनस्तैस्तत्त्वदर्शिभिः। त्वमपि तत्त्वदर्शिनां दृष्टिमाश्रित्य शोकं मोहं च हित्वा शीतोष्णादीनि नियतानियतरूपाणि द्वंद्वानि विकारोऽयमसन्नेव मरीचिजलवन्मिथ्याऽवभासत इति मनसि निश्चित्य तितिक्षस्वेत्यभिप्रायः॥१६॥

किं पुनस्तद्यत्सदेव सर्वदैवास्तीति, उच्यते—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥१७॥

जिस सदात्मा से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है उस अव्यय आत्मा का विनाश कोई कर नहीं सकता। उसी सदात्मा को अविनाशी जान॥१७॥

अविनाशीति। अविनाशि न विनष्टुं शीलमस्येति। **तु**-शब्दोऽसतो विशेषणार्थः। **तद्विद्धि** विजानीहि। किं; **येन सर्वमिदं** जग**त्ततं** व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा साकाशमाकाशेनेव घटादयः। **विनाश**मदर्शनमभाव**मव्ययस्य** न व्येति, उपचयापचयौ न यातीत्यव्ययं तस्याव्ययस्य। नैतत्सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण व्येति व्यभिचरति निरवयवत्वाद्देहादिवत्। नाप्यात्मीयेनाऽऽत्मीयाभावाद्यथा देवदत्तो धनहान्या व्येति न त्वेवं ब्रह्म व्येत्यतोऽव्ययस्यास्य ब्रह्मणो विनाशं **न कश्चित्कर्तुमर्हति** न कश्चिदात्मानं विनाशयितुं शक्नोतीश्वरोऽपि, आत्मा हि ब्रह्म, स्वात्मनि च क्रियाविरोधात्॥१७॥

किं पुनस्तदसद्, यत्स्वात्मसत्तां व्यभिचरति इति उच्यते—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

नित्य, अविनाशी, अप्रमेय शरीरी के ये सभी देह अन्तवान् कहे गये हैं, अतः हे भारत! तू क्षात्रधर्मकर्त्तव्यरूप युद्ध को कर॥१८॥

अन्तवन्त इति। **अन्तवन्तो**ऽन्तो विनाशो विद्यते येषां तेऽन्तवन्तः। यथा मृगतृष्णिकोदकादौ सद्बुद्धिरनुवृत्ता प्रमाण-निरूपणान्ते विच्छिद्यते स तस्या अन्तस्त**थेमे देहाः** स्वप्न-मायादेहादिवच्चान्तवन्तः। **नित्यस्य शरीरिणः** शरीरवतोऽ-**नाशिनोऽप्रमेयस्या**ऽन्तवन्त **इत्युक्ता** विवेकिभिरित्यर्थः। नित्यस्यानाशिन इति न पुनरुक्तं नित्यत्वस्य द्विविधत्वाल्लोके नाशस्य च। यथा देहो भस्मीभूतोऽदर्शनं गतो नष्ट उच्यते, विद्यमानोऽप्यन्यथापरिणतो व्याध्यादियुक्तो जातो नष्ट उच्यते। तत्रानाशिनो नित्यस्येति द्विविधेनापि नाशेनासंबन्धोऽस्येत्यर्थः।

अन्यथा पृथिव्यादिवदपि नित्यत्वं स्यादात्मनस्तन्मा भूदिति नित्यस्यानाशिन इत्याह। **अप्रमेयस्य** न प्रेमयस्य प्रत्यक्षा-दिप्रमाणैरपरिच्छेद्यस्येत्यर्थः। नन्वागमेनाऽऽत्मा परिच्छिद्यते प्रत्यक्षादिना च पूर्वम्। न, आत्मनः स्वतः सिद्धत्वात्। सिद्धे ह्यात्मनि प्रमातरि प्रमित्सोः प्रमाणान्वेषणा भवति। न हि पूर्वमित्थमहमित्यात्मानमप्रमाय पश्चात्प्रमेयपरिच्छेदाय प्रवर्तते। न ह्यात्मा नाम कस्यचिदप्रसिद्धो भवति।

शास्त्रं त्वन्त्यं प्रमाणमतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रमाणत्वमात्मनि प्रतिपद्यते न त्वज्ञातार्थज्ञापकत्वेन। तथा च श्रुतिः—"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ. ३. ४.२) इति। यस्मादेवं नित्योऽविक्रियश्चाऽऽत्मा **तस्माद्युध्यस्व** युद्धादुपरमं मा कार्षीरित्यर्थः। न ह्यत्र युद्धकर्त्तव्यता विधीयते। युद्धे प्रवृत्त एव ह्यसौ शोकमोहप्रतिबद्धस्तूष्णीमास्ते, तस्य कर्तव्यप्रतिबन्धापनयनमात्रं भगवता क्रियते। तस्माद्युध्यस्वेत्यनु-वादमात्रं न विधिः॥१८॥



शोकमोहादिसंसारकारणनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं न प्रवर्तकमित्येतस्यार्थस्य साक्षिभूते ऋचावानिनाय भगवान्। यत्तु मन्यसे युद्धे भीष्मादयो मया हन्यन्तेऽहमेव तेषां हन्तेत्येषा बुद्धिर्मृषैव ते, कथम्—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

इस प्रकृत देही को जो मारने वाला जानता है और जो इसे मरा हुआ मानता है, वे (हनन क्रिया का कर्ता और हनन क्रिया का कर्म मानने वाले) दोनों ही इस बात को (अविवेक के कारण) नहीं जानते हैं कि यह आत्मा वस्तुतः न हनन क्रिया का कर्ता है और न हनन क्रिया का कर्म ही है (यह तो सभी विकारों से सर्वथा मुक्त है) ॥१९॥

य एनमिति। **य एनं** प्रकृतं देहिनं **वेत्ति** जानाति **हन्तारं** हननक्रियायाः कर्तारं, **यश्चैनमन्यो मन्यते हतं** देहहननेन हतोऽहमिति हननक्रियायाः कर्मभूतं, **तावुभौ न विजानीतो** न ज्ञातवन्तावविवेकेनाऽऽत्मानमहंप्रत्ययविषयं हन्ताऽहं, हतोऽस्म्यहमिति देहहननेनाऽऽत्मानमहंप्रत्ययविषयं यौ विजानीतस्तावात्मस्वरूपानभिज्ञावित्यर्थः। **यस्मान्नायमात्मा हन्ति** न हननक्रियायाः कर्ता भवति, **न हन्यते** न च **कर्म** भवतीत्यर्थः। अविक्रियत्वात्॥१९॥

कथमविक्रय आत्मेति द्वितीयो मन्त्रः—

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

यह प्रकृत आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है; वैसे ही, होकर पुनः किसी विकार को भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीर के मारे जाने पर भी यह कभी मरता नहीं॥२०॥

न जायते नोत्पद्यते जनिलक्षणा वस्तुविक्रिया नाऽऽत्मनो विद्यत इत्यर्थः। न **म्रियते वा**। वाशब्दश्चार्थे। न म्रियते चेत्यन्त्या विनाशलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते। **कदाचिच्छब्दः** सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः संबध्यते न कदाचिज्जायते न कदाचिन्म्रियत इत्येवम्। यस्माद**यमात्मा भूत्वा** भवनक्रियामनुभूय पश्चाद**भविता**ऽभावं गन्ता **न भूयः** पुनस्तस्मान्न म्रियते। यो हि भूत्वा न भविता स म्रियत इत्युच्यते लोके। वाशब्दान्नशब्दाच्चायमात्माऽभूत्वा भविता वा देहवन्न भूयः पुनस्तस्मान्न जायते। यो ह्यभूत्वा भविता स जायत इत्युच्यते। नैवमात्माऽतो न जायते। यस्मादेवं तस्मा**दजो**, यस्मान्न म्रियते तस्मा**न्नित्यश्च**।

यद्यप्याद्यन्तयोर्विक्रिययोः प्रतिषेधे सर्वा विक्रियाः प्रतिषिद्धा भवन्ति, तथाऽपि मध्यभाविनीनां विक्रियाणां स्वशब्दैरेव तदर्थैः प्रतिषेधः कर्तव्य इत्यनुक्तानामपि यौवनादिसमस्तविक्रियाणां प्रतिषेधो यथा स्यादित्याह **शाश्वत** इत्यादिना। **शाश्वत** इत्यपक्षयलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते शश्वद्भवः शाश्वतः। नापक्षीयते स्वरूपेण निरवयवत्वान्निर्गुणत्वाच्च नापि गुणक्षयेणापक्षयः। अपक्षयविपरीताऽपि वृद्धिलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते **पुराण** इति। यो ह्यवयवाऽऽगमेनोपचीयते स वर्धतेऽभिनव इति चोच्यते। अयं त्वात्मा निरवयवत्वात्पुराऽपि नव एवेति पुराणो न वर्धत इत्यर्थः। तथा न **हन्यते** न विपरिणम्यते

व्याप्य व्यापक भावो मिथ्या।

हन्यमाने विपरिणम्यमानेऽपि **शरीरे**। हन्तिरत्र विपरिणामार्थो द्रष्टव्योऽपुनरुक्ततायै न विपरिणम्यत इत्यर्थः। अस्मिन्मन्त्रे षड्भावविकारा लौकिकवस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिषिध्यन्ते। सर्वप्रकारविक्रियारहित आत्मेति वाक्यार्थः। यस्मादेवं तस्मादुभौ तौ न विजानीत इति पूर्वेण मन्त्रेणास्य संबन्धः॥२०॥

'य एनं वेत्ति हन्तारम्' (गी. २.१९) इत्यनेन मन्त्रेण हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवतीति प्रतिज्ञाय 'न जायते' (गी. २.२०) इत्यनेनाविक्रियत्वे हेतुमुक्त्वा प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

हे पार्थ! जो इस प्रकृत आत्मा को अन्त्यभावविकाररहित एवं विपरिणाम रहित जानता है ऐसे ही जन्मरहित, अपक्षयरहित आत्मा को जानता है, (वह विद्वान् अधिकृत पुरुष) किस प्रकार हनन क्रिया का कर्त्ता बनेगा और किस प्रकार हनन क्रिया का प्रयोजक बनेगा अर्थात् किसी भी प्रकार से वह न किसी को मारता है और न किसी को मरवाता है॥२१॥

वेदाविनाशिनमिति। **वेद** विजानात्य**विनाशिनम्**अन्त्यभावविकाररहितं **नित्यं** विपरिणामरहितं **यो** वेदेति संबन्धः। **एनं** पूर्वेण मन्त्रेणोक्तलक्षण**मजं** जन्मरहित**मव्ययम्**अपक्षयरहितं, **कथं** केन प्रकारेण **स** विद्वान्**पुरुषो**ऽधिकृतो **हन्ति** हननक्रियां करोति। कथं वा **घातयति** हन्तारं प्रयोजयति। न कथंचित्कंचिद्धन्ति, न कथंचित्कंचिद्घातयतीत्युभयत्राऽऽक्षेप एवार्थः, प्रश्नार्थासंभवात्। हेत्वर्थस्याविक्रियत्वस्य तुल्यत्वाद्विदुषः सर्वकर्मप्रतिषेध एव प्रकरणार्थोऽभिप्रेतो भगवतः। हंतेस्त्वाक्षेप

कर्त्ता नहीं, कारयिता नहीं,
कर्मत्व, कर्तृत्व, कारयितृत्व

उदाहरणार्थत्वेन। विदुषः कं कर्मासंभवे हेतुविशेषं पश्यन्कर्माण्याक्षिपति भगवान्कथं स पुरुष इति। ननूक्त एवाऽऽत्मनोऽविक्रियत्वं सर्वकर्मासंभवकारणविशेषः, सत्यमुक्तो न तु स कारणविशेषोऽन्यत्वाद्विदुषोऽविक्रियादात्मन इति। न ह्यविक्रियं स्थाणुं विदितवतः कर्म न संभवतीति चेत्। न। विदुष आत्मत्वात्। न देहादिसंघातस्य विद्वत्ता। अतः पारिशेष्यादसंहत आत्मा विद्वानविक्रिय इति तस्य विदुषः कर्मासंभवादाक्षेपो युक्तः कथं स पुरुष इति। यथा बुद्ध्याद्याहृतस्य शब्दाद्यर्थस्याविक्रिय एव सन्बुद्धिवृत्त्यविवेकविज्ञानेनाविद्ययोपलब्धाऽऽत्मा कल्प्यते। एवमेवाऽऽत्मानात्मविवेकज्ञानेन बुद्धिवृत्त्याऽविद्ययाऽसत्यरूपयैव परमार्थतोऽविक्रिय एवाऽऽत्मा विद्वानुच्यते। विदुषः कर्मासंभववचनाद्यानि कर्माणि शास्त्रेण विधीयन्ते तान्यविदुषो विहितानीति भगवतो निश्चयोऽवगम्यते।

ननु विद्याऽप्यविदुष एव विधीयते विदितविद्यस्य पिष्टपेषणवद्विद्याविधानानर्थक्यात्। तत्राविदुषः कर्माणि विधीयन्ते न विदुष इति विशेषो नोपपद्यते। न, अनुष्ठेयस्य भावाभावविशेषोपपत्तेः। अग्निहोत्रादिविध्यर्थज्ञानोत्तरकालमग्निहोत्रादिकर्मानेकसाधनोपसंहारपूर्वकमनुष्ठेयं कर्ताऽहं मम कर्तव्यमित्येवंप्रकारविज्ञानवतोऽविदुषो यथाऽनुष्ठेयं भवति, न तु तथा न जायत इत्याद्यात्मस्वरूपविध्यर्थज्ञानोत्तरकालभावि किंचिदनुष्ठेयं भवति। किंतु नाहं कर्ता न भोक्तेत्याद्यात्मैकत्वाकर्तृत्वादिविषयज्ञानादन्यन्नोत्पद्यत इत्येष विशेष उपपद्यते। यः पुनः कर्ताऽहमिति वेत्त्यात्मानं तस्य ममेदं कर्त्तव्यमित्यवश्यंभाविनी बुद्धिः स्यात्तदपेक्षया सोऽधिक्रियत इति तं प्रति कर्माणि। स चाविद्वान्—'उभौ तौ न विजानीतः' (गी. २.१९) इति वचनात्। विशेषितस्य च

विदुषः कर्माक्षेपवचनात् 'कथं स पुरुषः' (गी. २.२१) इति। तस्माद्विशेषितस्याविक्रियात्मदर्शिनो विदुषो मुमुक्षोश्च सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारः। अत एव भगवान्नारायणः सांख्यान्विदुषोऽविदुषश्च कर्मिणः प्रविभज्य द्वे निष्ठे ग्राहयति—'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन(ण) योगिनाम्' (गी. ३.३) इति। तथा च पुत्रायाऽऽह—भगवान्व्यासः— 'द्वाविमावथ पन्थानौ' (महा. शान्ति. २४१.६) इत्यादि। तथा च 'क्रियापथश्चैव पुरस्तात्पश्चात्संन्यासश्च' (तै. आ. १०.६२.१२) इति। एतमेव विभागं पुनः पुनर्दर्शयिष्यति भगवान्। अतत्त्वविद् 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' (गी. ३.२७), 'तत्त्ववित्तु' (गी. ३.२८) नाहं करोमीति। तथा च 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते' (गी. ५.१३) इत्यादि।

तत्र केचित्पण्डितंमन्या वदन्ति जन्मादिषड्भावविक्रियारहितोऽविक्रियोऽकर्तैकोऽहमात्मेति न कस्यचिज्ज्ञानमुत्पद्यते यस्मिन्सति सर्वकर्मसंन्यास उपदिश्यते। तन्न। 'न जायत' इत्यादिशास्त्रोपदेशानर्थक्यात्। यथा च शास्त्रोपदेशसामर्थ्याद्धर्माधर्मास्तित्वविज्ञानं कर्तुश्च देहान्तरसंबन्धिज्ञानं चोत्पद्यते, तथा शास्त्रात्तस्यैवाऽऽत्मनोऽविक्रियत्वाकर्तृत्वैकत्वादि विज्ञानं कस्मान्नोत्पद्यत इति प्रष्टव्यास्ते। करणागोचरत्वादिति चेत् न, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम् (बृ. ४.४.१९) इति श्रुतेः। शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्। तथा च तदधिगमायानुमान आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यत इति साहसमेतत्। ज्ञानं चोत्पद्यमानं तद्विपरीतमज्ञानमवश्यं बाधत इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तच्चाज्ञानं दर्शितं हन्ताऽहं हतोऽस्मीति 'उभौ तौ न विजानीतः' (गी. २.१९) इति। अत्र चाऽऽत्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वं हेतुकर्तृत्वं चाज्ञानकृतं दर्शितम्।

तच्च सर्वक्रियास्वपि समानं कर्तृत्वादेरविद्याकृतत्वमविक्रियत्वादात्मनः। विक्रियावान्हि कर्ताऽऽत्मनः कर्मभूतमन्यं प्रयोजयति कुर्विति। तदेतदविशेषेण विदुषः सर्वक्रियासु कर्तृत्वं हेतुकर्तृत्वं च प्रतिषेधति भगवान्विदुषः कर्माधिकाराभावप्रदर्शनार्थं 'वेदाविनाशिनं' 'कथं स पुरुषः' (गी. २.२१) इत्यादिना। क्व पुनर्विदुषोऽधिकारः? इत्येतदुक्तं पूर्वमेव 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' (गी. ३.३) इति। तथा च सर्वकर्मसंन्यासं वक्ष्यति 'सर्वकर्माणि मनसा' (गी. ५.१३) इत्यादिना।

ननु मनसेति वचनान्न वाचिकानां कायिकानां च संन्यास इति चेत्, न, सर्वकर्माणीति विशेषितत्वात्। मानसानामेव सर्वकर्मणामिति चेत्, न मनोव्यापारपूर्वकत्वाद्वाक्कायव्यापाराणां मनोव्यापाराभावे तदनुपपत्तेः। शास्त्रीयाणां वाक्कायकर्मणां कारणानि मानसानि वर्जयित्वाऽन्यानि 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यसेदिति' चेत्, न, 'नैव कुर्वन्न कारयन्' (गी. ५.१३) इति विशेषणात्। सर्वकर्मसंन्यासोऽयं भगवतोक्तो मरिष्यतो न जीवत इति चेत्, न 'नवद्वारे पुरे देह्यास्त' इतिविशेषणानुपपत्तेः।

न हि सर्वकर्मसंन्यासेन मृतस्य तद्देह आसनं संभवति। अकुर्वतोऽकारयतश्च, देहे संन्यस्येति संबन्धो न देह आस्त इति चेत्, न, सर्वत्राऽऽत्मनोऽविक्रियत्वावधारणात्। आसनक्रियायाश्चाधिकरणापेक्षत्वात्तदनपेक्षत्वाच्च संन्यासस्य। संपूर्वस्तु न्यासशब्दस्त्यागार्थो न निक्षेपार्थः। तस्माद्गीताशास्त्र आत्मज्ञानवतः संन्यास एवाधिकारो न कर्मणीति तत्र तत्रोपरिष्टादात्मज्ञानप्रकरणे दर्शयिष्यामः ॥२१॥

प्रथमाह्निकम् ॥ १ ॥

☆☆☆☆☆

प्रकृतं तु वक्ष्यामः, तत्राऽऽत्मनोऽविनाशित्वं प्रतिज्ञातं, तत्किमिवेत्युच्यते—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही देहाभिमानी जीव पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों में चला जाता है॥२२॥

वासांसीति। **वासांसि** वस्त्राणि **जीर्णानि** दुर्बलतां गतानि **यथा** लोके **विहाय** परित्यज्य **नवान्यभिनवानि गृह्णात्युपादत्ते नरः** पुरुषो**ऽपराण्यन्यानि तथा** तद्वदेव **शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति** संगच्छति **नवानि देह्यात्मा** पुरुषवदविक्रिय एवेत्यर्थः॥२२॥

कस्मादविक्रिय एवेति। आह—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

इस देही को शस्त्र काट नहीं सकते (क्योंकि यह निरवयव है), वैसे ही आत्मा को अग्नि भी भस्मसात् नहीं कर सकती और न इसे जल ही गीला कर सकता है। इस आत्मा को वायु भी स्नेह शोषण पूर्वक नाश नहीं कर सकता॥२३॥

नैनं छिन्दन्तीति। **एनं** प्रकृतं देहिनं **न छिन्दन्ति शस्त्राणि** निरवयवत्वान्नावयवविभागं कुर्वन्ति शस्त्राण्यस्यादीनि। तथा **नैनं दहति पावको**ऽग्निरपि न भस्मीकरोति। तथा

नैनं क्लेदयन्त्यापः। अपां हि सावयवस्य वस्तुन आर्द्री-भावकरणेनावयवविश्लेषापादने सामर्थ्यं, तन्न निरवयव आत्मनि संभवति। तथा स्नेहवद्द्रव्यं स्नेहशोषणेन नाशयति वायुः, एनं त्वात्मानं न **शोषयति मारुतो**ऽपि आकाशवत्॥२३॥

यत एवं तस्मात्—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

अतः यह आत्मा अच्छेद्य है। यह अदाह्य है, अक्लेद्य और अशोष्य भी है। इसलिए यह नित्य है। नित्य होने से यह व्यापक है, (परमाणु के समान परिच्छिन्न नहीं है)। सर्वव्यापक होने से स्थाणु की भाँति स्थिर है एवं स्थिर होने से यह आत्मा अचल है तथा चिरन्तन भी है॥२४॥

अच्छेद्योऽयमिति। यस्मादन्योन्यनाशहेतूनि भूतान्येन-मात्मानं नाशयितुं नोत्सहन्ते, तस्मा**न्नित्यो** नित्यत्वात्**सर्वगतः** सर्वगतत्वात्**स्थाणुः** स्थाणुरिव स्थिर इत्येतत्। स्थिरत्वा-**दचलो**ऽयमात्माऽतः **सनातन**श्चिरंतनो न कारणात्कुतश्चि-न्निष्पन्नोऽभिनव इत्यर्थः। नैतेषां श्लोकानां पौनरुक्त्यं चोद-नीयम्। यत एकेनैव श्लोकेनाऽऽत्मनो नित्यत्वमविक्रियत्वं चोक्तं 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिना। तत्र यदेवाऽऽत्मविषयं किंचि-दुच्यते तदेतस्माच्छ्लोकार्थान्नातिरिच्यते, किंचिच्छब्दतः पुनरुक्तं किंचिदर्थत इति। दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः। पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणामव्यक्तं तत्त्वं बुद्धिगोचरतामापन्नं सत्संसार-निवृत्तये स्यात् इति॥२४॥

किंच—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

(यह आत्मा सभी चक्षुरादि करणों का अविषय होने से अव्यक्त है, इसीलिए यह अचिन्त्य भी है, अविक्रिय होने के कारण यह आत्मा अविकार्य है)। जब यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, नित्य, सर्वव्यापक निश्चित हो गया तो इसी रूप में उसे जानना चाहिए और ऐसा इस आत्मा को समझ लेने पर तू इस सम्बन्ध में शोक करने योग्य नहीं॥२५॥

अव्यक्तोऽयमिति। अव्यक्तः सर्वकरणाविषयत्वान्न व्यज्यत इत्यव्यक्तोऽयमात्मा। अत **एवाचिन्त्योऽयम्।** यद्धीन्द्रियगोचरं वस्तु तच्चिन्ताविषयत्वमापद्यते। अयं त्वात्माऽनिन्द्रियगोचरत्वादचिन्त्यः। **अविकार्योऽयम्।** यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकारि। न तथाऽयमात्मा। निरवयवत्वाच्चाविक्रियः। न हि निरवयवं किंचिद्विक्रियात्मकं दृष्टम्। अविक्रियत्वादविकार्योऽयमात्मोच्यते। **तस्मादेवं** यथोक्तप्रकारेणैनमात्मानं **विदित्वा** त्वं **नानुशोचितुमर्हसि** हन्ताऽहमेषां मयेमे हन्यन्त इति॥२५॥

आत्मनोऽनित्यत्वमभ्युपगम्येदमुच्यते—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

यदि इस आत्मा को लोकप्रसिद्धि के अनुसार प्रत्येक शरीर की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाला मानो और प्रत्येक शरीर के नाश के साथ ही इसको मरा हुआ समझो, तो ऐसे आत्मा के विषय में भी हे महाबाहो! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए॥२६॥

अथ चैनमिति। अथ चेत्यभ्युपगमार्थः। **एनं** प्रकृत-

मात्मानं **नित्यजातं** लोकप्रसिद्ध्या प्रत्यनेकशरीरोत्पत्तिं जातो जात इति वा मन्यसे? तथा प्रतितद्विनाशं **नित्यं वा मन्यसे मृतं** मृतो मृत इति? **तथाऽपि** तथाभाविन्यप्यात्मनि **त्वं महाबाहो! नैवं शोचितुमर्हसि** जन्मवतो जन्म नाशवतो नाशश्चेत्येतावश्यंभाविनाविति॥२६॥

तथा च सति—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२७॥

क्योंकि जन्मने वाले का निश्चित मरण और मरने वाले का निश्चित जन्म होता ही है। अतः यह अर्थ अपरिहार्य है। इसलिए अर्जुन! इस सम्बन्ध में तुझे शोक नहीं करना चाहिए॥२७॥

जातस्येति। **जातस्य हि** लब्धजन्मनो **ध्रुवो**ऽव्यभिचारी **मृत्यु**र्मरणं **ध्रुवं जन्म मृतस्य च, तस्माद**परिहार्योऽयं जन्ममरणलक्षणोऽर्थस्तस्मिन्न**परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि**॥२७॥

कार्यकरणसंघातात्मकान्यपि भूतान्युद्दिश्य शोको न युक्तः कर्तुं, यतः—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

हे ज्ञान में रत रहने वाला अर्जुन! ये सभी भूत जन्म से पहले अव्यक्त ही तो थे, बीच में व्यक्त हुये और मरण के बाद पुनः अव्यक्त हो जायेंगे; तो इस सम्बन्ध में शोक क्यों किया जाय॥२८॥

अव्यक्तादीनीति। **अव्यक्तादीन्य**व्यक्तमदर्शनमनुपलब्धिरादिर्येषां भूतानां पुत्रमित्रादिकार्यकरणसंघातात्मकानां तान्य-

पूर्व जन्म को [illegible] करने के लिए [illegible], [illegible]
पाठ्यक्रम का फल विश्व के सभी लोग [illegible]

व्यक्तादीनि भूतानि प्रागुत्पत्तेः। उत्पन्नानि च प्राङ्मरणाद्व्यक्तमध्यानि। अव्यक्तनिधनान्येव पुनरव्यक्तमदर्शनं निधनं मरणं येषां तान्यव्यक्तनिधनानि मरणादूर्ध्वमप्यव्यक्ततामेव प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः।

तथा चोक्तम्—

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना॥

(महा. स्त्री. २.१३) इति तत्र का परिदेवना को वा प्रलापोऽदृष्टदृष्टप्रनष्टभ्रान्तिभूतेषु भूतेष्वित्यर्थः॥२८॥

दुर्विज्ञेयोऽयं प्रकृत आत्मा, किं त्वामेवैकमुपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते? कथं दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा? इत्यत आह—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

कोई-कोई इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है, वैसे ही दूसरा आश्चर्य की भाँति बोलता है और तीसरा आश्चर्य की भाँति इस आत्मा को सुनता है, पर कोई-कोई इसे सुनकर भी नहीं जान पाता॥२९॥

आश्चर्यवदिति। **आश्चर्यवदाश्चर्यमदृष्टमद्भुतमकस्माद्दृश्यमानं तेन तुल्यमाश्चर्यवदाश्चर्यमिवैनमात्मानं पश्यति कश्चित्। आश्चर्यवदेनं वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति। श्रुत्वा दृष्ट्वोक्त्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।** अथवा योऽयमात्मानं पश्यति स

ऋषि प्रणीत
भारतीय जीवन शैली व्यक्ति को ब्रह्म बनाने के लिए है। व्यक्ति, परिवार
समाज सभी को [illegible] आत्मोन्मुख बनाता है। यही जीवन शैली
विकसित [illegible]

आश्चर्यतुल्यो, यो वदति, यश्च शृणोति, सोऽनेकसहस्रेषु कश्चिदेव भवति। अतो दुर्बोध आत्मेत्यभिप्रायः॥२९॥

अथेदानीं प्रकरणार्थमुपसंहरन्ब्रूते—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे ज्ञान में रत रहने वाले अर्जुन! सभी के शरीर में यह शरीरी आत्मा अवध्य है। अतः सभी भूतों के विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए॥३०॥

देहीति। **देही** शरीरी **नित्यं** सर्वदा सर्वावस्थास्ववध्यो निरवयवत्वान्नित्यत्वाच्च तत्रा**वध्योऽयं देहे** शरीरे **सर्वस्य** सर्वगतत्वात्स्थावरादिषु स्थितोऽपि सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही न वध्यो यस्मात्तस्माद्भीष्मादीनि **सर्वाणि भूतान्युद्दिश्य न त्वं शोचितुमर्हसि**॥३०॥

इह परमार्थतत्त्वापेक्षायां शोको मोहो वा न संभवती-त्युक्तं, न केवलं परमार्थतत्त्वापेक्षायामेव; किंतु—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥

न केवल परमार्थ तत्त्व की अपेक्षा से शोक मोह नहीं करना चाहिए किन्तु स्वधर्म को देखकर भी तुझे इस प्रकार विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक साधन क्षत्रिय के लिए नहीं है॥३१॥

स्वधर्ममिति। **स्वधर्ममपि** स्वो धर्मः क्षत्रियस्य युद्धं तम-प्यवेक्ष्य **त्वं न विकम्पितुं** प्रचलितुं **नार्हसि**। स्वाभावि-काद्धर्मादात्मस्वाभाव्यादित्यभिप्रायः। तच्च युद्धं पृथिवीजयद्वारेण

धर्मार्थं प्रजारक्षणार्थं चेति धर्मादनपेतं परं धर्म्यं तस्माद्धर्म्या-द्युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते हि यस्मात्॥३१॥

कुतश्च तद्युद्धं कर्त्तव्यम्? इति। उच्यते—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

बिना चाहे यह युद्ध जो प्राप्त हो गया है यह खुले हुए स्वर्ग द्वार के समान है और हे पृथापुत्र अर्जुन! ऐसा युद्ध भाग्यशाली क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं, (जिन्हें ऐसा युद्ध प्राप्त हो गया वे क्यों नहीं सुखी माने जायेंगे)॥३२॥

यदृच्छयेति। यदृच्छया चाप्रार्थितयोपपन्नमागतं स्वर्ग-द्वारमपावृतमुद्घाटितं ये तदीदृशं युद्धं लभन्ते क्षत्रिया हे पार्थ! किं न सुखिनस्ते॥३२॥

एवं कर्तव्यताप्राप्तमपि—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

युद्ध कर्तव्यता प्राप्त है, फिर भी यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध को न करोगे तो स्वधर्म एवं कीर्ति का परित्याग कर पाप के भागी बनोगे॥३३॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संग्रामं युद्धं न करिष्यसि चेत्ततस्तदकरणात्स्वधर्मं कीर्तिं च महादेवा-दिसमागमादिनिमित्तां हित्वा केवलं पापमवाप्स्यसि॥३३॥

न केवलं स्वधर्मकीर्तिपरित्यागः—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥३४॥

(धर्मयुद्ध न करने पर क्षत्रिय को पाप लगता है। इतना ही नहीं,

सम्मानित - जनैः सम्यक् रूपेण मानितः ।

शिष्टपुरुषों द्वारा निन्दित भी है। अतः केवल स्वधर्म और कीर्ति का परित्याग ही नहीं, अपितु) तेरी दीर्घकालीन भावी अकीर्ति को भी लोग कहेंगे, जो संभावित पुरुष के लिए मरण से भी अधिक दुःखदायी मानी जाती है॥३४॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति ते तवाव्ययां दीर्घकालाम्। धर्मात्मा शूर इत्येवमादिभिर्गुणैः **संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते**। संभावितस्य चाकीर्तेर्वरं मरणमित्यर्थः॥३४॥

किंच—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

(इसलिए भी तुझे युद्ध करना ही चाहिए क्योंकि) दुर्योधनादि महारथ तुझे कर्णादि वीरों से भयभीत हो रण से भागा हुआ मानेंगे। जिन दुर्योधनादि की दृष्टि में तू अनेक गुणों से युक्त माना जाता था, अब उन्हीं की दृष्टि में तुम लघुता को प्राप्त हो जाओगे॥३५॥

भयादिति। **भयात्**कर्णादिभ्यो **रणाद्**युद्धा**दुपरतं** निवृत्तं **मंस्यन्ते** चिन्तयिष्यन्ति न कृपयेति **त्वां महारथा** दुर्योधनप्रभृतयः। **येषां च त्वं** दुर्योधनादीनां **बहुमतो** बहुभिर्गुणैर्युक्त इत्येवं बहुमतो **भूत्वा** पुन**र्यास्यसि लाघवं** लघुभावम्॥३५॥

किंच—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

(इसलिए भी तुझे युद्ध से उपरत नहीं होना चाहिए क्योंकि) तेरे शत्रु तेरी शक्ति की निन्दा करते हुए न कहने योग्य अनेक बातों को कहेंगे, उससे बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है॥३६॥

अवाच्यवादानिति। **अवाच्यवादान**वक्तव्यवादांश्च **बहू**ननेकप्रकारा**न्वदिष्यन्ति तवाहिताः** शत्रवो **निन्दन्तः** कुत्सयन्त**स्तव** त्वदीयं **सामर्थ्यं** निवातकवचादियुद्धनिमित्तम्। तस्मा**त्ततो** निन्दाप्राप्तेर्दुःखाद् **दुःखतरं नु किम्**? ततः कष्टतरं दुःखं नास्तीत्यर्थः॥३६॥

युद्धे पुनः क्रियमाणे कर्णादिभिः—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

कर्णादि वीरों के साथ युद्ध करने पर मरकर स्वर्ग प्राप्त करोगे अथवा उन्हें जीतकर पृथ्वी को भोगोगे। अतः हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! कृतनिश्चय हो युद्ध के लिए तुम खड़े हो जाओ॥३७॥

हतो वेति। **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं'** हतः सन्स्वर्गं प्राप्स्यसि **जित्वा वा** कर्णादीञ्शूरा**न्भोक्ष्यसे महीम्**। उभयथाऽपि तव लाभ एवेत्यभिप्रायः। यत एवं **तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयो** जेष्यामि शत्रून्मरिष्यामि वेति निश्चयं कृत्वेत्यर्थः॥३७॥

तत्र युद्धं स्वधर्म इत्येवं युध्यमानस्योपदेशमिमं शृणु—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

सुख और दुःख में राग-द्वेष न कर लाभ और हानि तथा जय और पराजय में भी वैसे ही समबुद्धि रहकर तत्पश्चात् स्वधर्म युद्ध के लिए प्रयत्न कर। ऐसा करने पर तू पाप को प्राप्त नहीं करेगा॥३८॥

सुखदुःखे इति। **सुखदुःखे समे** तुल्ये **कृत्वा**, रागद्वेषावकृत्वेत्येतत्। तथा **लाभालाभौ जयाजयौ** च समौ

कृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व घटस्व। नैवं युद्धं कुर्वन्पापमवाप्स्यसीत्येष उपदेशः प्रासङ्गिकः॥३८॥

शोकमोहापनयनाय लौकिको न्यायः 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, इत्याद्यैः श्लोकैरुक्तो, न तु तात्पर्येण। परमार्थदर्शनं त्विह प्रकृतं तच्चोक्तमुपसंह्रियत एषा तेऽभिहितेति शास्त्रविषयविभागप्रदर्शनाय। इह हि दर्शिते पुनः शास्त्रविषयविभाग उपरिष्टात् 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (गी. ३.३) इति निष्ठाद्वयविषयं शास्त्रं सुखं प्रवर्तिष्यते श्रोतारश्च विषयविभागेन सुखं ग्रहीष्यन्तीत्यत आह—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥

यह बुद्धि तेरे लिए सांख्य के विषय में अब तक बतलायी गयी, अब कर्मयोग और समाधियोग के सम्बन्ध में तू इसे सुन। हे पार्थ! जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू पुण्यपापात्मक कर्मबन्धन को सर्वथा छोड़ दोगे॥३९॥

एषा त इति। **एषा ते** तुभ्य**मभिहितो**क्ता **सांख्ये** परमार्थवस्तुविवेकविषये **बुद्धि**र्ज्ञानं साक्षाच्छोकमोहादिसंसारहेतुदोषनिवृत्तिकारणम्। **योगे तु** तत्प्राप्त्युपाये निःसङ्गतया द्वन्द्वप्रहाणपूर्वकमीश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे च**मा**मनन्तरमेवोच्यमानां बुद्धिं **शृणु**। तां बुद्धिं स्तौति प्ररोचनार्थं **बुद्ध्या यया** योगविषयया **युक्तो हे पार्थ! कर्मबन्धं** कर्मैव धर्माधर्माख्यो बन्धः कर्मबन्धस्तं **प्रहास्यसी**श्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्तेरित्यभिप्रायः॥३९॥

किंचान्यत्—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

(जिस प्रकार खेती आदि का काम थोड़ा करने से फल नहीं देता, पूरा करने पर ही फल मिलता है, कर्मयोग के विषय में वैसी बात नहीं है।) इसका प्रारम्भ अनैकान्तिक (संशययुक्त फल वाला) नहीं है (और चिकित्सा की भाँति) इसमें प्रत्यवाय नहीं है। इस कर्मयोग का थोड़ा भी अनुष्ठान जन्म मरणादिरूप संसार के महान् भय से (सम्यग्ज्ञान उत्पत्ति द्वारा) रक्षा करता है॥४०॥

नेहाभीति। **नेह** मोक्षमार्गे कर्मयोगे**ऽभिक्रमनाशो**ऽभिक्रमणमभिक्रमः प्रारम्भस्तस्य **नाशो नास्ति**। यथा कृष्यादेः योगविषये प्रारम्भस्य नानैकान्तिकफलत्वमित्यर्थः। किंच नापि चिकित्सावत्**प्रत्यवायो विद्यते**। किंतु भवति **स्वल्पमप्यस्य** योग**धर्मस्या**नुष्ठिते **त्रायते** रक्षति **महतः** संसार**भया**ज्जन्ममरणादिलक्षणात्॥४०॥

येयं सांख्ये बुद्धिरुक्ता योगे च वक्ष्यमाणलक्षणा, सा—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

(सांख्य के विषय में जो बुद्धि अब तक कही गयी और योग के सम्बन्ध में जो आगे कही जायेगी) वह कल्याणमार्ग कर्मयोग साधन में निश्चयात्मिका एक ही है। किन्तु हे कुरुवंश को आनन्दित करने वाले अर्जुन! अव्यवसायियों की बुद्धि अनेक शाखा वाली और अनन्त है॥४१॥

व्यवसायेति। **व्यवसायात्मिका** निश्चयस्वभावै**कै**व **बुद्धि**रितरविपरीतबुद्धिशाखाभेदस्य बाधिका सम्यक्प्रमाणजनितत्वा**दिह** श्रेयोमार्गे हे **कुरुनन्दन**! याः पुनरितरा बुद्धयो यासां शाखाभेदप्रचारवशादनन्तोऽपारोऽनुपरतः संसारो नित्यप्रततो

मोक्ष - परिस्थिति रहित जीवन - स्वरूपसिद्ध ज्ञान स्वरूप आनन्द स्वरूप इत्यादि।

विस्तीर्णो भवति, प्रमाणजनितविवेकबुद्धिनिमित्तवशाच्चोपरतास्वनन्तभेदबुद्धिषु संसारोऽप्युपरमते। ता बुद्धयो **बहुशाखा** बह्व्यः शाखा यासां ता बहुशाखाः बहुभेदा इत्येतत्। प्रतिशाखाभेदेन **ह्यनन्ताश्च बुद्धयः**। केषाम्? **अव्यवसायिनां** प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहितानामित्यर्थः॥४१॥

येषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नास्ति ते—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥४२॥

हे पार्थ! पुष्पित वृक्ष की भाँति केवल सुनने में रमणीय, (आगे कही जाने वाली) जिस वाणी को अविवेकी लोग बोलते हैं, वे (अनेक अर्थवाद, फल, एवं साधन के प्रकाशक) वेदवाक्यों में अनुरक्त हैं। स्वर्ग, पशु आदि फल के साधन कर्मों से भिन्न कोई साधन ही नहीं है, ऐसा बोलने वाले, (ईश्वर या मोक्ष के प्रति भी आस्था न रखने वाले, ये अज्ञानी जीव) हैं॥४२॥

यामिति। **यामिमां** वक्ष्यमाणां **पुष्पितां** पुष्पितवृक्ष इव शोभमानां श्रूयमाणरमणीयां **वाचं** वाक्यलक्षणां **प्रवदन्ति**। के? **अविपश्चितो**ऽल्पमेधसोऽविवेकिन इत्यर्थः। **वेदवादरता** बह्वर्थवादफलसाधनप्रकाशकेषु वेदवाक्येषु रता हे **पार्थ! नान्यत्**स्वर्गपश्वादिफलसाधनेभ्यः कर्मभ्यो**ऽस्तीत्येवंवादिनो** वदनशीलाः॥४२॥

ते च—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

ये भोगासक्त, स्वर्ग को श्रेष्ठ मानने वाले, जन्मरूप कर्मफल देने वाली, क्रियाविशेष से बहुल, स्वर्ग एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने वाली वाणी ही बोलते हैं॥४३॥

कामात्मान इति। **कामात्मानः** कामस्वभावाः कामपरा इत्यर्थः। **स्वर्गपराः** स्वर्गः परः पुरुषार्थो येषां ते स्वर्गपराः स्वर्गप्रधानाः **जन्मकर्मफलप्रदां** कर्मणः फलं कर्मफलं जन्मैव कर्मफलं जन्मकर्मफलं तत्प्रददातीति जन्मकर्मफलप्रदा तां वाचं प्रवदन्तीत्यनुषज्यते। **क्रियाविशेषबहुलां** क्रियाणां विशेषाः क्रियाविशेषास्ते बहुला यस्यां वाचि तां स्वर्गपशु-पुत्राद्यर्था यया वाचा बाहुल्येन प्रकाश्यन्ते। **भोगैश्वर्यगतिं प्रति** भोगश्चैश्वर्यं च भोगैश्वर्ये तयोर्गतिः प्राप्तिर्भोगैश्वर्य-गतिस्तां प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषास्तद्बहुलां तां वाचं प्रवदन्तो मूढाः संसारे परिवर्तन्त इत्यभिप्रायः ॥४३॥

तेषां च—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

पिछले श्लोक में बतलायी गयी पुष्पित वाणी से जिनका चित्त अपहृत हो गया है ऐसे भोग-ऐश्वर्य में सर्वथा आसक्त जीव के अन्तःकरण में सांख्य अथवा कर्मयोगविषयक व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी भी नहीं हो सकती॥४४॥

भोगेति। **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां** भोगः कर्तव्यमैश्वर्यं चेति भोगैश्वर्ययोरेव प्रणयवतां तदात्मभूतानां **तया** क्रियाविशेष-बहुलया वाचाऽ**पहृतचेतसा**माच्छादितविवेकप्रज्ञानां **व्यव-सायात्मिका** सांख्ये योगे वा **बुद्धिः** **समाधौ** समा-धीयतेऽस्मिन्पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणं बुद्धि-स्तस्मिन्समाधौ **न** **विधीयते** न भवतीत्यर्थः ॥४४॥

य एवं विवेकबुद्धिरहितास्तेषां कामात्मनां यत्फलं तदाह—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

(जो इस प्रकार विवेक बुद्धि से शून्य हैं उन भोग परायण अज्ञानियों के लिए) वेद के कर्मकाण्डभाग तीनों गुणों के कार्यरूप संसार विषय को ही बतलाते रहते हैं, अतः हे अर्जुन! तू निष्काम हो जा, सुख-दुःखादि द्वन्द्व से मुक्त, सदा सत्त्व गुण में स्थित, योग क्षेम की चिन्ता छोड़ और अप्रमत्त हो जा॥४५॥

त्रैगुण्येति। **त्रैगुण्यविषया**स्त्रैगुण्यो संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते **वेदा**स्त्रैगुण्यविषयास्त्वं तु **निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन** निष्कामो भवेत्यर्थः। **निर्द्वन्द्वः** सुखदुःखहेतू सप्रतिपक्षौ पदार्थौ द्वंद्वशब्दवाच्यौ ततो निर्गतो निर्द्वन्द्वो भव। त्वं **नित्यसत्त्वस्थः** सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव। तथा **निर्योगक्षेमो**ऽनुपात्तस्योपादानं योगः, उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः, योगक्षेमप्रधानस्य श्रेयसि प्रवृत्तिर्दुष्करेत्यतो निर्योगक्षेमो भव। **आत्मवान**प्रमत्तश्च भव। एष तवोपदेशः स्वधर्ममनुतिष्ठतः॥४५॥

सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यान्यनन्तानि फलानि तानि नापेक्ष्यन्ते चेत्किमर्थं तानीश्वरायेत्यनुष्ठीयन्त इति? उच्यते शृणु—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

छोटे-छोटे कूपादि जलाशयों से जितना स्नानादि प्रयोजन सिद्ध होता है वह सबका सब सभी ओर से परिपूर्ण जलाशय में अन्तर्भूत हो जाता है। ठीक इसी प्रकार वेदोक्त सभी कर्मों में जो भी प्रयोजन बतलाये गये हैं वे सबके सब परमार्थतत्त्वदर्शी संन्यासी में अन्तर्भूत हो जाते हैं॥४६॥

यावानिति। यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन्नुदपाने परि-

च्छिन्नोदके **यावान्यावत्परिमाणः** स्नानपानादि**रर्थः** फलं प्रयोजनं स सर्वोऽर्थः **सर्वतः संप्लुतोदके** तावानेव संपद्यते तत्रान्तर्भवतीत्यर्थः। एवं **तावांस्तावत्परिमाण** एव संपद्यते **सर्वेषु वेदेषु** वेदोक्तेषु कर्मसु योऽर्थो यत्कर्मफलम्। सोऽर्थो **ब्राह्मणस्य** संन्यासिनः परमार्थतत्त्वं **विजानतो** योऽर्थो विज्ञानफलं सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीयं, तस्मिंस्तावानेव संपद्यते तत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः। 'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाःसाधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद' (छा. ४.१.४) इति श्रुतेः। 'सर्वं कर्माखिलम्' (गी. ४.३३) इति च वक्ष्यति। तस्मात्प्राग्ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तेः कर्मण्यधिकृतेन कूपतडागाद्यर्थस्थानीयमपि कर्म कर्तव्यम्॥४६॥

तव च—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥

(जब श्रुति-स्मृति में साक्षात् मोक्ष का साधन ज्ञान ही कहा है तो फिर उसी का अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसी शङ्का मन में रखकर अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि) तेरा कर्म में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। वैसे ही कर्मफल का हेतु भी तू मत बन और कर्म के न करने में भी तेरी आसक्ति न हो॥४७॥

कर्मणीति। **कर्मण्येवाधिकारो** न ज्ञाननिष्ठायां **ते** तव। तत्र च कर्म कुर्वतो **मा फले**ष्वधिकारोऽस्तु कर्मफलतृष्णा माभूत्**कदाचन** कस्यांचिदप्यवस्थायामित्यर्थः। यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात्तदा कर्मफलप्राप्तेर्हेतुः स्याः, एवं **मा कर्मफलहेतुर्भूः**। यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते तदा कर्मफलस्यैव जन्मनो हेतुर्भवेत्। यदि कर्मफलं नेष्यते

किं कर्मणा दुःखरूपेणेति **मा ते** तव **सङ्गोऽस्त्वकर्मण्यकरणे** प्रीतिर्मा भूत्॥४७॥

यदि कर्मफलप्रयुक्तेन न कर्तव्यं कर्म कथं तर्हि कर्तव्यमित्युच्यते—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

हे धनंजय! आसक्ति को छोड़कर योग में स्थित हो सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्मों को कर। सिद्धि-असिद्धि में समान रहना ही योग कहा गया है॥४८॥

योगस्थ इति। **योगस्थः** सन्**कुरु कर्माणि** केवलमीश्वरार्थं, तत्रापीश्वरो मे तुष्यत्विति **सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।** फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्मणि सत्त्वशुद्धिजा ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिस्तद्विपर्ययजाऽसिद्धिस्तयोः **सिद्ध्यसिद्ध्यो**रपि **समस्**तुल्यो **भूत्वा** कुरु कर्माणि। कोऽसौ योगो यत्रस्थः कुर्वित्युक्तम्? इदमेव तत्सिद्ध्यसिद्ध्योः **समत्वं योग उच्यते**॥४८॥

यत्पुनः समत्वबुद्धियुक्तमीश्वराराधनार्थं कर्मैतस्मात्कर्मणः—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

हे धनंजय! (ज्ञान के साधन रूप) निष्कामकर्मयोग की अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ माना गया है (जो फलार्थी के द्वारा किया जाता है। अतः पूर्वोक्त सिद्धि-असिद्धि में समान रहना रूप) कर्मयोग अथवा उसके परिणाम स्वरूप सांख्य योग रूप बुद्धि की शरण में जा, क्योंकि फल चाहने वाले सदा दीन बने रहते हैं॥४९॥

दूरेणेति। **दूरेणा**तिविप्रकर्षेण **ह्यवरं** निकृष्टं **कर्म**

फलार्थिना क्रियमाणं **बुद्धियोगा**त्समत्वबुद्धियुक्तात्कर्मणो जन्ममरणादिहेतुत्वा**द्धनंजय**। यत एवं योगविषयायां **बुद्धौ** तत्परिपाकजायां वा सांख्यबुद्धौ **शरण**माश्रयमभयप्राप्तिकारण-**मन्विच्छ** प्रार्थयस्व परमार्थज्ञानशरणो भवेत्यर्थः। यतोऽवरं कर्म कुर्वाणाः **कृपणा** दीनाः **फलहेतवः** फलतृष्णाप्रयुक्ताः सन्तः। "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" (बृ. ३.८.१०) इति श्रुतेः॥४९॥

समत्वबुद्धियुक्तः सन्स्वधर्ममनुतिष्ठन्यत्फलं प्राप्नोति तच्छृणु—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

हे अर्जुन! समत्व बुद्धि युक्त पुरुष इसी लोक में (सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्ति द्वारा) पुण्य-पाप दोनों को त्याग देता है। अतः तू समत्व बुद्धि योग के लिए प्रयत्न कर। स्वधर्मनामक कर्म में संलग्न साधक का पूर्वोक्त रीति से सिद्धि और असिद्धि में ईश्वरार्पण बुद्धि से समान रहना ही कौशल है॥५०॥

बुद्धीति। **बुद्धियुक्तः** समत्वविषयया बुद्ध्या युक्तो बुद्धि-युक्तो **जहाति** परित्यजती**ह**ास्मिँल्लोक **उभे सुकृतदुष्कृते** पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यत**स्तस्मा**त्समत्वबुद्धि-**योगाय युज्यस्व** घटस्व। **योगो** हि **कर्मसु कौशलं** स्वधर्माख्येषु कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धि-रीश्वरार्पितचेतस्तया तत्कौशलं कुशलभावः। तद्धि कौशलं यद्बन्धस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावान्निवर्तन्ते। तस्मात्समत्वबुद्धियुक्तो भव त्वम्॥५०॥

यस्मात्—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

बुद्धियुक्त मनीषी पुरुष स्वधर्मरूप कर्म का अनुष्ठान करते हैं, उससे उत्पन्न देहप्रभेदरूप फल को छोड़कर जन्म-रूप बन्धन से मुक्त हुए, सभी संसारधर्म से शून्य, वैष्णव पद को प्राप्त करते हैं॥५१॥

कर्मजमिति। **कर्मजं फलं त्यक्त्वेति व्यवहितेन संबन्धः।** इष्टानिष्टदेहप्राप्तिः कर्मजं फलं कर्मभ्यो जातं **बुद्धियुक्ताः** समत्वबुद्धियुक्ता **हि** यस्मात्**फलं त्यक्त्वा** परित्यज्य **मनीषिणो** ज्ञानिनो भूत्वा **जन्मबन्धविनिर्मुक्ता** जन्मैव बन्धो जन्मबन्धस्तेन विनिर्मुक्ता जीवन्त एव जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः **पदं** परमं विष्णोर्मोक्षाख्यं **गच्छन्त्यनामयं** सर्वोपद्रवरहितमित्यर्थः। अथवा 'बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी. २. ४९) इत्यारभ्य परमार्थदर्शनलक्षणैव सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीया कर्मयोगजसत्त्वशुद्धिजनिता बुद्धिर्दर्शिता, साक्षात्सुकृतदुष्कृतप्रहाणादिहेतुत्वश्रवणात्॥५१॥

योगानुष्ठानजनितसत्त्वशुद्धिजा बुद्धिः कदा प्राप्यत इत्युच्यते—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

जब तेरी बुद्धि अविवेकात्मक अहंता ममता रूप कालुष्य को सर्वथा पार कर जायेगी तब आत्म याथात्म्य विवेक परिपाकावस्था में तत्त्वातत्त्व निर्णायकशास्त्रातिरिक्त श्रोतव्य और श्रुत सभी पदार्थों से तुम वैराग्य को प्राप्त कर जाओगे॥५२॥

यदेति। **यदा** यस्मिन्काले **ते** तव **मोहकलिलं** मोहात्मकमविवेकरूपं कालुष्यं येनाऽऽत्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रत्यन्तःकरणं प्रवर्तते तत्तव **बुद्धिर्व्यतितरिष्यति** व्यतिक्रमिष्यति शुद्धिभावमापत्स्यत इत्यर्थः। **तदा**

तस्मिन्काले **गन्तासि** प्राप्स्यसि **निर्वेदं** वैराग्यं **श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च**। तदा श्रोतव्यं श्रुतं च निष्फलं प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः ॥५२॥

मोहकलिलात्ययद्वारेण लब्धात्मविवेकजप्रज्ञः कदा कर्मयोगजं फलं परमार्थयोगमवाप्स्यामीति चेत्तच्छृणु—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

जब तेरी बुद्धि जो अब तक विभिन्न श्रुतियों के सुनने से विक्षिप्त हो गयी थी, वह विक्षेप रहित संशय-विपर्यय विकल्प शून्य हो आत्मयाथात्म्य में स्थिर हो जायेगी, तब तुम योग को प्राप्त कर जाओगे ॥५३॥

श्रुतिविप्रतिपन्नेति। **श्रुतिविप्रतिपन्ना**ऽनेकसाध्यसाधनसंबन्धप्रकाशनश्रुतिभिः श्रवणैर्विप्रतिपन्ना नानाप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपन्ना विक्षिप्ता सती **ते** तव बुद्धिर्**यदा** यस्मिन्काले **स्थास्यति** स्थिरीभूता भविष्यति **निश्चला** विक्षेपचलनवर्जिता सती **समाधौ** समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिरात्मा तस्मिन्नात्मनीत्येतत्। **अचला** तत्रापि विकल्पवर्जितेत्येतत्। **बुद्धि**रन्तःकरणं **तदा** तस्मिन्काले **योगमवाप्स्यसि** विवेकप्रज्ञां समाधिं प्राप्स्यसि ॥५३॥

प्रश्नबीजं प्रतिलभ्यार्जुन उवाच लब्धसमाधिप्रज्ञस्य लक्षणबुभुत्सया—

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

जिस संन्यासी को ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो चुकी है और जो परमात्मा

श्लोक 11 से 25 तक व 30 वें श्लोक में भगवान ने सांख्य बुद्धि बनाने के लिए उपदेश किया है

में सदा समाहित है, हे केशव! ऐसे पुरुष का लक्षण क्या है? स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?॥५४॥

स्थितप्रज्ञस्येति। स्थिता प्रतिष्ठिताऽहमस्मि परं ब्रह्मेति प्रज्ञा यस्य स **स्थितप्रज्ञस्तस्य का भाषा** किं भाषणं वचनं कथमसौ परैर्भाष्यते **समाधिस्थस्य** समाधौ स्थितस्य **केशव! स्थितधीः** स्थितप्रज्ञः स्वयं वा **किं प्रभाषेत। किमासीत व्रजेत किम्।** आसनं व्रजनं वा तस्य कथमित्यर्थः। स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमनेन श्लोकेन पृच्छति॥५४॥

यो ह्यादित एव संन्यस्य कर्माणि ज्ञानयोगनिष्ठायां प्रवृत्तो यश्च कर्मयोगेन(ण), तयोः स्थितप्रज्ञस्य प्रजहातीत्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तं स्थितप्रज्ञलक्षणं साधनं चोपदिश्यते। सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि, तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते, यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि साधनानि, लक्षणानि च भवन्ति तानि—

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥५५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा— हे पार्थ! जब मनोगत सम्पूर्ण कामनाओं को साधक सर्वथा छोड़ बैठता है और वह आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है तब आत्माराम संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥५५॥

प्रजहातीति। **प्रजहाति** प्रकर्षेण जहाति परित्यजति **यदा** यस्मिन्काले **सर्वान्**समस्तान्**कामान्**इच्छाभेदान्हे **पार्थ मनोगतान्**मनसि प्रविष्टान्हृदि प्रविष्टान्। सर्वकामपरित्यागे तुष्टिकारणाभावाच्छरीरधारणनिमित्तशेषे च सत्युन्मत्तप्रमत्तस्येव

प्रवृत्तिः प्राप्तेत्यत उच्यते—आत्मन्येव प्रत्यगात्मस्वरूप एवाऽऽत्मना **स्वेनैव** बाह्यलाभनिरपेक्षस्**तुष्टः** परमार्थ-दर्शनामृतरसलाभेनान्यस्मादलंप्रत्ययवान्स्थितप्रज्ञः स्थिता प्रति-ष्ठिताऽऽत्मानात्मविवेकजा प्रज्ञा यस्य स **स्थितप्रज्ञो** विद्वां-स्**तदोच्यते**। त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणः संन्यास्यात्माराम आत्म-क्रीडः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥५५॥

किंच—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

(आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) दुःखों के प्राप्त होने पर जिसका मन उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों की प्राप्ति में जिसकी स्पृहा बढ़ती नहीं है, ऐसा राग, भय और क्रोध से सर्वथा छूटा हुआ संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥५६॥

दुःखेष्विति। **दुःखेष्**वाध्यात्मिकादिषु प्राप्तेषु नोद्विग्नं न प्रक्षुभितं दुःखप्राप्तौ मनो यस्य सोऽयम**नुद्विग्नमनाः**। तथा **सुखेषु** प्राप्तेषु विगता स्पृहा तृष्णा यस्य नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने सुखान्यनुविवर्धन्ते स **विगतस्पृहः**। **वीतरागभयक्रोधो** रागश्च भयं च क्रोधश्च वीता विगता यस्मात्स वीतरागभयक्रोधः **स्थितधीः** स्थितप्रज्ञो **मुनिः** संन्यासी **तदोच्यते** ॥५६॥

किंच—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो जिज्ञासु साधक देहादि सभी वस्तुओं में अभिस्नेह (आसक्ति) नहीं रखता और प्रारब्धानुसार शुभवस्तु को प्राप्त कर हर्षित नहीं होता एवं अशुभ को प्राप्त कर द्वेष नहीं करता, उस साधक की प्रज्ञा स्थिर होती है ॥५७॥

यः सर्वत्रेति। **यो** मुनिः **सर्वत्र** देहजीवितादिष्वप्य**नभिस्नेहो**ऽभिस्नेहवर्जितस्**तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं** तत्तच्छुभमशुभं वा लब्ध्वा **नाभिनन्दति न द्वेष्टि** शुभं प्राप्य न तुष्यति न हृष्यत्यशुभं च प्राप्य न द्वेष्टीत्यर्थः। **तस्यैवं** हर्षविषादवर्जितस्य विवेकजा **प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** भवति॥५७॥

किंच—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेटता है वैसे ही जब ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त यति सभी प्रकार से इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है॥५८॥

यदा संहरत इति। **यदा संहरते** सम्यगुपसंहरते **चायं** ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो यतिः **कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशो** यथा कूर्मो भयात्स्वान्यङ्गान्युपसंहरति सर्वत एवं ज्ञाननिष्ठ **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः** सर्वविषयेभ्य उपसंहरते। **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्**युक्तार्थं वाक्यम्॥५८॥

तत्र विषयाननाहरत आतुरस्यापीन्द्रियाणि निवर्तन्ते कूर्माङ्गानीव संह्रियन्ते, न तु तद्विषयो रागः, स कथं संह्रियत इति। उच्यते—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

विषयों का आहरण न करने वाले (आतुर पुरुष की भी इन्द्रियाँ कछुये के अङ्गों की भाँति) विषयों से विमुख तो रहती हैं किन्तु उस विषय का राग नहीं मिटता है। पर इस तत्त्वज्ञानी का तो परमार्थतत्त्व का दर्शन हो जाने के कारण राग भी मिट जाता है॥५९॥

विषया इति। यद्यपि विषयोपलक्षितानि विषयशब्दवाच्यानीन्द्रियाण्यथवा **विषया एव निराहारस्याना**ह्रियमाणविषयस्य कष्टे तपसि स्थितस्य मूर्खस्यापि **विनिवर्तन्ते देहिनो** देहवतो **रसवर्जं** रसो रागो विषयेषु यस्तं वर्जयित्वा। रसशब्दो रागे प्रसिद्धः। स्वरसेन प्रवृत्तो रसिको रसज्ञ इत्यादिदर्शनात्। **सोऽपि रसो** रञ्जनरूपः सूक्ष्मो**ऽस्य** यतेः **परं** परमार्थतत्त्वं ब्रह्म **दृष्ट्वो**पलभ्याहमेव तदिति वर्तमानस्य **निवर्तते** निर्बीजं विषयविज्ञानं संपद्यत इत्यर्थः। नासति सम्यग्दर्शने रसस्योच्छेदः। तस्मात्सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥५९॥

सम्यग्दर्शनलक्षणप्रज्ञास्थैर्यं चिकीर्षताऽऽदाविन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितव्यानि यस्मात्तदनवस्थापने दोषमाह—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय! यत्नशील विवेकी पुरुष के भी विवेक विज्ञान युक्त मन को प्रमथनशील (विनाशकारी) इन्द्रियाँ हठात् विषयों की ओर ले जाती हैं ॥६०॥

यतत इति। **यततः** प्रयत्नं कुर्वतो**ऽपि हि** यस्मा**त्कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितो** मेधाविनोऽपीति व्यवहितेन संबन्धः। **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि** प्रमथनशीलानि विषयाभिमुखं हि पुरुषं विक्षोभयन्त्याकुलीकुर्वन्ति। आकुलीकृत्य च **हरन्ति प्रसभं** प्रसह्य प्रकाशमेव पश्यतो विवेकविज्ञानयुक्तं **मनः** ॥६०॥

यतस्तस्मात् —

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

उन इन्द्रियों को संयमित कर समाहित हो मेरे परायण होकर साधक बैठे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है॥६१॥

तानीति। **तानि सर्वाणि संयम्य** संयमनं वशीकरणं कृत्वा **युक्तः** समाहितः **सन्नासीत। मत्परो**ऽहं वासुदेवः सर्वप्रत्यगात्मा परो यस्य स मत्परो नान्योऽहं तस्मादित्यासीतेत्यर्थः। एवमासीनस्य **यतेर्वशे हि यस्येन्द्रियाणि** वर्तन्तेऽभ्यासबलात्तस्य **प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**॥६१॥

अथेदानीं पराभविष्यतः सर्वानर्थमूलमिदमुच्यते—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥

जब कोई मनुष्य रमणीय एवं सुख के साधनों की दृष्टि से विषयों का चिन्तन करता है तब उन विषयों में उसकी आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम (तृष्णा) उत्पन्न होता है और काम में किसी प्रतिबन्ध के आते ही क्रोध उत्पन्न हो जाता है॥६२॥

ध्यायत इति। **ध्यायत**श्चिन्तयतो **विषया**ञ्शब्दादिविषयविशेषानालोचयतः **पुंसः** पुरुषस्य **सङ्ग** आसक्तिः प्रीतिस्तेषु विषयेषू**पजायते। सङ्गा**त्प्रीतेः **संजायते** समुत्पद्यते **काम**स्तृष्णा। **कामा**त्कुतश्चित्प्रतिहतात्**क्रोधोऽभिजायते**॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

क्रोध से (कार्याकार्यविषयक अविवेकरूप) सम्मोह उत्पन्न होता है, सम्मोह से स्मृति नष्ट हो जाती है, स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से पुरुष सर्वथा नष्ट हो जाता है॥६३॥

क्रोधाद्भवति संमोहोऽविवेकः कार्याकार्यविषयः। क्रुद्धो हि संमूढः सन्गुरुमप्याक्रोशति। **संमोहात्स्मृतिविभ्रमः** शास्त्राचार्योपदेशाहितसंस्कारजनितायाः स्मृतेः स्याद्विभ्रमो भ्रंशः स्मृत्युत्पत्तिनिमित्तप्राप्तावनुत्पत्तिः। ततः **स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धेर्नाशः**। कार्याकार्यविषयविवेकायोग्यताऽन्तःकरणस्य बुद्धेर्नाश उच्यते। **बुद्धिनाशात्प्रणश्यति**। तावदेव हि पुरुषो यावदन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविषयविवेकयोग्यं तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवत्यतस्तस्यान्तःकरणस्य बुद्धेर्नाशात्प्रणश्यति पुरुषार्थायोग्यो भवतीत्यर्थः॥६३॥

सर्वानर्थस्य मूलमुक्तं विषयाभिध्यानमथेदानीं मोक्षकारणमिदमुच्यते—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा (जब देह स्थिति के कारण अवर्जनीय) विषयों का उपभोग करता है तब वह प्रसन्नता (स्वास्थ्य) को प्राप्त करता है॥६४॥

रागद्वेषेति। **रागद्वेषवियुक्तैः** रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ। तत्पुरःसरा हीन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी। तत्र यो मुमुक्षुर्भवति स ताभ्यां वियुक्तैः श्रोत्रादिभि**रिन्द्रियैर्विषयान**वर्जनीयांश्च**रन्नु**पलभमान **आत्मवश्यै**रात्मनो वश्यानिवशीभूतानि तैरात्मवश्यै**र्विधेयात्मे**च्छातो विधेय आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयं **प्रसादमधिगच्छति**। प्रसादः प्रसन्नता स्वास्थ्यम्॥६४॥

प्रसादे सति किं स्यादित्युच्यते—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

(अन्तःकरण की) स्वच्छता होने पर इस पुरुष के सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है; साथ ही, शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही सभी ओर से समाहित हो जाती है॥६५॥

प्रसाद इति। **प्रसादे सर्वदुःखाना**माध्यात्मिकादीनां **हानि**र्विनाशो**ऽस्य** यते**रुपजायते**। किंच **प्रसन्नचेतसः** स्वस्थान्तःकरणस्य **हि** यस्मा**दाशु** शीघ्रं **बुद्धिः पर्यवतिष्ठत** आकाशमिव परि समन्तादवतिष्ठत आत्मस्वरूपेणैव निश्चलीभवतीत्यर्थः। एवं प्रसन्नचेतसोऽवस्थितबुद्धेः कृतकृत्यता यतस्तस्माद्रागद्वेषवियुक्तैरिन्द्रियैः शास्त्राविरुद्धेष्ववर्जनीयेषु युक्तः समाचरेदिति वाक्यार्थः॥६५॥

सेयं प्रसन्नता स्तूयते—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

असमाहित अन्तःकरण वाले पुरुष की (संशयादिशून्य स्वरूपसाक्षात्कार-विषयक) बुद्धि नहीं होती है, उस असमाहित पुरुष की निदिध्यासनरूपा भावना भी नहीं होती है और भावना रहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती। फिर भला अशान्त पुरुष को सुख कहाँ से मिल सकेगा॥६६॥

नास्तीति। **नास्ति** न विद्यते न भवतीत्यर्थः। **बुद्धिरा**त्मस्वरूपविषया**ऽयुक्तस्या**समाहितान्तःकरणस्य। **न चा**स्त्य**युक्तस्य भावना**ऽऽत्मज्ञानाभिनिवेशः। तथा **न चा**स्त्य**भावयत** आत्मज्ञानाभिनिवेशमकुर्वतः **शान्ति**रुपशमः। **अशान्तस्य कुतः सुखम्**। इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो

निवृत्तिर्या तत्सुखं, न विषयविषया तृष्णा, दुःखमेव हि सा। न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रमप्युपपद्यत इत्यर्थः॥६६॥

अयुक्तस्य कस्माद्बुद्धिर्नास्तीत्युच्यते—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥

(इन्द्रियाँ प्रायशः रागद्वेषादिपूर्वक अपने-अपने विषयों में विचरती हैं, उनमें से) जिस इन्द्रिय के पीछे मन चलता रहता है उस स्थिति में वह मन उस साधक की बुद्धि को वैसे ही हर ले जाता है जैसे जल में चलने वाली नौका को हवा विपरीत दिशा में ले जाकर पटक देती है॥६७॥

इन्द्रियाणामिति। **इन्द्रियाणां हि** यस्मा**च्चरतां** स्व-स्वविषयेषु प्रवर्तमानानां **यन्मनोऽनुविधीयते**ऽनुप्रवर्तते तदिन्द्रियविषयविकल्पनेन प्रवृत्तं मनो**ऽस्य** यते**र्हरति प्रज्ञा**मात्मानात्मविवेकजां नाशयति। कथं, **वायुर्नावमिवाम्भ**स्युदके जिगमिषतां मार्गादुद्धृत्योन्मार्गे यथा वायुर्नावं प्रवर्तयत्येवमात्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा मनो विषयविषयां करोति॥६७॥

'यततो ह्यपि' (गी. २.६०) इत्युपन्यस्तस्यार्थस्यानेकधोपपत्तिमुक्त्वा तं चार्थमुपपाद्योपसंहरति —

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

अतः हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ सभी प्रकार से इन्द्रियों के विषयों से निगृहीत होती हैं उसी की प्रज्ञा स्थिर होती है॥६८॥

तस्मादिति। इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ दोष उपपादितो यस्मात्— **तस्माद्यस्य** यतेर्हे **महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः**

सर्वप्रकारैर्मानसादिभेदै**रिन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः** शब्दादिभ्य-**स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**॥६८॥

योऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः स उत्पन्नविवेकज्ञानस्य स्थितप्रज्ञस्याविद्याकार्यत्वादविद्यानिवृत्तौ निवर्तते। अविद्यायाश्च विद्याविरोधान्निवृत्तिरित्येतमर्थं स्फुटीकुर्वन्नाह—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

जो सम्पूर्ण भूतों के लिए परमार्थतत्त्व रात्रि के तुल्य है उसी में संयमी पुरुष जागता है और जिस अविद्यारूपी निशा में सर्व साधारण प्राणी जागते हैं वह तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ के लिए रात्रि के तुल्य है॥६९॥

या निशेति। **या निशा** रात्रिः सर्वपदार्थानामविवेककरी तमःस्वभावत्वात्सर्वेषां भूतानां **सर्वभूतानाम्**। किं तत्परमार्थतत्त्वं स्थितप्रज्ञस्य विषयः। यथा नक्तंचराणामहरेव सदन्येषां निशा भवति तद्वन्नक्तंचरस्थानीयानामज्ञानां सर्वभूतानां निशेव निशा परमार्थतत्त्वमगोचरत्वादतद्बुद्धीनाम्। **तस्यां** परमार्थतत्त्वलक्षणायामज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धो **जागर्ति संयमी** संयमवाञ्जितेन्द्रियो योगीत्यर्थः।

यस्यां ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणायामविद्यानिशायां प्रसुप्तान्येव **भूतानि जाग्रतीत्युच्यते** यस्यां निशायां प्रसुप्ता इव स्वप्नदृशः **सा निशा**ऽविद्यारूपत्वात्परमार्थतत्त्वं **पश्यतो मुनेः**। अतः कर्माण्यविद्यावस्थायामेव चोद्यन्ते न विद्यावस्थायाम्। विद्यायां हि सत्यामुदिते सवितरि शार्वरमिव तमः प्रणाशमुपगच्छत्यविद्या। प्राग्विद्योत्पत्तेरविद्या प्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणा क्रियाकारकफलभेदरूपा सती सर्वकर्महेतुत्वं प्रतिपद्यते। नाप्रमाण-

बुद्ध्या गृह्यमाणायाः कर्महेतुत्वोपपत्तिः। प्रमाणभूतेन वेदेन मम चोदितं कर्तव्यं कर्मेति हि कर्मणि कर्त्ता प्रवर्तते नाविद्यामात्रमिदं सर्वं निशेवेति।

यस्य पुनर्निशेवाविद्यामात्रमिदं सर्वं भेदजातमिति ज्ञानं तस्याऽऽत्मज्ञस्य सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारो न प्रवृत्तौ। तथा च दर्शयिष्यति—'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' (गी. ५.१७) इत्यादिना ज्ञाननिष्ठायामेव तस्याधिकारम्। तत्रापि प्रवर्तकप्रमाणाभावे प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत्, न। स्वात्मविषयत्वादात्मज्ञानस्य। न ह्यात्मनः स्वात्मनि प्रवर्तकप्रमाणापेक्षताऽऽत्मत्वादेव तदन्तत्वाच्च सर्वप्रमाणानां प्रमाणत्वस्य। न ह्यात्मस्वरूपाधिगमे सति पुनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः संभवति। प्रमातृत्वं ह्यात्मनो निवर्तयत्यन्त्यं प्रमाणम्। निवर्तयदेव चाप्रमाणीभवति स्वप्नकालप्रमाणमिव प्रबोधे। लोके च वस्त्वधिगमे प्रवृत्तिहेतुत्वादर्शनात्प्रमाणस्य। तस्मान्नाऽऽत्मविदः कर्मण्यधिकार इति सिद्धम्॥६९॥

विदुषस्त्यक्तैषणस्य स्थितप्रज्ञस्य यतेरेव मोक्षप्राप्तिर्न त्वसंन्यासिनः कामकामिन इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयिष्यन्नाह—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

जैसे सभी ओर से परिपूर्ण-जल और अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में सभी ओर से जल प्रवेश करते हैं फिर भी वह अक्षुब्ध, स्वस्थ ही रहता है, वैसे ही स्वात्माराम संन्यासी में सभी ओर से भोग प्रवेश करते हैं फिर भी वह अक्षुब्ध और स्वस्थ रहता है। ऐसा संन्यासी

आत्मज्ञानी ही शान्ति को प्राप्त करता है, भोगों के पीछे भागने वाला ऐसी शान्ति प्राप्त नहीं करता ॥ ७० ॥

आपूर्येति। **आपूर्यमाणमद्भिरचलप्रतिष्ठमचलतया** प्रतिष्ठाऽवस्थितिर्यस्य **तमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः** सर्वतो गताः **प्रविशन्ति** स्वात्मस्थमविक्रियमेव सन्तं **यद्वत्तद्वत्कामा** विषयसंनिधावपि सर्वत इच्छाविशेषा **यं** पुरुषं समुद्रमिवाऽऽपोऽविकुर्वन्तः **प्रविशन्ति सर्वे** आत्मन्येव प्रलीयन्ते न स्वात्मवशं कुर्वन्ति, **स शान्तिं** मोक्षमाप्नोति **नेतरः कामकामी** काम्यन्त इति कामा विषयास्तान्कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी नैव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भोगों को छोड़कर स्पृहा, ममता और अहंकार से शून्य हो व्यवहार करता है वह स्थितप्रज्ञ पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

विहायेति। **विहाय** परित्यज्य **कामान्यः** संन्यासी **पुमान्सर्वानशेषतः** कार्त्स्न्येन **चरति** जीवनमात्रचेष्टाशेषः पर्यटतीत्यर्थः। **निःस्पृहः** शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः सन्निर्ममः शरीरजीवनमात्राक्षिप्तपरिग्रहेऽपि ममेदमित्यभिनिवेशवर्जितः, **निरहंकारो** विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसंभावनारहित इत्यर्थः। **स** एवंभूतः स्थितप्रज्ञो ब्रह्मविच्छान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणां निर्वाणाख्या**मधिगच्छति** प्राप्नोति ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

सैषा ज्ञाननिष्ठा स्तूयते—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

आदितः श्लो. ११९

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! यथोक्त स्थिति ब्रह्म को प्राप्त किये हुए पुरुष की है, इस स्थिति को प्राप्त कर वह मोहित नहीं होता है। जीवन के अन्तकाल में भी इस स्थिति को प्राप्त कर लेने वाला ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता ही है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा सांख्ययोग नामक द्वितीयाध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥२॥

एषा ब्राह्मीति। **एषा** यथोक्ता **ब्राह्मी** ब्रह्मणि भवेयं **स्थितिः** सर्वं कर्म संन्यस्य ब्रह्मरूपेणैवावस्थानमित्येतत्। हे **पार्थ नैनां** स्थितिं **प्राप्य** लब्ध्वा न **विमुह्यति** न मोहं प्राप्नोति। **स्थित्वाऽस्यां** स्थितौ ब्राह्म्यां यथोक्ताया**मन्तकालेऽ**प्यन्ते वयस्यपि **ब्रह्मनिर्वाणं** ब्रह्मनिर्वृतिं मोक्ष**मृच्छति** गच्छति, किमु वक्तव्यं ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य यावज्जीवं यो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीति॥७२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

द्वितीयाह्निकम्॥२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ तृतीयोऽध्यायः

शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूते द्वे बुद्धी भगवता निर्दिष्टे सांख्ये बुद्धिर्योगे बुद्धिरिति च। तत्र 'प्रजहाति यदा कामान्' (गी. २.५५) इत्यारभ्याऽऽध्यायपरिसमाप्तेः सांख्यबुद्ध्याश्रितानां संन्यासं कर्तव्यमुक्त्वा तेषां तन्निष्ठतयैव च कृतार्थतोक्ता— 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' (गी. २.७२) इति। अर्जुनाय च 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गी. २.४७) 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इति कर्मैव कर्तव्यमुक्तवान्योगबुद्धिमाश्रित्य, न तत एव श्रेयःप्राप्तिमुक्तवान्।

तदेतदालक्ष्य पर्याकुलीभूतबुद्धिरर्जुन उवाच। कथं भक्ताय श्रेयोऽर्थिने यत्साक्षाच्छ्रेयःसाधनं सांख्यबुद्धिनिष्ठां श्रावयित्वा मां कर्मणि दृष्टानेकानर्थयुक्ते पारम्पर्येणाप्यनैकान्तिकश्रेयःप्राप्तिफले नियुञ्ज्यादिति युक्तः पर्याकुलीभावोऽर्जुनस्य। तदनुरूपश्च प्रश्नो ज्यायसी चेदित्यादिः। प्रश्नापाकरणवाक्यं च भगवतोक्तं यथोक्तविभागविषये शास्त्रे।

केचित्त्वर्जुनस्य प्रश्नार्थमन्यथा कल्पयित्वा तत्प्रतिकूलं भगवतः प्रतिवचनं वर्णयन्ति, यथा चाऽऽत्मना संबन्धग्रन्थे गीतार्थो निरूपितस्तत्प्रतिकूलं चेह पुनः प्रश्नप्रतिवचनयोरर्थं निरूपयन्ति। कथं? तत्र संबन्धग्रन्थे तावत्सर्वेषामाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो गीताशास्त्रे निरूपितोऽर्थ इत्युक्तं, पुनर्विशेषितं च यावज्जीवश्रुतिचोदितानि कर्माणि परित्यज्य केवलादेव ज्ञाना-

कर्मयोग में भक्तों की प्रधानता है। अथवा भक्ति ही कर्मयोग है। भाव पर दृष्टि हो तो भक्तियोग कर्म पर दृष्टि हो तो कर्मयोग।

न्मोक्षः प्राप्यत इत्येतदेकान्तेनैव प्रतिषिद्धमिति, इह त्वाश्रमविकल्पं दर्शयता यावज्जीवश्रुतिचोदितानामेव कर्मणां परित्याग उक्तः, तत्कथमीदृशं विरुद्धमर्थमर्जुनाय ब्रूयाद्भगवान्, श्रोता वा कथं विरुद्धमर्थमवधारयेत्।

तत्रैतत्स्याद्गृहस्थानामेव श्रौतकर्मपरित्यागेन केवलादेव ज्ञानान्मोक्षः प्रतिषिध्यते न त्वाश्रमान्तराणामित्येतदपि पूर्वोत्तरविरुद्धमेव। कथं, सर्वाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो गीताशास्त्रे निश्चितोऽर्थ इति प्रतिज्ञायेह कथं तद्विरुद्धं केवलादेव ज्ञानान्मोक्षं ब्रूयादाश्रमान्तराणाम्। अथ मतं श्रौतकर्मापेक्षयैतद्वचनं केवलादेव ज्ञानाच्छ्रौतकर्मरहितादगृहस्थानां मोक्षः प्रतिषिध्यत इति।

तत्र गृहस्थानां विद्यमानमपि स्मार्तं कर्माविद्यमानवदुपेक्ष्य ज्ञानादेव केवलान्नमोक्षेत्युच्यत इति। एतदपि विरुद्धम्। कथं, गृहस्थस्यैव स्मार्तकर्मणा समुच्चिताज्ज्ञानान्मोक्षः प्रतिषिध्यते न त्वाश्रमान्तराणामिति कथं विवेकिभिः शक्यमवधारयितुम्।

किंच यदि मोक्षसाधनत्वेन स्मार्तानि कर्माण्यूर्ध्वरेतसां समुच्चीयन्ते तथा गृहस्थस्यापीष्यतां स्मार्तैरेव समुच्चयो न श्रौतैः। अथ श्रौतैः स्मार्तैश्च गृहस्थस्येव समुच्चयो मोक्षायोर्ध्वरेतसां तु स्मार्तकर्ममात्रसमुच्चिताज्ज्ञानान्मोक्ष इति। तत्रैवं सति गृहस्थस्याऽऽयासबाहुल्याच्छ्रौतं स्मार्तं च बहुदुःखरूपं कर्म शिरस्यारोपितं स्यात्।

अथ गृहस्थस्यैवाऽऽयासबाहुल्यकारणान्मोक्षः स्यान्नाऽऽश्रमान्तराणं, श्रौतनित्यकर्मरहितत्वादिति। तदप्यसत्। सर्वोपनिषत्स्वितिहासपुराणयोगशास्त्रेषु च ज्ञानाङ्गत्वेन मुमुक्षोः सर्वकर्मसंन्यासविधानादाश्रमविकल्पसमुच्चयविधानाच्च श्रुतिस्मृतियोः।

“इतः कोन्वास्ति विमूढ़ात्मा यो स्वानुस्वार्थे प्रमाद्यति”

सिद्धस्तर्हि सर्वाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः। न। मुमुक्षोः सर्वकर्मसंन्यासविधानात्। ''व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'' (बृ. ३.५.१) ''तस्मात्संन्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः'' (म. ना. २४.१) ''न्यास एवात्यरेचयत्'' (म. ना. २१.२) इति ''न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'' (म.ना. १०.५) इति च। ''ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'' (जा. उ. ४) इत्याद्याः।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥
(महा. शान्ति. ३२९-४०)

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः॥ (ना. पु. ३.१५)

इति बृहस्पतिरपि कचं प्रति।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥
(महा. शान्ति. २४१.७) इति शुकानुशासनम्।

इहापि 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' (गी. ५.१३) इत्यादि। मोक्षस्य चाकार्यत्वान्मुमुक्षोः कर्मानर्थक्यम्।

नित्यानि प्रत्यवायपरिहारार्थमनुष्ठेयानीति चेत्, न, असंन्यासिविषयत्वात्प्रत्यवायप्राप्तेः। न ह्यग्निकार्याद्यकरणात्संन्यासिनः प्रत्यवायः कल्पयितुं शक्यो, यथा ब्रह्मचारिणामसंन्यासिनामपि कर्मिणाम्। न तावन्नित्यानां कर्मणामभावादेव भावरूपस्य प्रत्यवायस्योत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या, 'कथमसतः सज्जायेत' (छा. ६.२.२) इत्यसतः सज्जन्मासंभवश्रुतेः।

यदि विहिताकरणादसंभाव्यमपि प्रत्यवायं ब्रूयाद्वेदस्त-

दाऽनर्थकरो वेदोऽप्रमाणमित्युक्तं स्यात्। विहितस्य करणाकरणयोर्दुःखमात्रफलत्वात्। तथा च कारकं शास्त्रं न ज्ञापकमित्यनुपपन्नार्थं कल्पितं स्यात्। न चैतदिष्टम्। तस्मान्न संन्यासिनां कर्माण्यतो ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः। 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इत्यर्जुनस्य प्रश्नानुपपत्तेश्च।

यदि हि भगवता द्वितीयेऽध्याये ज्ञानं कर्म च समुच्चयेन त्वयानुष्ठेयमित्युक्तं स्यात्ततोऽर्जुनस्य प्रश्नोऽनुपपन्नो 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इति। अर्जुनाय चेद्बुद्धिकर्मणी त्वयाऽनुष्ठेये इत्युक्ते या कर्मणो ज्यायसी बुद्धिः साऽप्युक्तैवेति 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव' (गी. ३.१) इत्युपालम्भो वा प्रश्नो वा न कथंचनोपपद्यते। न चार्जुनस्यैव ज्यायसी बुद्धिर्नानुष्ठेयेति भगवतोक्तं पूर्वमिति कल्पयितुं युक्तं, येन 'ज्यायसी चेत्'इति प्रश्नः स्यात्।

यदि पुनरेकस्य पुरुषस्य ज्ञानकर्मणोर्विरोधाद्युगपदनुष्ठानं न संभवतीति भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वं भगवता पूर्वमुक्तं स्यात्ततोऽयं प्रश्न उपपन्नो ज्यायसी चेदित्यादिः। अविवेकतः प्रश्नकल्पनायामपि भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन भगवतः प्रतिवचनं नोपपद्यते। न चाज्ञाननिमित्तं भगवत्प्रतिवचनं कल्प्यम्। अस्माच्च भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भगवतः प्रतिवचनदर्शनाज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः। तस्मात्केवलादेव ज्ञानान्मोक्ष इत्येषोऽर्थो निश्चितो गीतासु सर्वोपनिषत्सु च। ज्ञानकर्मणोरेकं वद निश्चित्येति चैकविषयैव प्रार्थनाऽनुपपन्नोभयोः समुच्चयसंभवे। 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (गी. ४.१५) इति च ज्ञाननिष्ठासंभवमर्जुनस्यावधारणेन दर्शयिष्यति।

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥

अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन! यदि कर्म से बुद्धि-योग श्रेष्ठ आपको मान्य है, तो हे केशव! आप मुझे घोर हिंसात्मक कर्म में क्यों लगा रहे हैं॥१॥

ज्यायसी चेदिति। **ज्यायसी** श्रेयसी **चे**द्यदि **कर्मणः** सकाशा**त्ते** तव **मता**ऽभिप्रेता **बुद्धि**र्ज्ञानं हे **जनार्दन** यदि बुद्धिकर्मणी समुच्चिते इष्टे तदैकं श्रेयःसाधनमिति कर्मणो ज्यायसी बुद्धिरिति कर्मणोऽतिरिक्तकरणं बुद्धेरनुपपन्नमर्जुनेन कृतं स्यान्न हि तदेव तस्मात्फलतोऽतिरिक्तं स्यात्। तथा कर्मणः श्रेयस्करी भगवतोक्ता बुद्धिरश्रेयस्करं च कर्म कुर्विति मां प्रतिपादयति, तत्किं नु कारणमिति भगवत उपालम्भमिव कुर्वं**स्तत्किं** कस्मा**त्कर्मणि घोरे** क्रूरे हिंसालक्षणे **मां नि-योजयसि केशवे**ति च यदाह तच्च नोपपद्यते। अथ स्मार्तेनैव कर्मणा समुच्चयः सर्वेषां भगवतोक्तोऽर्जुनेन चावधारितश्चेत्त-त्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसीत्यादि कथं युक्तं वचनम्॥१॥

किंच—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥२॥

मिले हुए वाक्य के जैसे मुझे मोह में डालते हुए की भाँति जान पड़ते हैं, इसलिए एक साधन निश्चय कर आप कहें जिस साधन से मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ॥२॥

व्यामिश्रेणेति। **व्यामिश्रेणेव** मिलितमिव यद्यपि विवि-

क्ताभिधायी भगवांस्तथाऽपि मम मन्दबुद्धेर्व्यामिश्रमिव भगवद्वाक्यं प्रतिभाति। तेन मम **बुद्धिं मोहयसीव**। मम बुद्धिव्यामोहापनयाय हि प्रवृत्तस्त्वं तु कथं मोहयस्यतो ब्रवीमि बुद्धिं मोहयसीव **मे** ममेति। त्वं तु भिन्नकर्तृकयोर्ज्ञानकर्मणोरेकपुरुषानुष्ठानासंभवं यदि मन्यसे तत्रैवं सति **तत्तयोरेकं** बुद्धिं कर्म वेदमेवार्जुनस्य योग्यं बुद्धिशक्त्यवस्थानुरूपमिति **निश्चित्य वद** ब्रूहि। **येन** ज्ञानेन कर्मणा वाऽन्यतरेण **श्रेयोऽहमाप्नुयां** प्राप्नुयाम्। यदि हि कर्मनिष्ठायां गुणभूतमपि ज्ञानं भगवतोक्तं स्यात्तत्कथं तयोरेकं वदेत्येकविषयैवार्जुनस्य शुश्रूषा स्यात्। न हि भगवतोक्तमन्यतरदेव ज्ञानकर्मणोर्वक्ष्यामि नैव द्वयमिति, येनोभयप्राप्त्यसंभवमात्मनो मन्यमान एकमेव प्रार्थयेत्॥२॥

प्रश्नानुरूपमेव प्रतिवचनम्—

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि हे निष्पाप अर्जुन! मैंने इस कर्मप्रधान मनुष्यलोक में पहले दो प्रकार की निष्ठा कही है, उनमें से सांख्यों की निष्ठा ज्ञानयोग के द्वारा और योगियों की निष्ठा कर्मयोग के द्वारा बतलायी है॥३॥

लोकेऽस्मिन्निति। **लोकेऽस्मिञ्**शास्त्रानुष्ठानाधिकृतानां त्रैवर्णिकानां **द्विविधा** द्विप्रकारा **निष्ठा** स्थितिरनुष्ठेयतात्पर्यं **पुरा** पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थसंप्रदायमाविष्कुर्वता **प्रोक्ता मया** सर्वज्ञेनेश्वरेण **हेऽनघ**! अपाप!

का सा द्विविधा निष्ठेत्याह—ज्ञानेति। तत्र **ज्ञानयोगेन**

ज्ञानमेव योगस्तेन **सांख्यानामा**त्मानात्मविषयविवेकज्ञानवतां ब्रह्मचर्याश्रमादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मण्येवावस्थितानां निष्ठा प्रोक्ता, कर्मयोगेन कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन **कर्मयोगेन योगिनां** कर्मिणां निष्ठा प्रोक्तेत्यर्थः। यदि चैकेन पुरुषेणैकस्मै पुरुषार्थाय ज्ञानं कर्म च समुच्चित्यानुष्ठेयं भगवतेष्टमुक्तं वक्ष्यमाणं वा गीतासु वेदेषु चोक्तं, कथमिहार्जुनायोपसन्नाय प्रियाय विशिष्टभिन्नपुरुषकर्तृके एव ज्ञानकर्मनिष्ठे ब्रूयात्। यदि पुनरर्जुनो ज्ञानं कर्म च द्वयं श्रुत्वा स्वयमेवानुष्ठास्यत्यन्येषां तु भिन्नपुरुषानुष्ठेयतां वक्ष्यामीति मतं भगवतः कल्प्येत, तदा रागद्वेषवानप्रमाणभूतो भगवान्कल्पितः स्यात्। तच्चायुक्तम्। तस्मात्कयाऽपि युक्त्या न समुच्चयो ज्ञानकर्मणोः। यदर्जुनेनोक्तं कर्मणो ज्यायस्त्वं बुद्धेस्तच्च स्थितमनिराकरणात्। तस्याश्च ज्ञाननिष्ठायाः संन्यासिनामेवानुष्ठेयत्वं भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्ववचनाच्च भगवत एवमेवानुमतमिति गम्यते॥३॥

मां च बन्धकारणे कर्मण्येव नियोजयसीति विषण्णमनसमर्जुनं कर्म नाऽऽरभ इत्येवं मन्वानमालक्ष्याऽऽह भगवान्— न कर्मणामनारम्भादिति। अथवा ज्ञानकर्मनिष्ठयोः परस्परविरोधादेकेन पुरुषेण युगपदनुष्ठातुमशक्यत्वे सतीतरेतरानपेक्षयोरेव पुरुषार्थहेतुत्वे प्राप्ते कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं न स्वातन्त्र्येण, ज्ञाननिष्ठा तु कर्मनिष्ठोपायलब्धात्मिका सती स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुरन्यानपेक्षेत्येतमर्थं प्रदर्शयिष्यन्नाह भगवान्—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥

शास्त्र विहित यागादिक्रिया का अनुष्ठान किये बिना कोई भी साधक कर्मशून्यतारूप नैष्कर्म्य को अर्थात् निष्क्रिय आत्मस्वरूपेण अवस्थानरूप निष्ठा को प्राप्त नहीं करता। तथा केवल कर्म के परित्याग मात्र से ज्ञानयोग के द्वारा प्राप्त होने वाली नैष्कर्म्यसिद्धिरूप स्थिति को कोई भी साधक प्राप्त नहीं करता॥४॥

न कर्मणामनारम्भादप्रारम्भात्कर्मणां क्रियाणां यज्ञादीनामिह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽनुष्ठितानामुपात्तदुरित-क्षयहेतुत्वेन सत्त्वशुद्धिकारणानां तत्कारणत्वेन च ज्ञानोत्पत्ति-द्वारेण ज्ञाननिष्ठाहेतूनाम्—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥(महा. शान्ति. २०४.८)

इत्यादिस्मरणादनारम्भादननुष्ठाना**न्नैष्कर्म्यं** निष्कर्मभावं कर्मशून्यतां ज्ञानयोगेन निष्ठां निष्क्रियात्मस्वरूपेणैवावस्थान-मिति यावत्, **पुरुषो नाश्नुते** न प्राप्नोतीत्यर्थः।

कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं नाश्नुत इति वचनात्तद्विपर्य-यात्तेषामारम्भान्नैष्कर्म्यमश्नुत इति गम्यते। कस्मात्पुनः कारणा-त्कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं नाश्नुत इति। उच्यते, कर्मारम्भस्यैव नैष्कर्म्योपायत्वात्। न ह्युपायमन्तरेणोपेयप्राप्तिरस्ति। कर्म-योगोपायत्वं च नैष्कर्म्यलक्षणस्य ज्ञानयोगस्य श्रुताविह च प्रतिपादनात्। श्रुतौ तावत्प्रकृतस्याऽऽत्मलोकस्य वेद्यस्य वेदनो-पायत्वेन "तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृ. ४.४.२२) इत्यादिना कर्मयोगस्य ज्ञानयोगोपायत्वं प्रति-पादितम्। इहापि च—

"संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः"। (गी. ५.६)

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये"। (गी. ५.११)

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (गी. १८.५)

इत्यादि प्रतिपादयिष्यति। ननु च—'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' (मै. ६.८) इत्यादौ कर्तव्यकर्मसंन्यासादपि नैष्कर्म्यप्राप्तिं दर्शयति, लोके च कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यमिति प्रसिद्धतरमतश्च नैष्कर्म्यार्थिनः किं कर्मारम्भेणेति प्राप्तमत आह-**न च संन्यसनादेवे**ति। नापि संन्यसनादेव केवलात्कर्मपरित्यागमात्रादेव ज्ञानरहिता**त्सिद्धिं** नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञानयोगेन निष्ठां **समधिगच्छति** न प्राप्नोति॥४॥

कस्मात्पुनः कारणात्कर्मसंन्यासमात्रादेव ज्ञानरहितात्सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां पुरुषो नाधिगच्छतीति हेत्वाकाङ्क्षायामाह—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥

कोई भी पुरुष बिना कर्म किये कभी एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तमोगुण से परवश हुए सभी अज्ञानी जीवों द्वारा कर्म कराया जाता है॥५॥

न हीति। **न हि** यस्मात्क्षणमपि कालं **जातु** कदाचित्क**श्चित्तिष्ठत्यकर्मकृ**त्सन्। कस्मात्**कार्यते हि** यस्मा**दवश** एव **कर्म सर्वः** प्राणी **प्रकृतिजैः** प्रकृतितो जातैः सत्त्वरजस्तमोभि**र्गुणैः**। अज्ञ इति वाक्यशेषो यतो वक्ष्यति—'गुणैर्यो न विचाल्यते' (गी. १४.२३) इति। सांख्यानां पृथक्करणादज्ञानामेव हि कर्मयोगो न ज्ञानिनाम्।

ज्ञानिनां तु गुणैरचाल्यमानानां स्वतश्चलनाभावात्कर्मयोगो नोपपद्यते। तथा च व्याख्यातं वेदाविनाशिनमित्यत्र॥५॥

यस्त्वनात्मज्ञश्चोदितं कर्म नाऽऽरभत इति तदसदेवेत्याह—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥६॥

जो हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है वह मूढ़बुद्धि है और वह मिथ्याचारी कहा जाता है॥६॥

कर्मेन्द्रियाणीति। **कर्मेन्द्रियाणि** हस्तादीनि **संयम्य** संहृत्य **य आस्ते** तिष्ठति **मनसा स्मरंश्चिन्तयन्निन्द्रियार्थान्**विषयान्**विमूढात्मा** विमूढान्तःकरणो **मिथ्याचारो** मृषाचारः पापाचारः **स उच्यते**॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७॥

इसके विपरीत जो कर्म में अधिकृत अज्ञानी पुरुष ज्ञानेन्द्रियों को मन से नियमन कर वागादि कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त हो कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वह पूर्वोक्त मिथ्याचारी से कहीं श्रेष्ठ है॥७॥

यस्त्विति। यस्तु पुनः कर्मण्यधिकृतोऽज्ञो **बुद्धीन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन कर्मेन्द्रियैर्**वाक्पाण्यादिभिः। किमारभत इत्याह—**कर्मयोगमसक्तः** सन्**स विशिष्यत** इतरस्मान्मिथ्याचारात्॥७॥

यत एवमतः—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥

कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन!

तू नियत कर्म कर क्योंकि कर्म न करने से तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकेगी॥८॥

नियतमिति। **नियतं** नित्यं यो यस्मिन्कर्मण्यधिकृतः फलाय चाश्रुतं तन्नियतं **कर्म तत्कुरु त्वं** हेऽर्जुन। यतः **कर्म ज्यायोऽ**धिकतरं फलतो **हि** यस्मा**दकर्मणोऽ**करणादनारम्भात्। कथं **शरीरयात्रा** शरीरस्थिति**रपि च ते** तव **न प्रसिद्ध्येत्**प्रसिद्धिं न गच्छे**दकर्मणो**ऽकरणात्। अतो दृष्टः कर्माकर्मणोर्विशेषो लोके॥८॥

यच्च मन्यसे बन्धार्थत्वात्कर्म न कर्तव्यमिति तदप्यसत्। **कथम्**—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥९॥

(यदि तू समझते हो कि बन्धन कारक होने से कर्म नहीं करना चाहिए तो ऐसा समझना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि) यज्ञार्थ कर्म से भिन्न कर्म लोक में बन्धन कारक माना गया है। अतः हे अर्जुन! तू आसक्ति का परित्याग कर यज्ञार्थ कर्म का भली प्रकार से अनुष्ठान कर॥९॥

यज्ञार्थादिति। "यज्ञो वै विष्णुः" (तै. सं. १.७.४) इति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वरस्तदर्थं यत्क्रियते तद्यज्ञार्थं कर्म, तस्मात्**कर्मणो**ऽन्यत्रान्येन कर्मणा **लोकोऽयम**धिकृतः कर्मकृत्**कर्मबन्धनः** कर्म बन्धनं यस्य सोऽयं कर्मबन्धनो लोको न तु **यज्ञार्थादतस्तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः** कर्मफलसङ्गवर्जितः सन्**समाचर** निर्वर्तय॥९॥

इतश्चाधिकृतेन कर्म कर्तव्यम्—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

(नैमित्तिक कर्म के सहित नित्य कर्म का अनुष्ठान अधिकारी को इसलिए भी करना चाहिए क्योंकि) सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने यज्ञ के सहित प्रजा की सृष्टिकर कहा था कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम्हें अभीष्ट फल देने वाला होगा॥१०॥

सहेति। सहयज्ञा यज्ञसहिताः प्रजास्त्रयो वर्णास्ताः सृष्ट्वोत्पाद्य पुरा सर्गादावुवाचोक्तवान्प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा, अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिरुत्पत्तिस्तां कुरुध्वम्। एष यज्ञो वो युष्माकमस्तु भवत्विष्टकामधुगिष्टानभिप्रेतान्कामान्फलविशेषान्दोग्धीतीष्टकामधुक् ॥१०॥

कथम्—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

इस यज्ञ द्वारा तुम लोग देवताओं को प्रसन्न करो और वे देवता तुम लोगों को यथेष्ट फल देंगे। इस प्रकार एक-दूसरे की अभिवृद्धि करते हुए तुम सब स्वर्ग तथा परमश्रेय मोक्ष को प्राप्त कर लोगे॥११॥

देवानिति। देवानिन्द्रादीन्भावयत वर्धयतानेन यज्ञेन ते देवा भावयन्त्वाप्याययन्तु वृष्ट्यादिना वो युष्मानेवं परस्परमन्योन्यं भावयन्तः श्रेयः परं मोक्षं ज्ञानप्राप्तिक्रमेणावाप्स्यथ स्वर्गं वा परं श्रेयोऽवाप्स्यथ॥११॥

किंच—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

यज्ञानुष्ठान द्वारा संतुष्ट कराये गये देवता तुम लोगों को (स्त्री, पशु, पुत्रादि) अभीष्ट अर्थ को देंगे। (उन देवताओं के द्वारा प्राप्त भोगों को उन्हें पुनः देकर देवऋण का अपाकरण करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं

करता हो तो) जो व्यक्ति केवल अपने शरीर, इन्द्रियों का ही पोषण कर रहा हो तो वह देवादि के धन का अपहरण करने वाला चोर ही माना जायेगा॥१२॥

इष्टान्भोगानिति। **इष्टानभिप्रेतान्भोगान्हि वो युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते** वितरिष्यन्ति स्त्रीपशुपुत्रादीन्यज्ञभाविता यज्ञैर्वर्धितास्तोषिता इत्यर्थः। **तैर्देवैर्दत्तान्भोगानप्रदा**यादत्त्वाऽऽनृण्यमकृत्वेत्यर्थः, **एभ्यो** देवेभ्यो **यो भुङ्क्ते** स्वदेहेन्द्रियाण्येव तर्पयति **स्तेन एव** तस्कर एव **स** देवादिस्वापहारी॥१२॥

ये पुनः—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

(इसके विपरीत, जो देवयज्ञादि का सम्पादन कर) उससे बचे हुए अमृततुल्य भोजन करते हैं ऐसे यज्ञशिष्टाशी पुरुष सन्त हैं (वे चुल्यादि पञ्चसूना के कारण अथवा प्रमादकृत हिंसादि जनित) सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो आत्मम्भरी पापी हैं वे अपने लिए ही पकाते हैं। ऐसे पापात्मा पाप को ही खाते हैं॥१३॥

यज्ञेति। देवयज्ञादीन्निर्वर्त्य तच्छिष्टमशनममृताख्यमशितुं शीलं येषां ते **यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः** सर्वपापैश्चुल्यादिपञ्चसूनाकृतैः प्रमादकृतहिंसादिजनितैश्चान्यैः। ये त्वात्मंभरयो **भुञ्जते ते त्वघं** पापं स्वयमपि **पापा ये पचन्ति** पाकं निर्वर्तयन्त्या**त्मकारणा**दात्महेतोः॥१३॥

इतश्चाधिकृतेन कर्म कर्तव्यम्। जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुर्हि कर्म। कथमिति। उच्यते—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥

(स्त्री-पुरुष के द्वारा खाये गये अन्न जब शुक्र-शोणित के रूप में परिणत होते हैं तो उससे) अन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा होने पर उत्पन्न होता है और वर्षा यज्ञानुष्ठान से होती है। (यज्ञ एक अपूर्व वस्तु है जिसकी उत्पत्ति ऋत्विग्-यजमान द्रव्य और देवता के व्यापार से सम्पन्न कर्म द्वारा होती है।) उस कर्म से अपूर्व यज्ञ का जन्म होता है। इसलिए यज्ञ को कर्मसमुद्भव कहा गया है॥१४॥

अन्नाद्भवन्तीति। **अन्नाद्भुक्ताल्लोहितरेतःपरिणतात्प्रत्यक्षं भवन्ति जायन्ते भूतानि, पर्जन्याद्वृष्टेरन्नस्य संभवोऽन्नसंभवः, यज्ञाद्भवति पर्जन्यः—**

अग्नौप्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥(मनु. ३.७६)इति स्मृतेः।

यज्ञोऽपूर्वं स च यज्ञः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानयोश्च व्यापारः कर्म ततः समुद्भवो यस्य यज्ञस्यापूर्वस्य स यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥

तच्च—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ समझो और वेद को अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न जानो। अक्षर ब्रह्म सर्वव्यापक है। अतः यज्ञ में वह परमात्मा सदा विद्यमान रहता है॥१५॥

कर्मेति। **कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत्कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि जानीहि, ब्रह्म पुनर्वेदाख्यमक्षरसमुद्भवम्, अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरस-**

मुद्भवं **ब्रह्म** वेद इत्यर्थः। यस्मात्साक्षात्परमात्माख्यादक्षरात्पुरुषनिःश्वासवत्समुद्भूतं **ब्रह्म तस्मात्**सर्वार्थप्रकाशकत्वा**त्सर्वगतम्**। सर्वगतमपि सन्नि**त्यं** सदा यज्ञविधिप्रधानत्वा**द्यज्ञे प्रतिष्ठितम्**॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥

इस प्रकार ईश्वर द्वारा वेद और यज्ञ पूर्वक जगच्चक्र चलाया गया है, उसका अनुष्ठान इस लोक में यदि कर्माधिकारी पुरुष नहीं करता है तो वह अघायु है अर्थात् उसका सम्पूर्ण जीवन पापमय है। वह इन्द्रियों द्वारा विषयों में सदा रमण करने के कारण इन्द्रियाराम माना जाता है। हे पार्थ! ऐसा पुरुष व्यर्थ ही जीता है॥१६॥

एवमिति। **एवमि**त्थमीश्वरेण वेदयज्ञपूर्वकं जगच्च**क्रं प्रवर्तितं नानुवर्तयतीह** लोके **यः** कर्मण्यधिकृतः सन्न**घायु**रघं पापमायुर्जीवनं यस्य सो**ऽघायुः** पापजीवन इति यावत्, **इन्द्रियाराम** इन्द्रियैराराम आरमणमाक्रीडा विषयेषु यस्य स इन्द्रियारामो **मोघं** वृथा हे **पार्थ स जीवति**। तस्मादज्ञेनाधिकृतेन कर्तव्यमेव कर्मेति प्रकरणार्थः। प्रागात्मज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तेस्तादर्थ्येन कर्मयोगानुष्ठानमधिकृतेनानात्मज्ञेन कर्तव्यमेवेत्येतत्। 'न कर्मणामनारम्भात्' (गी. ३.४) इत्यत आरभ्य 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' (गी. ३.८) इत्येवमन्तेन प्रतिपाद्य 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' (गी. ३.९) इत्यादिना 'मोघं पार्थ स जीवति' (गी. ३.१६) इत्येवमन्तेनापि ग्रन्थेन प्रासङ्गिकमधिकृतस्यानात्मविदः कर्मानुष्ठाने बहुकारणमुक्तं तदकरणे च दोषसंकीर्तनं कृतम्॥१६॥

एवं स्थिते किमेवं प्रवर्तितं चक्रं सर्वेणानुवर्तनीय-

माहोस्वित्पूर्वोक्तकर्मयोगानुष्ठानोपायप्राप्यामनात्मविदा ज्ञानयोगेनैव निष्ठामात्मविद्भिः सांख्यैरनुष्ठेयामप्राप्तेनैवेत्येवमर्थमर्जुनस्य प्रश्नमाशङ्क्य स्वयमेव वा शास्त्रार्थस्य विवेकप्रतिपत्त्यर्थम् 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा निवृत्तमिथ्याज्ञानाः सन्तो ब्राह्मणा मिथ्याज्ञानवद्भिरवश्यं कर्तव्येभ्यः पुत्रैषणादिभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं शरीरस्थितिमात्रप्रयुक्तं चरन्ति, न तेषामात्मज्ञाननिष्ठा-व्यतिरेकेणान्यत्कार्यमस्ति' (बृ. ३.५.१) इत्येवं श्रुत्यर्थ-मिह गीताशास्त्रे प्रतिपिपादयिषितमाविष्कुर्वन्नाह भगवान्—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

परन्तु जो आत्मनिष्ठ सांख्ययोगी आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसका (आत्मज्ञाननिष्ठा को छोड़ दूसरा) कोई कर्तव्य नहीं है॥१७॥

यस्त्विति। **यस्तु** सांख्य आत्मज्ञाननिष्ठ आत्मरति-रात्मन्येव रतिर्न विषयेषु यस्य स **आत्मरतिरेव स्याद्**भवेदा-**त्मतृप्तश्चा**ऽऽत्मनैव तृप्तो नान्नरसादिना **मानवो** मनुष्यः संन्या-**स्यात्मन्येव च संतुष्टः**। संतोषो हि बाह्यार्थलाभे सर्वस्य भवति तमनपेक्ष्याऽऽत्मन्येव च संतुष्टः सर्वतो वीततृष्ण इत्येतत्। य ईदृश आत्मवित्**तस्य कार्यं** करणीयं **न विद्यते** नास्तीत्यर्थः॥१७॥

किंच—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

परमात्मरति ज्ञानी को कर्म करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वैसे ही न करने से कोई प्रत्यवाय भी नहीं लगता क्योंकि वह ज्ञानी किसी भूतविशेष का आश्रय लेकर किसी भी अर्थ को सिद्ध करना नहीं चाहता, (जिससे कि उसके लिये क्रिया का अनुष्ठान कर सके)॥१८॥

नैवेति। **नैव तस्य** परमात्मरतेः **कृतेन** कर्मणा**ऽर्थः** प्रयोजनमस्ति। अस्तु तर्ह्यकृतेनाकरणेन प्रत्यवायाख्योऽनर्थो, **नाकृतेनेह** लोके **कश्चन** कश्चिदपि प्रत्यवायप्राप्तिरूप आत्महानिलक्षणो वा नैवास्ति। **न चास्य सर्वभूतेषु** ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु भूतेषु **कश्चिदर्थव्यपाश्रयः** प्रयोजन-निमित्तक्रियासाध्यो व्यपाश्रयो व्यपाश्रयणमालम्बनम्। कंचिद्-भूतविशेषमाश्रित्य न साध्यः कश्चिदर्थोऽस्ति। येन तदर्था क्रियाऽनुष्ठेया स्यात्। न त्वमेतस्मिन्सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीये सम्यग्दर्शने वर्तसे॥१८॥

यत एवम्—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९॥

(सम्यक् ज्ञान में निष्ठा न होने के कारण कर्मानुष्ठान आवश्यक है)

अतः अनासक्त हो निरन्तर कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान कर, क्योंकि अनासक्त भाव से कर्म करने वाला पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है॥१९॥

तस्मादिति। **तस्मादसक्तः** सङ्गवर्जितः **सततं** सर्वदा **कार्यं** कर्तव्यं नित्यं **कर्म समाचर** निर्वर्तय। **असक्तो हि** यस्मात्स**माचरन्**नीश्वरार्थं **कर्म** कुर्वन्**परं** मोक्ष**माप्नोति पूरुषः** सत्त्वशुद्धिद्वारेणेत्यर्थः॥१९॥

यस्माच्च—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥

पहले जनकादि राजर्षि क्षत्रिय विद्वान् कर्मानुष्ठान द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। लोकसंग्रह दृष्टि से भी तुझे कर्म करना चाहिए।

(अन्य कोई प्रयोजन न रहने पर लोकसंग्रह ही प्रयोजन माना जायेगा और ऐसे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी ज्ञानी को कर्म करना चाहिए) ॥२०॥

कर्मणैवेति। **कर्मणैव हि** यस्मात्पूर्वे क्षत्रिया विद्वांसः **संसिद्धिं** मोक्षं गन्तु**मास्थिताः** प्रवृत्ता **जनकादयो** जनकाश्वपतिप्रभृतयः। यदि ते प्राप्तसम्यग्दर्शनास्ततो लोकसंग्रहार्थं प्रारब्धकर्मत्वात्कर्मणां सहैवासंन्यस्यैव कर्म संसिद्धिमास्थिता इत्यर्थः। अथाप्राप्तसम्यग्दर्शना जनकादयस्तदा कर्मणा सत्त्वशुद्धिसाधनभूतेन क्रमेण संसिद्धिमास्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः। अथ मन्यसे पूर्वैरपि जनकादिभिरप्यजानद्भिरेव कर्तव्यं कर्म कृतं तावता नावश्यमन्येन कर्तव्यं सम्यग्दर्शनवता कृतार्थेनेति, तथाऽपि प्रारब्धकर्मायत्तस्त्वं **लोकसंग्रहमेवापि** लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहस्तमेवापि प्रयोजनं **संपश्यन्कर्तुमर्हसि** ॥२०॥

लोकसंग्रहं कः कर्तुमर्हति कथं चेत्युच्यते—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठपुरुष जो-जो आचरण करता है दूसरा भी उसी का अनुकरण करता है और वह श्रेष्ठपुरुष लौकिक या वैदिक जिस कर्म को प्रमाणित कर देता है दूसरे लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं॥२१॥

यद्यदिति। **यद्यत्कर्माऽऽचरति** येषु येषु **श्रेष्ठः** प्रधान**स्तत्तदेव** कर्माऽऽचरती**तरो**ऽन्यो **जन**स्तदनुगतः। किंच **स** श्रेष्ठो **यत्प्रमाणं कुरुते** लौकिकं वैदिकं वा **लोकस्तदनुवर्तते** तदेव प्रमाणीकरोतीत्यर्थः ॥२१॥

यद्यत्र ते लोकसंग्रहकर्तव्यतायां विप्रतिपत्तिस्तर्हि मां किं न पश्यसि—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥

हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरे लिए कोई कर्तव्य नहीं है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जो प्राप्त करने योग्य हो और वह मेरे पास न हो, तो भी मैं कर्म करता ही हूँ॥२२॥

न म इति। **न मे** मम **पार्थ नास्ति** न विद्यते **कर्तव्यं त्रिष्वपि लोकेषु किंचन** किंचिदपि। कस्मा-**न्नानवाप्तमप्राप्तमवाप्तव्यं** प्रापणीयं, तथाऽपि **वर्त एव च कर्मण्य**हम्॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥

कदाचित् मैं यदि आलस्य का परित्याग कर कर्म न करूँ तो हे पार्थ! ये सभी मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं॥२३॥

यदि पुन**रहं न वर्तेयं जातु** कदाचित्**कर्मण्यत-न्द्रितो**ऽनलसः सन्**मम** श्रेष्ठस्य सतो **वर्त्म** मार्ग**मनुवर्तन्ते मनुष्या** हे **पार्थ सर्वशः** सर्वप्रकारैः॥२३॥

तथा च को दोष इत्याह—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक नष्ट हो जायेंगे। इनके संकर का कर्ता मैं होऊँगा और (इन प्रजाओं पर अनुग्रह के लिए प्रवृत्त हुआ) मैं उपघातक बन जाऊँगा (जो मुझ ईश्वर के लिए उचित नहीं है)॥२४॥

उदिति। **उत्सीदेयु**र्विनश्येयु**रिमे** सर्वे **लोका** लोक-स्थितिनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्, **न कुर्यां कर्म चेदहम्,**

किंच संकरस्य च कर्ता स्याम्। तेन कारणेनोपहन्यामिमाः प्रजाः प्रजानामनुग्रहाय प्रवृत्त उपहतिमुपहननं कुर्यामित्यर्थः। ममेश्वरस्याननुरूपमापद्येत॥२४॥

यदि पुनरहमिव त्वं कृतार्थबुद्धिरात्मविदन्यो वा तस्याप्यात्मनः कर्तव्याभावेऽपि परानुग्रह एव कर्तव्य इति—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन! जैसे अज्ञानी पुरुष कर्म और उसके फल में आसक्त हुए कर्म करते हैं- (यह मेरा कर्तव्य है मुझे इसका फल मिलेगा- इस रूप में कर्म करते हैं,) वैसे ही आत्मज्ञानी कर्म और उसके फल में आसक्ति न रखता हुआ लोकसंग्रह की इच्छा से शास्त्रविहित कर्म का आचरण करे॥२५॥

सक्ता इति। सक्ताः कर्मण्यस्य कर्मणः फलं मम भविष्यतीति केचिदविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत, कुर्याद्विद्वानात्मवित्तथाऽसक्तः सन्। तत्किमर्थं करोति तच्छृणु, चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुर्लोकसंग्रहम्॥२५॥

एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षोर्न ममाऽऽत्मविदः कर्तव्यमस्त्यन्यस्य वा लोकसंग्रहं मुक्त्वा। ततस्तस्याऽऽत्मविद इदमुपदिश्यते—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

कर्म में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में ज्ञानी भेद उत्पन्न न करे, प्रत्युत अत्यन्त सावधानी के साथ विद्वान् पुरुष सभी कर्मों को करता हुआ अज्ञानी को उसमें लगाये रखे॥२६॥

नेति। बुद्धेर्भेदो बुद्धिभेदो मयेदं कर्त्तव्यं भोक्तव्यं चास्य कर्मणः फलमिति निश्चितरूपाया बुद्धेर्भेदनं चालनं बुद्धिभेदस्तं **न जनयेन्नो**त्पादये**दज्ञानाम**विवेकिनां **कर्मसङ्गिनां** कर्मण्यासक्तानामासङ्गवताम्। किंतु कुर्या**ज्जोषयेत्**कारये**त्सर्व-कर्माणि विद्वान्**स्वयं तदेवाविदुषां कर्म, **युक्तो**ऽभियुक्तः **समाचरन्**॥२६॥

अविद्वानज्ञः कथं कर्मसु सज्जत इत्याह—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ २७॥

(सत्त्व, रज, तम इन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं, उसी का दूसरा नाम प्रधान और माया भी है। कार्य स्थूल एवं करण सूक्ष्मशरीर उसके विकार हैं), उन्हीं से सभी लौकिक तथा शास्त्रीय कर्म सभी प्रकार से किये जाते हैं। कार्यकरण में अहंकार (आत्मबुद्धि) रखने वाला विमूढ़ अविद्या से आत्मा में कर्मों का आरोपकर उन कर्मों का- मैं कर्ता हूँ- ऐसा मानता है। (यही कर्मासक्ति का कारण और प्रकार भी है)॥२७॥

प्रकृतेरिति। **प्रकृतेः** प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्था तस्याः प्रकृते**र्गुणै**र्विकारैः कार्यकरणरूपैः **क्रियमाणानि कर्माणि** लौकिकानि शास्त्रीयाणि च **सर्वशः** सर्वप्रकारै**रहंकारविमूढात्मा** कार्यकरणसंघातात्मप्रत्ययोऽहंकारस्तेन विविधं नानाविधं मूढ आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयं कार्यकरणधर्मा कार्यकरणाभिमान्यविद्यया कर्माण्यात्मनि मन्यमानस्तत्तत्कर्मणाम**हं कर्तेति मन्यते**॥२७॥

यः पुनर्विद्वान्—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

किन्तु हे महाबाहो! जो विद्वान् गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जानता है, वह गुण ही गुण में वर्तते हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्ति नहीं करता॥२८॥

तत्त्वविदिति। **तत्त्ववित्तु महाबाहो** कस्य तत्त्ववित्-**गुणकर्मविभागयोर्**गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्व-विदित्यर्थः। **गुणाः** करणात्मका **गुणेषु** विषयात्मकेषु **वर्तन्ते** नाऽऽत्मेति **मत्वा न सज्जते** सक्तिं न करोति॥२८॥

ये पुनः—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

किन्तु जो प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हैं ऐसे अज्ञानी जीव गुणों के व्यापार में- (हम फल के लिए कर्म करते हैं- इस प्रकार आसक्त हो जाते हैं।) उन कर्मासक्त कर्मफलमात्र को देखने वाले मन्दबुद्धि पुरुष को 'अकृत्स्नवित्' कहा गया है। ऐसे अज्ञानियों को 'कृत्स्नवित्' आत्मज्ञानी स्वयं विचलित न करे॥२९॥

प्रकृतेरिति। **प्रकृतेर्गुणैः** सम्यङ्मूढाः संमोहिताः सन्तः **सज्जन्ते** गुणानां कर्मसु **गुणकर्मसु** वयं कर्म कुर्मः फलायेति, **तान्**कर्मसङ्गिनो**ऽकृत्स्नविदः** कर्मफलमात्रदर्शिनो **मन्दान्**मन्दप्रज्ञान्**कृत्स्नविद्**आत्मवित्स्वयं **न विचालयेद्**-बुद्धिभेदकरणमेव चालनं तन्न कुर्यादित्यर्थः॥२९॥

कथं पुनः कर्मण्यधिकृतेनाज्ञेन मुमुक्षुणा कर्म कर्तव्य-मित्युच्यते—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

मुझ (सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ परमेश्वर) में विवेक बुद्धि से-

'मैं ईश्वर के लिए भृत्य की भाँति कर्म करता हूँ'- इस प्रकार अध्यात्मचित्त से कर्मों को समर्पणकर आशा, ममता एवं संताप को छोड़कर युद्ध करो ॥३०॥

मयीति। **मयि** वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि **सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य** निक्षिप्याध्यात्मचेतसा विवेकबुद्ध्याऽहं कर्तेश्वराय भृत्यवत्करोमीत्यनया बुद्ध्या। किंच **निराशीस्त्यक्ताशीर्निर्ममो** ममभावश्च निर्गतो यस्य तव स त्वं निर्ममो **भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरो** विगतसंतापो विगतशोकः सन्नित्यर्थः ॥३०॥

यदेतन्मतं कर्म कर्तव्यमिति सप्रमाणमुक्तं तत्तथा—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

प्रमाण के सहित जो यह मेरा मत कर्तव्यकर्मानुष्ठान के लिए कहा गया है, मेरे इस सिद्धान्त का जो मनुष्य श्रद्धा युक्त हो मुझ सर्वान्तर्यामी वासुदेव में दोष न देखते हुए अनुष्ठान करते हैं, वे भी बन्धन के कारण धर्माधर्म से मुक्त हो जाते हैं॥३१॥

ये म इति। **ये मे** मदीय**मिदं मतमनुतिष्ठन्त्य**नुवर्तन्ते **मानवा** मनुष्याः **श्रद्धावन्तः** श्रद्दधाना **अनसूयन्तो**ऽसूयां च मयि गुरौ वासुदेवेऽकुर्वन्तो **मुच्यन्ते तेऽ**प्येवंभूताः **कर्मभि**र्धर्माधर्माख्यैः ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३२॥

किन्तु जो लोग मेरे इस सिद्धान्त का अनुष्ठान नहीं करते, उल्टे मुझमें तथा मेरे इस सिद्धान्त में दोष देखते हैं उन सर्वज्ञानविमूढ़ मूर्खों को परमार्थ से भ्रष्ट ही जानो॥३२॥

ये त्विति। **ये तु तद्विपरीता एतन्मम मतमभ्यसूयन्तो** निन्दन्तो **नानुतिष्ठन्ति** नानुवर्तन्ते **मे मतं** सर्वेषु ज्ञानेषु विविधं मूढास्ते, **सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टान्नाशं** गता**नचेतसो**ऽविवेकिनः ॥३२॥

कस्मात्पुनः कारणात्त्वदीयं मतं नानुतिष्ठन्ति परधर्मान-नुतिष्ठन्ति स्वधर्मं च नानुवर्तन्ते, त्वत्प्रतिकूलाः कथं न बिभ्यति त्वच्छासनातिक्रमदोषात्, तत्राऽऽह—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

(पूर्वकृत धर्माधर्म आदि संस्कार जो वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त होता है उसे प्रकृति कहते हैं, वह सभी की भिन्न-भिन्न होती है।) अपनी उसी प्रकृति के अनुसार सभी जीव चेष्टा करते हैं। मूर्खों की बात कौन कहे, ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, तो मेरा अथवा अन्य किसी का निग्रह क्या करेगा॥३३॥

सदृशमिति। **सदृश**मनुरूपं **चेष्टते** कस्याः **स्वस्याः** स्वकीयायाः **प्रकृतेः** प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तः सा प्रकृतिस्तस्याः सदृशमेव सर्वो जन्तु**र्ज्ञानवानपि** किं पुनर्मूर्खः। तस्मात्**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति** मम वाऽन्यस्य वा॥३३॥

यदि सर्वो जन्तुरात्मनः प्रकृतिसदृशमेव **चेष्टते** नच प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति, ततः पुरुषकारस्य विषयानुपपत्तेः शास्त्रा-नर्थक्यप्राप्ताविदमुच्यते—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने विषयो में राग तथा द्वेष अवश्यम्भावी है, उस राग-द्वेष से बचने में ही पुरुष प्रयत्न की आवश्यकता है। ये दोनों कल्याणकामी पुरुष के शत्रु हैं। अतः इनके अधीन नहीं होना चाहिए॥३४॥

इन्द्रियस्येति। **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे** सर्वेन्द्रियाणामर्थे शब्दादिविषय इष्टे रागोऽनिष्टे द्वेष इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थे **राग-द्वेषाववश्यंभाविनौ**। तत्रायं पुरुषकारस्य शास्त्रार्थस्य च विषय उच्यते शास्त्रार्थे प्रवृत्तः पूर्वमेव रागद्वेषयो**र्वशं नाऽऽगच्छेत्**। या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा रागद्वेषपुरःसरैव स्वकार्ये पुरुषं प्रवर्तयति तदा स्वधर्मपरित्यागः परधर्मानुष्ठानं च भवति। यदा पुना रागद्वेषौ तत्प्रतिपक्षेण नियमयति तदा शास्त्रदृष्टिरेव पुरुषो भवति, न प्रकृतिवशः। तस्मा**त्तयो** रागद्वेषयोर्वशं **न** गच्छेत्। यत**स्तौ ह्यस्य** पुरुषस्य **परिपन्थिनौ** श्रेयोमार्गस्य विघ्न-कर्तारौ तस्कराविवेत्यर्थः॥३४॥

तत्र रागद्वेषप्रयुक्तो मन्यते शास्त्रार्थमप्यन्यथा, परधर्मोऽपि धर्मत्वादनुष्ठेय एवेति, तदसत्—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३५॥

(जिस वर्ण और जिस आश्रम के लिए शास्त्र ने जिस कर्तव्य कर्म का विधान किया है वह उसका स्वधर्म है, उससे भिन्न विहित होने पर भी उसके लिए विधान नहीं किया गया है इसलिए वह परकीय धर्म है।) उस परधर्म का अच्छी प्रकार से अनुष्ठान किये जाने की अपेक्षा किसी अंश में अपना धर्म विगुण भी रह गया हो तो भी वह कल्याणकारक है। स्वधर्म में स्थित पुरुष का मरण भी श्रेयस्कर है किन्तु परधर्म नरकादि रूप भय को भी देता है॥३५॥

श्रेयानिति। **श्रेयान्**प्रशस्यतरः **स्वो** धर्मः **स्वधर्मो विगुणो**ऽपि विगतगुणोऽप्यनुष्ठीयमानः **परधर्मात्स्वनुष्ठि-**

तात्साद्गुण्येन संपादितादपि, स्वधर्मे स्थितस्य **निधनं** मरणमपि **श्रेयः** परधर्मे स्थितस्य जीवितात्, कस्मात्**परधर्मो भयावहः**, नरकादिलक्षणं भयमावहति यतः ॥३५॥

यद्यप्यनर्थमूलं "ध्यायतो विषयान्पुंसः" (गी. २.६२) "रागद्वेषौ ह्यस्य परिपन्थिनौ" (गी. ३.३४) इति चोक्तं विक्षिप्तमनवधारितं च तदुक्तं तत्संक्षिप्तं निश्चितं चेदमेवेति ज्ञातुमिच्छन्नर्जुन उवाच ज्ञाते हि तस्मिंस्तदुच्छेदाय यत्नं कुर्यामिति—

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन ने पूछा किससे प्रेरित हुआ यह पुरुष न चाहता हुआ भी जबरन किसी से लगाये हुए की भाँति पाप कर बैठता है। हे वृष्णिकुलप्रसूत भगवन्! (आप हमें बतलायें) ॥३६॥

अथेति। **अथ केन** हेतुभूतेन **प्रयुक्तः** सन्राज्ञेव भृत्योऽयं **पापं** कर्म **चरत्या**चरति **पूरुषः** स्वय**मनिच्छन्नपि** हे **वार्ष्णेय** वृष्णिकुलप्रसूत **बलादिव नियोजितो** राज्ञेवेत्युक्तो दृष्टान्तः ॥३६॥

शृणु त्वं तं वैरिणं सर्वानर्थकरं यं त्वं पृच्छसि—

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् ने कहा- यह काम और यह क्रोध जो रजोगुण का कारण है और कार्य भी है यह महापेटू है अतएव महापापी है इसे कल्याण मार्ग में शत्रु समझ ॥३७॥

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना॥ (विष्णु. पु. ६.५.७४)

ऐश्वर्यादिषट्कं यस्मिन्वासुदेवे नित्यमप्रतिबद्धत्वेन सामस्त्येन च वर्तते।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥ (विष्णु. पु. ६.५.७८)

उत्पत्त्यादिविषयं च विज्ञानं यस्य स वासुदेवो वाच्यो भगवानिति।

काम इति। **काम एष** सर्वलोकशत्रुर्यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनां, स एष कामः प्रतिहतः केनचित्क्रोधत्वेन परिणमते। अतः **क्रोधोऽप्येष** एव। **रजोगुणसमुद्भवो** रजश्च तद्गुणश्च रजोगुणः स समुद्भवो यस्य स कामो रजोगुणसमुद्भवो, रजोगुणस्य वा समुद्भवः। कामो ह्युद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं प्रवर्तयति। तृष्णया ह्यहं कारित इति दुःखितानां रजःकार्ये सेवादौ प्रवृत्तानां प्रलापः श्रूयते। **महाशनो** महदशनमस्येति महाशनोऽत एव **महापाप्मा**। कामेन हि प्रेरितो जन्तुः पापं करोति। अतो **विद्ध्येनं काममिह** संसारे **वैरिणम्**॥३७॥

कथं वैरीति दृष्टान्तैः प्रत्याययति—

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥३८॥

(यह काम शत्रु कैसे है? इस बात को तीन दृष्टान्तों से समझाते हैं) जिस प्रकार साथ-साथ उत्पन्न होने वाले अप्रकाशात्मक धूम से प्रकाशात्मक वह्नि आवृत हो जाती है और जैसे मैल से दर्पण ढक

जाता है एवं जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है, ऐसे ही काम से ज्ञान आवृत रहता है॥३८॥

धूमेनेति। **धूमेन** सहजेनाऽऽ**व्रियते वह्निः** प्रकाशात्मकोऽप्रकाशात्मकेन **यथा** वाऽऽ**दर्शो मलेन च यथोल्बेन** गर्भवेष्टनेन जरायुणाऽऽ**वृत** आच्छादितो **गर्भस्तथा तेनेदमावृम्**॥३८॥

किं पुनस्तदिदंशब्दवाच्यं यत्कामेनाऽऽवृतमित्युच्यते—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥३९॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! कठिनाई से पूर्ण होने वाले, अग्नि के सदृश, ज्ञानी के सदा शत्रु इस काम से आत्मा का ज्ञान अथवा कर्तव्याकर्तव्य बोधरूप ज्ञान आवृत रहता है॥३९॥

आवृतमिति। **आवृतमेतेन ज्ञानं ज्ञानिनो नित्यवैरिणा**। ज्ञानी हि जानात्यनेनाहमनर्थे प्रयुक्तः पूर्वमेवेति। दुःखी च भवति नित्यमेव। अतोऽसौ ज्ञानिनो नित्यवैरी न तु मूर्खस्य। स हि कामं तृष्णाकाले मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते जानाति तृष्णयाऽहं दुःखित्वमापादित इति न पूर्वमेवातो ज्ञानिन एव नित्यवैरी। किंरूपेण **कामरूपेण** काम इच्छैव रूपमस्येति कामरूपस्तेन **दुष्पूरेण** दुःखेन पूरणमस्येति दुष्पूरस्तेना**नलेन** नास्यालं पर्याप्तिर्विद्यत इत्यनलस्तेन॥३९॥

किमधिष्ठानः पुनः कामो ज्ञानस्याऽऽवरणत्वेन वैरी सर्वस्येत्यपेक्षायामाह ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन शत्रुनिबर्हणं कर्तुं शक्यत इति—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के आश्रय हैं, इन्हीं के द्वारा यह काम ज्ञान पर आवरण डालकर जीवात्मा को मोहित करता रहता है ॥४०॥

इन्द्रियाणीति। **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चास्य** काम-स्याधिष्ठानमाश्रय **उच्यते। एतै**रिन्द्रियादिभिराश्रयै**र्विमोहयति** विविधं मोहयत्येष कामो **ज्ञानमावृत्या**ऽऽच्छाद्य **देहिनं** शरीरिणम् ॥४०॥

यत एवम्—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अत: हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! पहले तुम इन्द्रियों को नियम में करो, तत्पश्चात् ज्ञान एवं विज्ञान के नाशक इस माहापापी काम का मूलत: परित्याग कर डालो ॥४१॥

तस्मादिति। **तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ** पूर्वं **नियम्य** वशीकृत्य **भरतर्षभ पाप्मानं** पापाचारं कामं **प्रजहिहि** परित्यज, **एनं** प्रकृतं वैरिणं **ज्ञानविज्ञाननाशनं** ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्चाऽऽत्मादीनामवबोध:, विज्ञानं विशेषतस्त-दनुभवस्तयोर्ज्ञानविज्ञानयो: श्रेय:प्राप्तिहेत्वोर्नाशनं प्रजहिह्यात्मन: परित्यजेत्यर्थ: ॥४१॥

इन्द्रियाण्यादौ नियम्य कामं शत्रुं जहिहीत्युक्तं तत्र किमाश्रय: कामं जह्यादित्युच्यते—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स: ॥४२॥

इन्द्रियों की अपेक्षा मन 'पर' कहा गया है और मन से श्रेष्ठ बुद्धि है किन्तु जो बुद्धि से भी पर है वह बुद्धि का साक्षी परमात्मा है ॥४२॥

इन्द्रियाणीति। **इन्द्रियाणि** श्रोत्रादीनि पञ्च देहं स्थूलं बाह्यं परिच्छिन्नं चापेक्ष्य सौक्ष्म्यान्तरस्थत्वव्यापित्वाद्यपेक्ष्य

जब तक स्वरूप निष्ठा नहीं हो जाती तब तक भोक्ताभाव मिट नहीं सकता है
सभी विकारों का मूल भोक्ता भाव ही है बन्ध रूप भी भोक्ता भाव।

पराणि प्रकृष्टान्या**हुः** पण्डिताः। तथे**न्द्रियेभ्यः परं मनः** संकल्पविकल्पात्मकम्। तथा **मनसस्तु परा बुद्धिर्निश्च**-यात्मिका। तथा **यः** सर्वदृश्येभ्यो बुद्ध्यन्तेभ्योऽभ्यन्तरो यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोह-यतीत्युक्तं **बुद्धेः परतस्तु स** बुद्धेर्द्रष्टा परमात्मा॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३॥

आदितः श्लो. १६२

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥३॥

हे महाबाहो! इस प्रकार बुद्धि से 'पर' आत्मा को जानकर शुद्ध मन से देह, इन्द्रियादिरूप आत्मा को वश में करके इस दुर्जय काम-शत्रु को मार डालो॥४३॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा कर्मयोग नामक तृतीयाध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥३॥

एवमिति। **एवं बुद्धेः परमाऽऽत्मानं बुद्ध्वा** ज्ञात्वा **संस्तभ्य** सम्यक्स्तम्भनं कृत्वा स्वेनैवा**ऽऽत्मना** संस्कृतेन मनसा सम्यक्समाधायेत्यर्थः। **जह्येनं शत्रुं** हे **महाबाहो कामरूपं दुरासदं** दुःखेनाऽऽसद आसादनं प्राप्तिर्यस्य तं दुरासदं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति॥४३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥३॥

तृतीयाह्निकम्॥३॥

1- देह की प्रकरण
2- लोकसंग्रह प्रकरण
3- अनासक्ति प्रकरण
4- निष्ठा का प्रकरण

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ चतुर्थोऽध्यायः

योऽयं योगोऽध्यायद्वयेनोक्तो ज्ञाननिष्ठालक्षणः ससंन्यासः कर्मयोगोपायो, यस्मिन्वेदार्थः परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। गीतासु च सर्वास्वयमेव योगो विवक्षितो भगवता अतः परिसमाप्तं वेदार्थं मन्वानस्तं वंशकथनेन स्तौति श्रीभगवान्—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १ ॥

सर्गारम्भ में इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य के प्रति कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा था॥ १॥

इममध्यायद्वयेनोक्तं योगं विवस्वत आदित्याय सर्गादौ **प्रोक्तवानहं** जगत्परिपालयितॄणां क्षत्रियाणां बलाधानाय। तेन योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्म परिरक्षितुम्। ब्रह्मक्षत्रे परिपालिते जगत्परिपालयितुमलम्। **अव्ययमव्ययफलत्वात्**। न ह्यस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति। स च **विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे** स्वपुत्रायाऽऽदिराजाया**ब्रवीत्**॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना। हे परंतप! वही योग इस संसार में दीर्घकाल से नष्ट हो गया है॥ २॥

एवमिति। एवं क्षत्रियपरम्पराप्राप्तमिमं **राजर्षयो** राजानश्च त ऋषयश्च राजर्षयो **विदुरिमं** योगम्। **स योगः कालेनेह महता** दीर्घेण **नष्टो** विच्छिन्नसंप्रदायः संवृत्तो हे **परंतप**, आत्मनो विपक्षभूताः पर उच्यन्ते ताञ्शौर्यतेजोगभस्तिभिर्भानुरिव तापयतीति परंतपः शत्रुतापन इत्यर्थः॥२॥

दुर्बलानजितेन्द्रियान्प्राप्य नष्टं योगमिममुपलभ्य लोकं चापुरुषार्थसंबन्धिनम्—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥३॥

मैंने उसी पुरातन योग का उपदेश आज तुझे किया, क्योंकि तुम मेरे भक्त हो और मित्र भी हो और यह गीताज्ञान उत्तम रहस्य है॥३॥

स एवायमिति। **स एवायं मया ते** तुभ्यमद्येदानीं **योगः प्रोक्तः पुरातनः, भक्तोऽसि मे सखा** चासीति। **रहस्यं हि** यस्मादेतदुत्तमं योगो ज्ञानमित्यर्थः॥३॥

भगवता विप्रतिषिद्धमुक्तमिति मा भूत्कस्यचिद्बुद्धिरिति परिहारार्थं चोद्यमिव कुर्वन्—

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥४॥

अर्जुन ने कहा, भगवन्! आप का जन्म तो अब हुआ है, सूर्य का जन्म बहुत पहले हुआ था, ऐसी स्थिति में मैं कैसे मानूँ कि आप ने इसका उपदेश सर्गारम्भ में आदित्य को किया था॥४॥

अपरमिति। **अपरमर्वाग्वसुदेवगृहे भवतो जन्म परं**

पूर्वं सर्गादौ जन्मोत्पत्तिर्विवस्वत आदित्यस्य, तत्कथमेतद्विजानीयामविरुद्धार्थतया, यस्त्वमेवाऽऽदौ प्रोक्तवानिमं योगं, स एव त्वमिदानीं मह्यं प्रोक्तवानसीति ॥४॥

या वासुदेवेऽनीश्वरासर्वज्ञाशङ्का मूर्खाणां, तां परिहरञ्श्रीभगवानुवाच यदर्थो ह्यर्जुनस्य प्रश्नः—

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

भगवान् ने कहा— हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत जन्म हो चुके हैं। हे परंतप! मैं उन सभी जन्मों को जानता हूँ किन्तु तू नहीं जानता ॥५॥

बहूनीति। **बहूनि मे** मम **व्यतीतान्यतिक्रान्तानि जन्मानि तव च, हेऽर्जुन तान्यहं वेद** जाने **सर्वाणि, न त्वं वेत्थ** जानीषे, धर्माधर्मादिप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्। अहं पुनर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वादनावरणज्ञानशक्तिरिति वेदाहं, हे **परंतप** ॥५॥

कथं तर्हि तव नित्येश्वरस्य धर्माधर्माभावेऽपि जन्मेत्युच्यते—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा, अव्यय आत्मा एवं भूतों का ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृति को अधीन कर अपनी ही माया से उत्पन्न होता हूँ ॥६॥

अजोऽपीति। **अजोऽपि** जन्मरहितोऽपि संस्तथाऽ**व्ययात्मा**ऽक्षीणज्ञानशक्तिस्वभावोऽपि संस्तथा **भूतानां** ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वर ईशनशीलोऽपि **सन्प्रकृतिं स्वां** मम

वैष्णवीं मायां त्रिगुणात्मिकां यस्या वशे सर्वं जगद्वर्तते यया मोहितं सत्स्वमात्मानं वासुदेवं न जानाति, तां **प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय** वशीकृत्य **संभवामि** देहवानिव भवामि जात इवाऽऽत्ममाययाऽऽत्मनो मायया, न परमार्थतो लोकवत् ॥६॥

तच्च जन्म कदा किमर्थं चेत्युच्यते—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

भारत! वर्णाश्रमादि-रूप धर्म (जो प्राणियों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन हैं) उनकी जब-जब हानि होती है और जब-जब अधर्म बहुत बढ़ जाता है, तब-तब अपनी माया से मैं अपने को प्रकट करता हूँ ॥७॥

यदेति। **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि**र्हानिर्वर्णाश्रमादिलक्षणस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य **भवति, भारत! अभ्युत्थान**मुद्भवो**ऽधर्मस्य, तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहं** मायया ॥७॥

किमर्थम्—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

सन्मार्गस्थ सन्तों के परित्राण के लिए और दुष्कर्मी पापियों के संहार के लिए तथा धर्म की सम्यक् स्थापना के लिए आवश्यकतानुसार युग-युग में मैं अवतार ग्रहण करता हूँ ॥८॥

परित्राणायेति। **परित्राणाय** परिरक्षणाय **साधूनां** सन्मार्गस्थानां, **विनाशाय च दुष्कृतां** पापकारिणाम्। किंच **धर्मसंस्थापनार्थाय** धर्मस्य सम्यक्स्थापनं तदर्थं **संभवामि युगे युगे** प्रतियुगम् ॥८॥

तत्—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

मेरा जन्म और कर्म अलौकिक, अस्वाभाविक दिव्य हैं। इसें जो तत्त्व से जान लेता है, हे अर्जुन! वह देह का त्यागकर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करता, किन्तु मुझे प्राप्त कर लेता है॥९॥

जन्मेति। **जन्म** मायारूपं, **कर्म च** साधुपरित्राणादि, **मे** मम **दिव्य**मप्राकृतमैश्वर**मेवं** यथोक्तं **यो वेत्ति तत्त्वत**स्तत्त्वेन यथावत्**त्यक्त्वा देह**मिमं **पुनर्जन्म** पुनरुत्पत्तिं **नैति** न प्राप्नोति **मामे**त्यागच्छति **स** मुच्यते हे**ऽर्जुन**॥९॥

नैष मोक्षमार्ग इदानीं प्रवृत्तः किं तर्हि पूर्वमपि—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥१०॥

जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा मिट चुके हैं, जो अभेद आत्मदर्शी ब्रह्मवित् पुरुष हैं और केवल मुझ परमात्मा के ही आश्रित हैं, ऐसे ज्ञाननिष्ठ ज्ञानरूपतप से सर्वथा पवित्र अनेकों ब्रह्मवित् पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं॥१०॥

वीतरागेति। **वीतरागभयक्रोधा** रागश्च भयं च क्रोधश्च वीता विगता येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधा **मन्मया** ब्रह्मविद ईश्वराभेददर्शिनो **मामेव** परमेश्वर**मुपाश्रिताः** केवलज्ञाननिष्ठा इत्यर्थः। **बहवो**ऽनेके **ज्ञानतपसा** ज्ञानमेव च परमात्मविषयं तपस्तेन ज्ञानतपसा **पूताः** परां शुद्धिं गताः सन्तो **मद्भा**वमीश्वरभावं मोक्ष**मागताः** समनुप्राप्ताः। इतरतपोनिरपेक्षज्ञाननिष्ठा इत्यस्य लिङ्गं ज्ञानतपसेति विशेषणम्॥१०॥

तव तर्हि रागद्वेषौ स्तः, येन केभ्यश्चिदेवाऽऽत्मभावं प्रयच्छसि न सर्वेभ्य इत्युच्यते—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं मैं उसी प्रकार से उन पर अनुग्रह करता हूँ। हे पृथापुत्र अर्जुन! ये मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं॥११॥

ये यथेति। **ये यथा** येन प्रकारेण येन प्रयोजनेन यत्फलार्थितया **मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव** तत्फलदानेन **भजाम्य**नुगृह्णाम्य**हमि**त्येतत्। तेषां मोक्षं प्रत्यनर्थित्वात्। न ह्येकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत्संभवति। अतो ये फलार्थिनस्तान्फलप्रदानेन, ये यथोक्तकारिणस्त्वफलार्थिनो मुमुक्षवश्च ताञ्ज्ञानप्रदानेन, ये ज्ञानिनः संन्यासिनो मुमुक्षवश्च तान्मोक्षप्रदानेन, तथाऽऽर्तानार्तिहरणेनेत्येवं यथा प्रपद्यन्ते ये तांस्तथैव भजामीत्यर्थः। न पुना रागद्वेषनिमित्तं मोहनिमित्तं वा कंचिद्भजामि। सर्वथाऽपि सर्वावस्थस्य **ममेश्वरस्य वर्त्म** मार्ग**मनुवर्तन्ते मनुष्याः**। यत्फलार्थितया यस्मिन्कर्मण्यधिकृता ये प्रयतन्ते ते मनुष्या उच्यन्ते, हे **पार्थ सर्वशः** सर्वप्रकारैः॥११॥

यदि तवेश्वरस्य रागादिदोषाभावात्सर्वप्राणिष्वनुजिघृक्षायां तुल्यायां सर्वफलप्रदानसमर्थे च त्वयि सति वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानेनैव मुमुक्षवः सन्तः कस्मात्त्वामेव सर्वे न प्रतिपद्यन्त इति; शृणु तत्र कारणम्—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

(यह सब कुछ वासुदेव ही है ऐसे ज्ञान से रहित) इस मनुष्य लोक में कर्मों की फलसिद्धि चाहने वाले देवताओं की पूजा करते हैं। और इन्हें कर्मजन्य सिद्धि भी शीघ्र ही मिलती है ॥१२॥

काङ्क्षन्त इति। **काङ्क्षन्तो**ऽभीप्सन्तः **कर्मणां सिद्धिं** फलनिष्पत्तिं प्रार्थयन्तो **यजन्त इहास्मिँल्लोके देवता** इन्द्राग्न्याद्याः "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" (बृ. १.४.१०) इति श्रुतेः। तेषां हि भिन्नदेवतायाजिनां फलाकाङ्क्षिणां **क्षिप्रं** शीघ्रं **हि** यस्मा**न्मानुषे लोके**, मनुष्यलोके हि शास्त्राधिकारः। 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके' इति विशेषणादन्येष्वपि कर्मफलसिद्धिं दर्शयति भगवान्। मानुषे लोके वर्णाश्रमादिकर्माधिकार इति विशेषः, तेषां वर्णाश्रमाद्यधिकारिकर्मणां **फलसिद्धिः** क्षिप्रं **भवति कर्मजा** कर्मणो जाता॥१२॥

मानुष एव लोके वर्णाश्रमादिकर्माधिकारो नान्येषु लोकेष्विति नियमः किंनिमित्त इति, अथवा वर्णाश्रमादिप्रविभागोपेता मनुष्या मम वर्त्मानुवर्तन्ते सर्वश इत्युक्तं, कस्मात्पुनः कारणान्नियमेन तवैव वर्त्मानुवर्तन्ते नान्यस्येत्युच्यते—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

(सत्त्व, रज तम ऐसे तीन गुण होते हैं,) गुणों के विभाग एवं कर्म विभाग के अनुसार ही उन गुणों से मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है। (यद्यपि मायिक संव्यवहार के कारण) उस कर्म का कर्ता मैं हूँ फिर भी उस कर्म के कर्ता मुझ ईश्वर को वस्तुतः अकर्ता ही समझो। (इसीलिए मुझे अविनाशी और असंसारी भी जानो)॥१३॥

चातुर्वर्ण्यमिति। **चातुर्वर्ण्यं** चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यं

मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादिश्रुतेः। **गुणकर्मविभागशो** गुणविभागशः कर्मविभागशश्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि। तत्र सात्त्विकस्य सत्त्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमो दमस्तप इत्यादीनि कर्माणि। सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यतेजः प्रभृतीनि कर्माणि। तमउपसर्जनरजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि। रजउपसर्जनतमःप्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव कर्मेत्येवं गुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टमित्यर्थः। तच्चेदं चातुर्वर्ण्यं नान्येषु लोकेष्वतो मानुषे लोक इति विशेषणम्। हन्त तर्हि चातुर्वर्ण्यसर्गादेः कर्मणः कर्तृत्वात्तत्फलेन युज्यसे, अतो न त्वं नित्यमुक्तो नित्येश्वर इति। उच्यते। यद्यपि मायासंव्यवहारेण **तस्य कर्मणः कर्तारमपि** सन्तं **मां** परमार्थतो **विद्ध्यकर्तारमत** एवा**व्ययमसंसारिणं** च मां **विद्धि**॥१३॥

येषां तु कर्मणां कर्तारं मां मन्यसे, परमार्थतस्तेषामकर्तैवाहं, यतः—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

(अहंकाराभाव होने से) मुझे कर्म लिप्त नहीं करते हैं और कर्मफल में मेरी स्पृहा भी नहीं है। ऐसा जो मुझे जानता है, वह पुरुष भी कर्मों से बँधता नहीं है॥१४॥

नेति। **न मां** तानि **कर्माणि लिम्पन्ति** देहाद्यारम्भकत्वेन, अहंकाराभावात्। **न** च तेषां कर्मणां फलेषु **मे स्पृहा** तृष्णा। येषां तु संसारिणामहं कर्तेत्यभिमानः कर्मसु स्पृहा तत्फलेषु च, तान्कर्माणि लिम्पन्तीति युक्तं तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीत्येवं **यो**ऽन्योऽपि **मामात्मत्वेनाभिजानाति**

नाहं कर्ता न मे कर्मफले स्पृहेति **स कर्मभिर्न बध्यते**। तस्यापि न देहाद्यारम्भकाणि कर्माणि भवन्तीत्यर्थः॥१४॥

नाहं कर्ता न मे कर्मफले स्पृहेति—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

मैं कर्ता नहीं और न कर्मफल की मुझे स्पृहा ही है ऐसा जानकर पूर्व के मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था। अतः पूर्व के मुमुक्षुओं द्वारा किये हुये कर्म को ही तू भी कर॥१५॥

एवमिति। **एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैर**प्यतिक्रान्तै**र्मुमुक्षुभिः, कुरु** तेन **कर्मैव** त्वं न तूष्णीमासनं नापि संन्यासः कर्तव्य**स्तस्मात्त्वं** पूर्वैरप्यनुष्ठितत्वात्, यद्यनात्मज्ञस्त्वं तदाऽऽत्मशुद्ध्यर्थं तत्त्वविच्चेल्लोकसंग्रहार्थं **पूर्वै**र्जनकादिभिः **पूर्वतरं कृतं**, नाधुनातनं कृतं निर्वर्तितम्॥१५॥

तत्र कर्म चेत्कर्तव्यं त्वद्वचनादेव करोम्यहं किं विशेषितेन पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्युच्यते, यस्मान्महद्वैषम्यं कर्मणि। कथम्—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी चक्कर खा जाते हैं। अतः तुझे मैं कर्म का वह स्वरूप बतलाऊँगा जिसे जानकर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे॥१६॥

किं कर्मेति। **किं कर्म किं चाकर्मेति कवयो** मेधाविनो**ऽप्यत्रा**स्मिन्कर्मादिविषये **मोहिता** मोहं गता, अत**स्ते** तुभ्यमहं **कर्मा**कर्म च **प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा** विदित्वा कर्मादि **मोक्ष्यसेऽशुभा**त्संसारात्॥१६॥

न चैतत्त्वया मन्तव्यं, कर्म नाम देहादिचेष्टा लोकप्रसिद्धमकर्म तदक्रिया तूष्णीमासनं, किं तत्र बोद्धव्यमिति। कस्मादुच्यते—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

शास्त्र विहित कर्म का स्वरूप भी समझना चाहिए, वैसे ही शास्त्रनिषिद्ध कर्म का स्वरूप तथा तूष्णींभाव से बैठना रूप अकर्म का स्वरूप भी समझना चाहिए। क्योंकि कर्म, (अकर्म और विकर्म) का तत्त्व अत्यन्त गहन है॥१७॥

कर्मण इति। **कर्मणः** शास्त्रविहितस्य **हि** यस्माद**प्य**स्ति **बोद्धव्यं, बोद्धव्यं** चास्त्येव **विकर्मणः** प्रतिषिद्धस्य तथाऽ**कर्मणश्च** तूष्णींभावस्य **बोद्धव्य**मस्तीति त्रिष्वप्यध्याहारः कर्तव्यो यस्माद्**गहना** विषमा दुर्ज्ञाना, कर्मण इत्युपलक्षणार्थं कर्मादीनां कर्माकर्मविकर्मणां **गति**र्याथात्म्यं तत्त्वमित्यर्थः॥१७॥

किं पुनस्तत्त्वं कर्मादेर्यद्बोद्धव्यं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञातमुच्यते—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी है और वही सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता है॥१८॥

कर्मणीति। **कर्मणि** कर्म क्रियत इति व्यापारमात्रं तस्मिन्**कर्मण्यकर्म** कर्माभावं **यः पश्येदकर्मणि च** कर्माभावे, कर्तृतन्त्रत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्वस्त्वप्राप्यैव हि सर्व एव क्रियाकारकादिव्यवहारोऽविद्याभूमावेव, **कर्म यः** पश्येत्पश्यति **स**

बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तो योगी कृत्स्नकर्मकृत्समस्तकर्मकृच्च स इति स्तूयते कर्माकर्मणोरितरेतरदर्शी।

ननु किमिदं विरुद्धमुच्यते 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यकर्मणि च कर्मेति। न हि कर्माकर्म स्यादकर्म वा कर्म तत्र विरुद्धं कथं पश्येद्द्रष्टा। नन्वकर्मैव परमार्थतः सत्कर्मवदवभासते मूढदृष्टेर्लोकस्य, तथा कर्मैवाकर्मवत्तत्र यथाभूतदर्शनार्थमाह भगवान्कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादि। अतो न विरुद्धम्। बुद्धिमत्त्वाद्युपपत्तेश्च बोद्धव्यमिति च यथाभूतदर्शनमुच्यते। न च विपरीतज्ञानादशुभान्मोक्षणं स्यात् 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' (गी. ४.१६) इति चोक्तम्। तस्मात्कर्माकर्मणी विपर्ययेण गृहीते प्राणिभिस्तद्विपर्ययग्रहणनिवृत्त्यर्थं भगवतो वचनं 'कर्मण्यकर्म यः' इत्यादि। न चात्र कर्माधिकरणमकर्मास्ति कुण्डे बदराणीव नाप्यकर्माधिकरणं कर्मास्ति कर्माभावत्वादकर्मणः। अतो विपरीतगृहीते एव कर्माकर्मणी लौकिकैर्यथा मृगतृष्णिकायामुदकं शुक्तिकायां वा रजतम्।

ननु कर्म कर्मैव सर्वेषां न क्वचिद्व्यभिचरति। तन्न नौस्थस्य नावि गच्छन्त्यां तटस्थेष्वगतिषु नगेषु प्रतिकूलगतिदर्शनाद्दूरेषु चक्षुषाऽसंनिकृष्टेषु गच्छत्सु गत्यभावदर्शनात्। एवमिहाप्यकर्मण्यहं करोमीति कर्मदर्शनं कर्मणि चाकर्मदर्शनं विपरीतदर्शनं येन तन्निराकरणार्थमुच्यते कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादि। तदेतदुक्तप्रतिवचनमप्यसकृदत्यन्तविपरीतदर्शनभाविततया मोमुह्यमानो लोकः श्रुतमप्यसकृत्तत्त्वं विस्मृत्य मिथ्याप्रसङ्गमवतार्यावतार्य चोदयतीति पुनः पुनरुत्तरमाह भगवान्दुर्विज्ञेयत्वं चाऽऽलक्ष्य वस्तुनः। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं' (गी. २.२५) 'न जायते

म्रियते' (गी. २.२०) इत्यादिनाऽऽत्मनि कर्माभावः श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्ध उक्तो वक्ष्यमाणश्च। तस्मिन्नात्मनि कर्माभावेऽकर्मणि कर्मविपरीतदर्शनमत्यन्तनिरूढम्।

यतः 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (गी. ४.१६) देहाद्याश्रयं कर्माऽऽत्मन्यध्यारोप्याहं कर्ता ममैतत्कर्म, मयाऽस्य फलं भोक्तव्यमिति च। तथाऽहं तूष्णीं भवामि येनाहं निरायासोऽकर्मा सुखी स्यामिति कार्यकरणाश्रयव्यापारोपरमं तत्कृतं च सुखित्वमात्मन्यध्यारोप्य न करोमि किंचित्तूष्णीं सुखमासमित्यभिमन्यते लोकः, तत्रेदं लोकस्य विपरीतदर्शनापनयनायाऽऽह भगवान्कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादि। अत्र च कर्म कर्मैव सत्कार्यकरणाश्रयं, कर्मरहितेऽविक्रिय आत्मनि सर्वैरध्यस्तं, यतः पण्डितोऽप्यहं करोमीति मन्यते। अत आत्मसमवेततया सर्वलोकप्रसिद्धे कर्मणि नदीकूलस्थेष्विव, वृक्षेषु गतिः प्रातिलोम्येनाकर्म कर्माभावं यथाभूतं गत्यभावमिव वृक्षेषु यः पश्येदकर्मणि च कार्यकरणव्यापारोपरमे कर्मवदात्मन्यध्यारोपिते तूष्णीमकुर्वन्सुखमास इत्यहंकाराभिसंधिहेतुत्वात्तस्मिन्नकर्मणि च कर्म यः पश्येत्। य एवं कर्माकर्मविभागज्ञः स बुद्धिमान्पण्डितो मनुष्येषु स युक्तो योगी कृत्स्नकर्मकृच्च सोऽशुभान्मोक्षितः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः।

अयं श्लोकोऽन्यथा व्याख्यातः कैश्चित्। कथं? नित्यानां किल कर्मणामीश्वरार्थेऽनुष्ठीयमानानां तत्फलाभावादकर्माणि तान्युच्यन्ते गौण्या वृत्त्या। तेषां चाकरणमकर्म तच्च प्रत्यवायफलत्वात्कर्मोच्यते गौण्यैव वृत्त्या। तत्र नित्ये कर्मण्यकर्म यः पश्येत्फलाभावाद्यथा धेनुरपि गौरगौरुच्यते क्षीराख्यं फलं न

प्रयच्छतीति तद्वत्। तथा नित्याकरणे त्वकर्मणि कर्म यः पश्येन्नरकादिप्रत्यवायफलं प्रयच्छतीति।

नैतद्युक्तं व्याख्यानमेवं ज्ञानादशुभान्मोक्षानुपपत्तेः 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' (गी. ४.१६) इति भगवतोक्तं वचनं बाध्येत। कथं; नित्यानामनुष्ठानादशुभात्स्यान्नाम मोक्षणं न तु तेषां फलाभावज्ञानात्। न हि नित्यानां फलाभावज्ञानमशुभ-मुक्तिफलत्वेन चोदितं नित्याकरणकर्म ज्ञानं वा। न च भगव-तैवेहोक्तम्।

एतेनाकर्मणि कर्मदर्शनं प्रत्युक्तम्। न ह्यकर्मणि कर्मेति दर्शनं कर्तव्यतयेह चोद्यते, नित्यस्य तु कर्तव्यतामात्रम्। न चाकरणान्नित्यस्य प्रत्यवायो भवतीति विज्ञानात्किंचित्फलं स्यात्। नापि नित्याकरणं ज्ञेयत्वेन चोदितम्। नापि कर्माकर्मेति मिथ्यादर्शनादशुभान्मोक्षणं बुद्धिमत्त्वं युक्तता कृत्स्नकर्मकृत्त्वादि च फलमुपपद्यते स्तुतिर्वा। मिथ्याज्ञानमेव हि साक्षादशुभरूपं कुतोऽन्यस्मादशुभान्मोक्षणं, न हि तमस्तमसो निवर्तकं भवति।

ननु कर्मणि यदकर्मदर्शनमकर्मणि वा कर्मदर्शनं न तन्मिथ्याज्ञानं, किं तर्हि गौणं फलभावाभावनिमित्तम्। न कर्माकर्मविज्ञानादपि गौणात्फलस्याश्रवणात्। नापि श्रुतहा-न्यश्रुतपरिकल्पनया कश्चिद्विशेषो लभ्यते। स्वशब्देनापि शक्यं वक्तुं नित्यकर्मणां फलं नास्त्यकरणाच्च तेषां नरकपातः स्यादिति। तत्र व्याजेन परव्यामोहरूपेण कर्मण्यकर्म यः पश्ये-दित्यादिना किम्। तत्रैवं व्याचक्षाणेन भगवतोक्तं वाक्यं लोकव्यामोहार्थमिति व्यक्तं कल्पितं स्यात्। न चैतच्छद्मरूपेण वाक्येन रक्षणीयं वस्तु, नापि शब्दान्तरेण पुनः पुनरुच्यमानं सुबोधं स्यादित्येवं वक्तुं युक्तम्। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'

(गी. २.४७) इत्यत्र हि स्फुटतर उक्तोऽर्थो न पुनर्वक्तव्यो भवति। सर्वत्र च प्रशस्तं बोद्धव्यं च कर्तव्यमेव न निष्प्रयोजनं बोद्धव्यमित्युच्यते।

न च मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं भवति, तत्प्रत्युपस्थापितं वा वस्त्वाभासम्। नापि नित्यानामकरणादभावात्प्रत्यवायभावोत्पत्तिः 'नासतो विद्यते भावः' (गी. २.१६) इति वचनात् 'कथमसतः सज्जायेत' (छा. ६.२.२) इति च दर्शितम्। असतः सज्जन्मप्रतिषेधादसतः सदुत्पत्तिं ब्रुवताऽसदेव सद्भवेत्सच्चासद्भवेदित्युक्तं स्यात्। तच्चायुक्तं सर्वप्रमाणविरोधात्। न च निष्फलं विदध्यात्कर्म शास्त्रं दुःखस्वरूपत्वाद्दुःखस्य च बुद्धिपूर्वकतया कार्यत्वानुपपत्तेः तदकरणे च नरकपाताभ्युपगमेऽनर्थायैवोभयथाऽपि करणेऽकरणे च शास्त्रं निष्फलं कल्पितं स्यात्। स्वाभ्युपगमविरोधश्च नित्यं निष्फलं कर्मेत्यभ्युपगम्य मोक्षफलायेति ब्रुवतः। तस्माद्यथाश्रुत एवार्थः "कर्मण्यकर्म यः" इत्यादेः। तथा च व्याख्यातोऽस्माभिः श्लोकः॥१८॥

तदेतत्कर्मण्यकर्मादिदर्शनं स्तूयते—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

जिसके सभी कर्म काम एवं उसके कारण संकल्प के बिना ही होते हैं और जिन्होंने कर्म अकर्म दर्शनरूप ज्ञानाग्नि से शुभाशुभ कर्मों को दग्ध कर दिया है उसे ब्रह्मवित् पुरुष परमार्थतः पण्डित कहते हैं॥१९॥

यस्येति। **यस्य** यथोक्तदर्शिनः **सर्वे** यावन्तः **समारम्भाः** कर्माणि समारभ्यन्त इति समारम्भाः **कामसंकल्पवर्जिताः** कामैस्तत्कारणैश्च संकल्पैर्वर्जिता मुधैव चेष्टामात्रा अनुष्ठीयन्ते प्रवृत्तेन चेल्लोकसंग्रहार्थं निवृत्तेन

चेज्जीवनमात्रार्थं, तं **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं** कर्मादावकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन ज्ञानाग्निना दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य, **तमाहुः** परमार्थतः **पण्डितं बुधा** ब्रह्मविदः ॥१९॥

यस्त्वकर्मादिदर्शी सोऽकर्मादिदर्शनादेव निष्कर्मा संन्यासी जीवनमात्रार्थचेष्टः सन्कर्मणि न प्रवर्तते यद्यपि प्राग्विवेकतः प्रवृत्तः। यस्तु प्रारब्धकर्मा सन्नुत्तरकालमुत्पन्नात्मसम्यग्दर्शनः स्यात्स कर्मणि प्रयोजनमपश्यन्ससाधनं कर्म परित्यजत्येव। स कुतश्चिन्निमित्तात्कर्मपरित्यागासंभवे सति कर्मणि तत्फले च सङ्गरहिततया स्वप्रयोजनाभावाल्लोकसंग्रहार्थं पूर्ववत्कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात्तदीयं कर्माकर्मैव संपद्यत इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्नाह—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

कर्म और उसके फल में आसक्ति का त्यागकर विषयों में नित्य निराकांक्ष, आश्रयरहित पुरुष कर्म में प्रवृत्त होता हुआ भी कुछ भी नहीं करता ॥२०॥

त्यक्त्वेति। **त्यक्त्वा** कर्मस्वभिमानं **फलासङ्गं** च यथोक्तेन ज्ञानेन **नित्यतृप्तो** निराकाङ्क्षो विषयेष्वित्यर्थः। **निराश्रय** आश्रयरहितः। आश्रयो नाम यदाश्रित्य पुरुषार्थं सिसाधयिषति। दृष्टादृष्टेष्टफलसाधनाश्रयरहित इत्यर्थः। विदुषा क्रियमाणं कर्म परमार्थतोऽकर्मैव, तस्य निष्क्रियात्मदर्शनसंपन्नत्वात्। तेनैवंभूतेन प्रयोजनाभावात्ससाधनं कर्म परित्यक्तव्यमेवेति प्राप्ते ततो निर्गमासंभवाल्लोकसंग्रहचिकीर्षया शिष्टविगर्हणापरि-

जिहीर्षया वा पूर्ववत्कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि निष्क्रियात्मदर्शनसंपन्नत्वान्नैव किंचित्करोति सः॥२०॥

यः पुनः पूर्वोक्तविपरीतः प्रागेव कर्मारम्भाद्ब्रह्मणि सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि निष्क्रिये संजातात्मदर्शनः स दृष्टादृष्टेष्टविषयाशीर्विवर्जिततया दृष्टादृष्टार्थे कर्मणि प्रयोजनमपश्यन्ससाधनं कर्म संन्यस्य शरीरयात्रामात्रचेष्टो यतिर्ज्ञाननिष्ठो मुच्यत इत्येतमर्थं दर्शयितुमाह—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

जिसकी आशायें निकल चुकी हैं और जिसने अन्तःकरण तथा कार्यकरणसंघातरूप आत्मा को संयमित कर रखा है इसीलिए सभी परिग्रहों का परित्याग भी कर दिया है, ऐसा आत्मज्ञानी शरीरनिर्वाहमात्र के लिए कर्म करता हुआ भी पुनर्जन्मरूप किल्बिष को प्राप्त नहीं करता॥२१॥

निरिति। **निराशीर्**निर्गता आशिषो यस्मात्स निराशीः, **यतचित्तात्मा** चित्तमन्तःकरणमात्मा बाह्यः कार्यकरणसंघातस्तावुभावपि यतौ संयतौ येन स यतचित्तात्मा, **त्यक्तसर्वपरिग्रह**स्त्यक्तः सर्वः परिग्रहो येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः **शारीरं** शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं **केवलं** तत्राप्यभिमानवर्जितं **कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति** न प्राप्नोति **किल्बिष**मनिष्टरूपं पापं धर्मं च। धर्मोऽपि मुमुक्षोः किल्बिषमेव बन्धापादकत्वात्।

किंच शारीरं केवलं कर्मेत्यत्र किं शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं कर्माभिप्रेतमाहोस्विच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरं कर्मेति। किंचातो, यदि शारीरनिर्वर्त्यं शारीरं कर्म यदि वा शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरमिति, उच्यते—यदा शरीरनिर्वर्त्यं कर्म-

शारीरमभिप्रेतं स्यात्तदा दृष्टादृष्टप्रयोजनं कर्म प्रतिषिद्धमपि शरीरेण कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमिति ब्रुवतो विरुद्धाभिधानं प्रसज्येत। शास्त्रीयं च कर्म दृष्टादृष्टप्रयोजनं शरीरेण कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमित्यपि ब्रुवतोऽप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गः। शारीरं कर्म कुर्वन्निति विशेषणात्केवलशब्दप्रयोगाच्च वाङ्मनसनिर्वर्त्यं कर्म विधिप्रतिषेधविषयं धर्माधर्मशब्दवाच्यं कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषमित्युक्तं स्यात्। तत्रापि वाङ्मनसाभ्यां विहितानुष्ठानपक्षे किल्बिषप्राप्तिवचनं विरुद्धमापद्येत। प्रतिषिद्धसेवापक्षेऽपि भूतार्थानुवादमात्रमनर्थकं स्यात्। यदा तु शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरं कर्माभिप्रेतं भवेत्तदा दृष्टादृष्टप्रयोजनं कर्म विधिप्रतिषेधगम्यं शरीरवाङ्मनसनिर्वर्त्यमन्यदकुर्वंस्तैरेव शरीरादिभिः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं केवलशब्दप्रयोगादहं करोमीत्यभिमानवर्जितः शरीरादिचेष्टामात्रं लोकदृष्ट्या कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्। एवंभूतस्य पापशब्दवाच्यकिल्बिषप्राप्त्यसंभवात्किल्बिषं संसारं नाऽऽप्नोति ज्ञानाग्निदग्धसर्वकर्मत्वादप्रतिबन्धेन मुच्यत एवेति पूर्वोक्तसम्यग्दर्शनफलानुवाद एवैषः। एवं शारीरं केवलं कर्मेत्यस्यार्थस्य परिग्रहे निरवद्यं भवति॥२१॥

त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेरन्नादेः शरीरस्थितिहेतोः परिग्रहस्याभावाद्याचनादिना शरीरस्थितौ कर्तव्यतायां प्राप्तायाम् 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' (बोधायनस्मृति २१.८.१२) इत्यादिना वचनेनानुज्ञातं यतेः शरीरस्थितिहेतोरन्नादेः प्राप्तिद्वारमाविष्कुर्वन्नाऽऽह—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते॥२२॥

जो ज्ञानी यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट है, शीतोष्णादि द्वन्द्वों से अतीत

यदृच्छा - अप्रार्थित:

है, निर्वैरबुद्धि है और यदृच्छालाभ की सिद्धि और असिद्धि में समान है ऐसा ज्ञानी संन्यासी यथाभूत आत्मदर्शननिष्ठ शरीर रक्षा मात्र प्रयोजन वाले भिक्षाटनादि कर्म में कर्तृत्वाभाव देखता हुआ कुछ भी नहीं करता है और न भिक्षाटनादि कर्म करके बँधता ही है॥२२॥

यदृच्छेति। **यदृच्छालाभसंतुष्टो**ऽप्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभस्तेन संतुष्टः-संजातालंप्रत्ययो **द्वन्द्वातीतो** द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिर्हन्यमानोऽप्यविषण्णचित्तो द्वंद्वातीत उच्यते। **विमत्सरो** विगतमत्सरो निर्वैरबुद्धिः **समस्तुल्यो** यदृच्छा-लाभस्य **सिद्धावसिद्धौ च**। य एवंभूतो यतिरन्नादेः शरीर-स्थितिहेतोर्लाभालाभयोः समो हर्षविषादवर्जितः कर्मादाव-कर्मादिदर्शी यथाभूतात्मदर्शननिष्ठः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजने भिक्षाटनादिकर्मणि शरीरादिनिर्वर्त्ये नैव किंचित्करोम्यहं 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इत्येवं सदा संपरिचक्षाण आत्मनः कर्तृत्वाभावं पश्यन्नैव किंचिद्भिक्षाटनादिकं कर्म करोति। लोकव्यवहारसामा-न्यदर्शनेन तु लौकिकैरारोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति। स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणादिजनितेनाकर्तैव। स एवं पराध्यारोपितकर्तृत्वं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिकं कर्म **कृत्वाऽपि न निबध्यते** बन्धहेतोः कर्मणः सहेतुकस्य ज्ञानाग्निना दग्धत्वादित्युक्तानुवाद एवैषः॥२२॥

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' (गी. ४.२०) इत्यनेन श्लोकेन यः प्रारब्धकर्मा सन्यदा निष्क्रियब्रह्मात्मदर्शनसंपन्नः स्यात्तदा तस्याऽऽत्मनः कर्तृकर्मप्रयोजनाभावदर्शिनः कर्मपरित्यागे प्राप्ते कुतश्चिन्निमित्तात्तदसंभवे सति पूर्ववत्तस्मिन्कर्मण्य-भिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स इति कर्माभावः प्रदर्शितः। यस्यैवं कर्माभावो दर्शितस्तस्यैव—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥२३॥

जिसकी सभी ओर से आसक्ति मिट चुकी है। धर्माधर्मादि, फल द्वारा जीव को बाँधते हैं उस बन्धन से जो छूट गया हो और ब्रह्मात्मैक्य दर्शन रूप में जिसका चित्त अवस्थित हो, ऐसा व्यक्ति भी जब लोक संग्रहादि दृष्टि से यज्ञ सम्पादन के लिए आचरण करता है, तो उसका फल के सहित कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है॥२३॥

गतसङ्गस्य सर्वतो निवृत्तासक्ते**र्मुक्तस्य** निवृत्तधर्माधर्मादिबन्धनस्य **ज्ञानावस्थितचेतसो** ज्ञान एवावस्थितं चेतो यस्य सोऽयं ज्ञानावस्थितचेतास्तस्य **यज्ञाय** यज्ञनिर्वृत्त्यर्थमा**चरतो** निर्वर्तयतः **कर्म समग्रं** सहाग्रेण फलेन वर्तत इति समग्रं कर्म तत्समग्रं **प्रविलीयते** विनश्यतीत्यर्थः॥२३॥

कस्मात्पुनः कारणात्क्रियमाणं कर्म स्वकार्यारम्भमकुर्वत्समग्रं प्रविलीयत इत्युच्यते। यतः—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥

लोक जिसे अर्पणबुद्धि से ग्रहण करता है वह जिस प्रकार ब्रह्मज्ञानी के लिए ब्रह्म ही है, वैसे हवि भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म कर्ता के द्वारा जो होम क्रिया की गयी है वह भी ब्रह्म ही है। ऐसे व्यक्ति को 'ब्रह्मकर्मसमाधिः' पद से कहा गया है, उस व्यक्ति के द्वारा गन्तव्यतत्त्व भी ब्रह्म ही है॥२४॥

ब्रह्मेति। **ब्रह्मार्पणं** येन करणेन ब्रह्मविद्धविरग्नावर्पयति तद्ब्रह्मैवेति पश्यति तस्याऽऽत्मव्यतिरेकेणाभावं पश्यति, यथा शुक्तिकायां रजताभावं पश्यति तदुच्यते ब्रह्मैवार्पणमिति। यथा

क्रिया को सम्पादित करने वाले कारकों को (साधकी कारण साधनी) कारक कहते हैं। जिस देश में काल में क्रिया हो कर कर्म करते हैं वह अधिकरण कहा जाता है

यद्रजतं तच्छुक्तिकैवेति। ब्रह्म, अर्पणमित्यसमस्ते पदे। यदर्पणबुद्ध्या गृह्यते लोके तदस्य ब्रह्मविदो ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हवि- इन्ग्रेडिएन्ट - प्राप्त करने के लिए खर्च करते हैं निवेश करते हैं

ब्रह्म हविस्तथा यद्धविर्बुद्ध्या गृह्यमाणं तद्ब्रह्मैवास्य। तथा **ब्रह्माग्नाविति** समस्तं पदम्, अग्निरपि ब्रह्मैव। यत्र हूयते **ब्रह्मणा** कर्त्रा ब्रह्मैव कर्तेत्यर्थः। यत्तेन **हुतं** हवनक्रिया तद्ब्रह्मैव। **यत्तेन गन्तव्यं** फलं तदपि **ब्रह्मैव**। **ब्रह्मकर्मसमाधिना** ब्रह्मैव कर्म ब्रह्मकर्म तस्मिन्समाधिर्यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्मैव गन्तव्यम्। एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षुणाऽपि क्रियमाणं कर्म परमार्थतोऽकर्म, ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितत्वात्। एवं सति निवृत्तकर्मणोऽपि सर्वकर्मसंन्यासिनः सम्यग्दर्शनस्तुत्यर्थं सम्यग्ज्ञानरूपे अध्यात्मयज्ञे यज्ञत्वसंपादनं ज्ञानस्य सुतरामुपपद्यते यदर्पणाद्यधियज्ञे प्रसिद्धं तदस्याध्यात्मं ब्रह्मैव परमार्थदर्शिन इति। अन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वेऽर्पणादीनामेव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानमनर्थकं स्यात्। तस्माद्ब्रह्मैवेदं सर्वमित्यभिजानतो विदुषः सर्वकर्माभावः। कारकबुद्ध्यभावाच्च। नहि कारकबुद्धिरहितं यज्ञाख्यं कर्म दृष्टम्। सर्वमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म शब्दसमर्पितदेवताविशेषसंप्रदानादिकारकबुद्धिमत्कर्त्रभिमानफलाभिसंधिमच्च दृष्टं, नोपमृदितक्रियाकारकफलभेदबुद्धिमत्कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिरहितं वा। इदं तु ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादि कारकक्रियाफलभेदबुद्धिकर्मातोऽकर्मैव तत्।

तथा च दर्शितं 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (गी. ४.१८) 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' (गी. ४.२०) 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३.२८) 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (गी. ५.८) इत्यादिभिः। तथा च

दर्शयंस्तत्र तत्र क्रियाकारकफलभेदबुद्ध्युपमर्दं करोति। दृष्टा च काम्याग्निहोत्रादौ कामोपमर्देन काम्याग्निहोत्रादिहानिः। तथा मतिपूर्वकामतिपूर्वकादीनां कर्मणां कार्यविशेषस्याऽऽरम्भकत्वं दृष्टम्। तथेहापि ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादिकारकक्रियाफल-भेदबुद्धेर्बाह्यचेष्टामात्रेण कर्मापि विदुषोऽकर्म संपद्यते। अत उक्तं समग्रं प्रविलीयत इति।

अत्र केचिदाहुर्यद्ब्रह्म तदर्पणादीनि। ब्रह्मैव किलार्पणादिना पञ्चविधेन कारकात्मना व्यवस्थितं सत्तदेव कर्म करोति। तत्र नार्पणादिबुद्धिर्निवर्त्यते किंत्वर्पणादिषु ब्रह्मबुद्धिराधीयते। यथा प्रतिमादौ विष्ण्वादिबुद्धिर्यथा वा नामादौ ब्रह्मबुद्धिरिति। सत्यमेवमपि स्याद्यदि ज्ञानयज्ञस्तुत्यर्थं प्रकरणं न स्यात्। अत्र तु सम्यग्दर्शनं ज्ञानयज्ञशब्दितमनेकान्यज्ञशाब्दितान्क्रियाविशेषा-नुपन्यस्य 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' (गी. ४.३३) इति ज्ञानं स्तौति। अत्र च समर्थमिदं वचनं ब्रह्मार्पणमित्यादि ज्ञानस्य यज्ञत्वसंपादनेऽन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वेऽर्पणादीनामेव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानमनर्थकं स्यात्। ये त्वर्पणादिषु प्रतिमायां विष्णुदृष्टिवद्ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते, नामादिष्विव चेति ब्रुवते, न तेषां ब्रह्मविद्योक्तेह विवक्षिता स्यादर्पणादिविषयत्वाज्ज्ञानस्य। न च दृष्टिसंपादनज्ञानेन मोक्षफलं प्राप्यते 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' इति चोच्यते। विरुद्धं च सम्यग्दर्शनमन्तरेण मोक्षफलं प्राप्यत इति। प्रकृतविरोधश्च-सम्यग्दर्शनं च प्रकृतं 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यत्रान्ते च सम्यग्दर्शनं, तस्यैवोपसंहारात्। 'श्रेया-न्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' (गी. ४.३३) 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्' (गी. ४.३९) इत्यादिना सम्यग्दर्शनस्तुतिमेव कुर्वन्नुपक्षीणोऽध्यायः। तत्राकस्मादर्पणादौ ब्रह्मदृष्टिरप्रकरणे

प्रतिमायामिव विष्णुदृष्टिरुच्यत इत्यनुपपन्नम्। तस्माद्यथाव्याख्यातार्थ एवायं श्लोकः॥२४॥

तत्राधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं संपाद्य तत्स्तुत्यर्थमन्येऽपि यज्ञा उपक्षिप्यन्ते—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥

कुछ योगीलोग (देवता पूजनार्थ) दैवयज्ञ की उपासना करते हैं और कुछ अन्य ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ (आत्मा) की आहुति करते हैं। अर्थात् सोपाधिक आत्मा को निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप देखते हैं॥२५॥

दैवमेवेत्यादिना। **दैवमेव** देवा इज्यन्ते येन यज्ञेनासौ दैवो यज्ञस्तमे**वापरे यज्ञं योगिनः** कर्मिणः **पर्युपासते** कुर्वन्तीत्यर्थः। **ब्रह्माग्नौ** "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै. २.१) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ. ३.९.२८) "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "य आत्मा सर्वान्तर" (बृ. ३.४.२) इत्यादिवचनोक्तमशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितं नेति नेतीति निरस्ताशेषविशेषं ब्रह्मशब्देनोच्यते। ब्रह्म च तदग्निश्च स होमाधिकरणत्वविवक्षया ब्रह्माग्निस्तस्मिन्ब्रह्माग्ना**वपरे**ऽन्ये ब्रह्मविदो **यज्ञं** यज्ञशब्दवाच्य आत्माऽऽत्मनामसु यज्ञशब्दस्य पाठात्तमात्मानं यज्ञं परमार्थतः परमेव ब्रह्म सन्तं बुद्ध्याद्युपाधिसंयुक्तमध्यस्तसर्वोपाधिधर्मकमाहुतिरूपं **यज्ञेनैवा**ऽऽत्मनैवोक्तलक्षणेनो**पजुह्वति** प्रक्षिपन्ति। सोपाधिकस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेणैव यद्दर्शनं स तस्मिन्होमस्तं कुर्वन्ति ब्रह्मात्मैकत्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः। सोऽयं सम्यग्दर्शनलक्षणो यज्ञो दैवयज्ञादिषु यज्ञेषूपक्षिप्यते ब्रह्मार्पणमित्यादिश्लोकैः 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप' (गी. ४.३३) इत्यादिना स्तुत्यर्थम्॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

इन्द्रिय संयम ही अग्नि है, उसमें कुछ योगी लोग श्रोत्रादि इन्द्रियों की आहुति करते हैं। (ऐसे योगी सदा इन्द्रियों को संयमित रखते हैं।) इनसे भिन्न योगी शब्दादि विहित विषयों की आहुति इन्द्रिय रूप अग्नि में डालते हैं, इनकी दृष्टि में इन्द्रियाँ ही अग्नि हैं। (उन इन्द्रियों से सदा विहित विषयों का ही ग्रहण करते हैं और उसे वे होम मानते हैं) ॥२६॥

श्रोत्रादीनीति। **श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये** योगिनः **संयमाग्निषु** प्रतीन्द्रियं संयमो भिद्यत इति बहुवचनम्, संयमा एवाग्नयस्तेषु **जुह्वती**न्द्रियसंयममेव कुर्वन्तीत्यर्थः। '**शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति**' इन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेष्विन्द्रियाग्निषु जुह्वति श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं होमं मन्यन्ते॥२६॥

किंच—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥

दूसरे योगी लोग सभी इन्द्रियों के व्यापार एवं प्राण के व्यापार को ज्ञान से प्रज्ज्वलित आत्मसंयम रूप योगाग्नि में होमते रहते हैं॥२७॥

सर्वाणीति। **सर्वाणीन्द्रियकर्माणी**न्द्रियाणां कर्माणीन्द्रियकर्माणि तथा **प्राणकर्माणि** प्राणो वायुराध्यात्मिकस्तत्कर्माण्याकुञ्चनप्रसारणादीनि तानि **चापर आत्मसंयमयोगाग्नावा**त्मनि संयम आत्मसंयमः स एव योगाग्निस्तस्मिन्नात्मसंयमयोगाग्नौ **जुह्वति** प्रक्षिपन्ति **ज्ञानदीपिते** स्नेहेनेव प्रदीपिते विवेकविज्ञानेनोज्ज्वलभावमापादिते प्रविलापयन्तीत्यर्थः॥२७॥

आत्मसंयमयोगः। तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दूसरे (कई पुरुष) तीर्थों में यज्ञबुद्धि से द्रव्य का जो विनियोग करते हैं वे द्रव्यमय यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। वैसे ही यज्ञबुद्धि से तप का अनुष्ठान करने वाले तपस्वी तपोयज्ञ में रत हैं। प्राणायाम, प्रत्याहारादिरूप योग के अभ्यासी योगयज्ञानुष्ठायी हैं। ऋग्वेदादि का अभ्यास करने वाले स्वाध्यायरत योगी भी होते हैं। शास्त्र के अर्थज्ञान के लिए प्रयत्न करने वाले ज्ञानयज्ञानुष्ठायी हैं और जो अत्यन्त दृढ़ता के साथ अपने व्रत का अनुष्ठान करते हैं वे यत्नशील साधक संशितव्रत माने जाते हैं॥२८॥

द्रव्येति। **द्रव्ययज्ञा**स्तीर्थेषु द्रव्यविनियोगं यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति ये ते द्रव्ययज्ञाः, **तपोयज्ञा** ये तपस्विनस्ते तपोयज्ञाः, **योगयज्ञाः** प्राणायामप्रत्याहारादिलक्षणो योगो यज्ञो येषां ते योगयज्ञास्**तथाऽपरे स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च** स्वाध्यायो यथाविधि ऋगाद्यभ्यासो यज्ञो येषां ते स्वाध्याययज्ञा ज्ञानयज्ञा ज्ञानं शास्त्रार्थपरिज्ञानं यज्ञो येषां ते ज्ञानयज्ञाश्च **यतयो** यतनशीलाः **संशितव्रताः** सम्यक्शितानि तनूकृतानि तीक्ष्णीकृतानि व्रतानि येषां ते संशितव्रताः॥२८॥

किंच—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कुछ योगी लोग अपानवृत्ति में प्राणवृत्ति की आहुति करते हैं अर्थात् पूरक प्राणायाम करते हैं, दूसरे योगी प्राण में अपान की आहुतिकर रेचक प्राणायाम का अभ्यास करते हैं और इन दोनों से भिन्न प्राण और अपान की गति रोककर सदा कुम्भकप्राणायामपरायण रहते हैं॥२९॥

अपान इति। **अपानेऽ**पानवृत्तौ **जुह्वति** प्रक्षिपन्ति **प्राणं**

प्राणवृत्तिं पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। **प्राणेऽपानं तथाऽपरे** जुह्वति रेचकाख्यं च प्राणायामं कुर्वन्तीत्येतत्। **प्राणापानगती** मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमनं प्राणस्य गतिस्तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य ते प्राणापानगती एते **रुद्ध्वा** निरुध्य **प्राणायामपरायणाः** प्राणायामतत्पराः कुम्भकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः॥२९॥

किंच—

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥३०॥

दूसरे परिमित आहार करने वाले योगी प्राणों में प्राणों की आहुति करते हैं। ये सभी यज्ञविद् हैं, क्योंकि यज्ञ के द्वारा इन्होंने अपने कल्मष को नष्ट कर दिया है॥३०॥

अपर इति। **अपरे नियताहारा** नियतः परिमित आहारो येषां ते नियताहाराः सन्तः प्राणान्वायुभेदान्**प्राणेष्वेव जुह्वति**। यस्य यस्य वायोर्जयः क्रियत इतरान्वायुभेदांस्तस्मिंस्तस्मिञ्जुह्वति ते तत्र प्रविष्टा इव भवन्ति। **सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा** यज्ञैर्यथोक्तैः क्षपितो नाशितः कल्मषो येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः॥३०॥

एवं यथोक्तान्यज्ञान्निर्वर्त्य—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

यज्ञशिष्ट अमृतभोग करने वाले साधक सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। हे कुरुवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! उक्त यज्ञों में से एक भी यज्ञ का अनुष्ठान जिसने नहीं किया ऐसे व्यक्ति को तो यह सर्वप्राणी साधारण

लोक भी प्राप्त नहीं होता, फिर भला ऐसे को विशिष्ट साधनसाध्य लोक कहाँ से मिलेगा॥३१॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यज्ञानां शिष्टं यज्ञशिष्टं यज्ञशिष्टं च तदमृतं च यज्ञशिष्टामृतं तद्भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजो यथोक्तान्यज्ञान्कृत्वा तच्छिष्टेन कालेन यथाविधि चोदितमन्नममृताख्यं भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजो **यान्ति** गच्छन्ति **ब्रह्म सनातनं** चिरंतनं मुमुक्षवश्चेत्कालातिक्रमापेक्षयेति सामर्थ्याद्गम्यते। **नायं लोकः** सर्वप्राणिसाधारणोऽप्यस्ति यथोक्तानां यज्ञानामेकोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति सोऽयज्ञस्तस्य **कुतोऽन्यो** विशिष्टसाधनसाध्यः **कुरुसत्तम**॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

इस प्रकार वेद द्वारा विस्तार से अनेक प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं, उन सभी को कर्मजन्य समझो। ऐसा जानकर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे॥३२॥

एवमिति। **एवं** यथोक्ता **बहुविधा** बहुप्रकारा **यज्ञा वितता** विस्तीर्णा **ब्रह्मणो** वेदस्य **मुखे** द्वारे वेदद्वारेणावगम्यमाना ब्रह्मणो मुखे वितता उच्यन्ते, तद्यथा 'वाचि हि प्राणं जुहुम' इत्यादयः। **कर्मजान्**कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवा**न्विद्धि तान्सर्वान**नात्मजान्। निर्व्यापारो ह्यात्मा। अत **एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**ऽशुभात्। न मद्व्यापारा इमे, निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वाऽस्मात्सम्यग्दर्शनान्मोक्ष्यसे संसारबन्धनादित्यर्थः॥३२॥

ब्रह्मार्पणमित्यादिश्लोकेन सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं संपादितं

यज्ञाश्चानेक उपदिष्टास्तैः सिद्धपुरुषार्थप्रयोजनैर्ज्ञानं स्तूयते। कथम्—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥३३॥

हे परंतप! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि हे पार्थ! सभी कर्म अप्रतिबद्ध हो मोक्ष के साधन ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं॥३३॥

श्रेयानिति। **श्रेयान्द्रव्यमयाद्** द्रव्यसाधनसाध्याद्यज्ञा-**ज्ज्ञानयज्ञो,** हे **परंतप**। द्रव्यमयो हि यज्ञः फलस्याऽऽरम्भको ज्ञानयज्ञो न फलारम्भकोऽतः श्रेयान्प्रशस्यतरः। कथं, यतः **सर्वं कर्म** समस्तमखिलमप्रतिबद्धं **पार्थ ज्ञाने** मोक्षसाधने सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीये **परिसमाप्यते**ऽन्तर्भवतीत्यर्थः। "यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंचित्प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद" (छा. ४.१.४) इति श्रुतेः॥३३॥

तदेतद्विशिष्टं ज्ञानं तर्हि केन प्राप्यत इत्युच्यते—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

उस ज्ञान को प्राणिपात, परिप्रश्न और सेवा द्वारा तुम जानो, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे॥३४॥

तद्विद्धीति। **तद्विद्धि** विजानीहि येन विधिना प्राप्यत इत्याचार्यानभिगम्य **प्रणिपातेन** प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातोपातो दीर्घनमस्कारस्तेन कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का चाविद्येति **परिप्रश्नेन सेवया** गुरुशुश्रूषयैवमादिना प्रश्रयेणाऽऽ-

वर्जिता आचार्या **उपदेक्ष्यन्ति** कथयिष्यन्ति **ते ज्ञानं** यथोक्तविशेषणं **ज्ञानिनो** ज्ञानवन्तोऽपि केचिद्यथावत्तत्त्व-दर्शनशीला अपरे न, अतो विशिनष्टि **तत्त्वदर्शिन** इति। ये सम्यग्दर्शिनस्तैरुपदिष्टं ज्ञानं कार्यक्षमं भवति नेतरदिति भगवतो मतम्॥३४॥

तथा च सतीदमपि समर्थं वचनम्—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

हे पाण्डुनन्दन! जिस ज्ञान को प्राप्त कर तू फिर ऐसे मोह को नहीं प्राप्त करोगे, किन्तु इस ज्ञान से तू सभी भूतों को पहले अपने में देखोगे, तत्पश्चात् मुझ परमेश्वर में भी देखोगे॥३५॥

यदिति। **यज्ज्ञात्वा** यज्ज्ञानं तैरुपदिष्टमधिगम्य प्राप्य **पुनर्भूयो मोहमेवं** यथेदानीं मोहं गतोऽसि पुनरेवं **न यास्यसि हे पाण्डव**। किंच **येन** ज्ञानेन **भूतान्यशेषेण** ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि **द्रक्ष्यसि** साक्षा**दात्मनि** प्रत्यगात्मनि मत्संस्थानीमानि भूतानीति, **अथो** अपि **मयि** वासुदेवे परमेश्वरे चेमानीति क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धं द्रक्ष्यसीत्यर्थः॥३५॥

किंचैतस्य ज्ञानस्य माहात्म्यम्—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥३६॥

यदि तू सभी पापियों में अधिक पाप करने वाला अपने को मानते हो, तो भी ज्ञान रूप नौका से ही सम्पूर्ण पापों को पार कर जाओगे॥३६॥

अपीति। **अपि चेदसि पापेभ्यः** पापकृद्भ्यः **सर्वेभ्यो**-ऽतिशयेन पापकृत्**पापकृत्तमः सर्वं ज्ञानप्लवेनैव** ज्ञानमेव

प्लवं कृत्वा **वृजिनं** वृजिनार्णवं पापं **संतरिष्यसि**, धर्मोऽपीह मुमुक्षोः पापमुच्यते ॥३६॥

ज्ञानं कथं नाशयति पापमिति सदृष्टान्तमुच्यते—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि काष्ठ को भस्म कर डालती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर डालती है॥३७॥

यथेति। **यथैधांसि** काष्ठानि **समिद्धः** सम्यगिद्धो दीप्तोऽ**ग्निर्भस्मसाद्**भस्मीभावं **कुरुतेऽर्जुन** ज्ञानमेवाग्निर्**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा**। निर्बीजीकरोतीत्यर्थः। न हि साक्षादेव ज्ञानाग्निः कर्माणीन्धनवद्भस्मीकर्तुं शक्नोति, तस्मात्सम्यग्दर्शनं सर्वकर्मणां निर्बीजत्वे कारणमित्यभिप्रायः। सामर्थ्याद्येन कर्मणा शरीरमारब्धं तत्प्रवृत्तफलत्वादुपभोगेनैव क्षीयते। अतो यान्यप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि ज्ञानसहभावीनि चातीतानेकजन्मकृतानि च, तान्येव सर्वाणि भस्मसात्कुरुते॥३७॥

यत एवमतः—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति॥३८॥

इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई नहीं है। उस ज्ञान को कर्मयोग तथा समाधियोग से संस्कृत पुरुष काल पाकर स्वयं ही आत्मा में अनुभव करता है॥३८॥

न हीति। **न हि ज्ञानेन सदृशं** तुल्यं **पवित्रं** पावनं शुद्धिकर**मिह विद्यते तज्ज्ञानं** स्वयमेव **योगसंसिद्धो** योगेन

कर्मयोगेन समाधियोगेन च संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नो मुमुक्षुः कालेन महताऽऽत्मनि विन्दति लभत इत्यर्थः ॥३८॥

येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति स उपाय उपदिश्यते—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

श्रद्धालु, तत्परतायुक्त और संयत इन्द्रिय पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त कर मोक्षनामक परमशन्ति को शीघ्र ही वह साधक प्राप्त कर लेता है॥३९॥

श्रद्धावानिति। **श्रद्धावाञ्श्रद्धालुर्लभते ज्ञानम्।** श्रद्धालुत्वेऽपि भवति कश्चिन्मन्दप्रस्थानोऽत आह **तत्परो** गुरूपासनादावभियुक्तो ज्ञानलब्ध्युपाये श्रद्धावांस्तत्परोऽप्यजितेन्द्रियः स्यादित्यत आह **संयतेन्द्रियः** संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानि यस्येन्द्रियाणि स संयतेन्द्रियः। य एवंभूतः श्रद्धावांस्तत्परः संयतेन्द्रियश्च सोऽवश्यं ज्ञानं लभते। प्रणिपातादिस्तु बाह्योऽनैकान्तिकोऽपि भवति मायावित्वादिसंभवान्न तु तच्छ्रद्धावत्त्वादावित्येकान्ततो ज्ञानलब्ध्युपायः। किं पुनर्ज्ञानलाभात्स्यादित्युच्यते **ज्ञानं लब्ध्वा परां** मोक्षाख्यां **शान्तिमु**परति**मचिरेण** क्षिप्रमेव**धिगच्छति**। सम्यग्दर्शनात्क्षिप्रं मोक्षो भवतीति सर्वशास्त्रन्यायप्रसिद्धः सुनिश्चितोऽर्थः ॥३९॥

अत्र संशयो न कर्तव्यः पापिष्ठो हि संशयः। कथमुच्यते—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा विनष्ट हो जाता है। संशयात्मा को तो यह लोक भी प्राप्त नहीं होता, फिर परलोक और सुख की तो बात ही दूर रही॥४०॥

अज्ञश्चेति। **अज्ञश्चानात्मज्ञोऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा च विनश्यति**। अज्ञाश्रद्दधानौ यद्यपि विनश्यतस्तथाऽपि न तथा यथा संशयात्मा, संशयात्मा तु पापिष्ठः सर्वेषाम्। कथं, नायं साधारणोऽपि **लोकोऽस्ति** तथा **न परो** लोको **न सुखं** तत्रापि संशयोपपत्तेः **संशयात्मनः** संशयचित्तस्य। तस्मात्संशयो न कर्तव्यः ॥ ४० ॥

कस्मात्—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

परमार्थदर्शनरूप योग से जिसने सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास कर दिया है, आत्म-एकत्वरूप ज्ञान से जिसका संशय नष्ट हो गया है, हे धनंजय! ऐसे आत्मज्ञानी को कर्म नहीं बाँधते हैं ॥४१॥

योगेति। **योगसंन्यस्तकर्माणं** परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानि कर्माणि येन परमार्थदर्शिना धर्माधर्माख्यानि तं योगसंन्यस्तकर्माणम्। कथं योगसंन्यस्तकर्मेत्याह ज्ञानेनाऽऽत्मेश्वरैकत्वदर्शनलक्षणेन संछिन्नः संशयो यस्य स **ज्ञानसंछिन्नसंशयः**। य एवं योगसंन्यस्तकर्मा तमा**त्मवन्त**मप्रमत्तं गुणचेष्टारूपेण दृष्टानि **कर्माणि न निबध्नन्त्य**निष्टादिरूपं फलं नाऽऽरभन्ते हे **धनंजय** ॥ ४१ ॥

यस्मात्कर्मयोगानुष्ठानादशुद्धिक्षयहेतुकज्ञानसंछिन्नसंशयो न निबध्यते कर्मभिर्ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वादेव यस्माच्च ज्ञानकर्मानुष्ठानविषये संशयवान्विनश्यति—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

आदितः श्लो. २०४

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अतः हे अर्जुन! अज्ञान से उत्पन्न, हृदय में स्थित अपने इस संशय को ज्ञानरूप तलवार से काटकर योग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ॥४२॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चतुर्थ अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥४॥

तस्मादिति। **तस्मात्पापिष्ठमज्ञानसंभूतमज्ञानाद**विवेकाज्जातं **हृत्स्थं** हृदि बुद्धौ स्थितं **ज्ञानासिना** शोकमोहादिदोषहरं सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तदेवासिः खड्गस्तेन ज्ञानासिनाऽऽ**त्मनः** स्वस्याऽऽत्मविषयत्वात्संशयस्य। न हि परस्य संशयः परेण छेत्तव्यतां प्राप्तो येन स्वस्येति विशेष्यतेऽत आत्मविषयोऽपि स्वस्यैव भवति। **छित्त्वैनं संशयं** स्वविनाशहेतुभूतं **योगं** सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठान**मातिष्ठ** कुर्वित्यर्थः। **उत्तिष्ठे**दानीं युद्धाय **भारते**ति॥४२॥

चतुर्थाह्निकम्॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ पञ्चमोऽध्यायः

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (गी. ४.१८) इत्यारभ्य 'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्' (गी. ४.१८) 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' (गी. ४.१९) 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' (गी. ४.२१) 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' (गी. ४.२२) 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (गी. ४.२४) 'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्' (गी. ४.३२) 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ' (गी. ४.३३) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (गी. ४.३७) 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' (गी. ४.४१) इत्यन्तैर्वचनैः सर्वकर्मसंन्यासमवोचद्भगवान्, 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ' (गी. ४.४२) इत्यनेन वचनेन योगं च कर्मानुष्ठानलक्षणमनुतिष्ठेत्युक्तवान्। उभयोश्च कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोः स्थितिगतिवत्परस्परविरोधादेकेन सह कर्तुमशक्यत्वात्कालभेदेन चानुष्ठानविधानाभावादर्थादेतयोरन्यतरकर्तव्यताप्राप्तौ सत्यां यत्प्रशस्यतरमेतयोः कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोस्तत्कर्तव्यं नेतरदित्येवं मन्यमानः प्रशस्यतरबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच 'संन्यासं कर्मणां कृष्ण' इत्यादिना।

ननु चाऽऽत्मविदो ज्ञानयोगेन निष्ठां प्रतिपिपादयिषन्पूर्वोदाहृतैर्वचनैर्भगवान्सर्वकर्मसंन्यासमवोचन्न त्वनात्मज्ञस्य। अतश्च कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोर्भिन्नपुरुषविषयत्वादन्यतरस्य प्रशस्यतरत्वबुभुत्सया प्रश्नोऽनुपपन्नः। सत्यमेव त्वदभिप्रायेण प्रश्नो नोपपद्यते, प्रष्टुः स्वाभिप्रायेण पुनः प्रश्नो युज्यत एवेति वदामः।

कथं? पूर्वोदाहृतैर्वचनैर्भगवता कर्मसंन्यासस्य कर्तव्यतया विवक्षितत्वात्प्राधान्यमन्तरेण च कर्तारं तस्य कर्तव्यत्वासंभवात्। अनात्मविदपि कर्ता पक्षे प्राप्तोऽनूद्यत एव, न पुनरात्मवित्कर्तृकत्वमेव संन्यासस्य विवक्षितमिति। एवं मन्वानस्यार्जुनस्य कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोरविद्वत्पुरुषकर्तृत्वमप्यस्तीति पूर्वोक्तेन प्रकारेण तयोः परस्परविरोधादन्यतरस्य कर्तव्यत्वे प्राप्ते प्रशस्यतरं च कर्तव्यं नेतरदिति प्रशस्यतरविविदिषया प्रश्नो नानुपपन्नः।

प्रतिवचनवाक्यार्थनिरूपणेनापि प्रष्टुरभिप्राय एवमेवेति गम्यते। कथं? संन्यासकर्मयोगौ निःश्रेयसकरौ, तयोस्तु कर्मयोगो विशिष्यत इति प्रतिवचनमेतन्निरूप्यं, किमनेनाऽऽत्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोर्निःश्रेयसकरत्वं प्रयोजनमुक्त्वा तयोरेव कुतश्चिद्विशेषात्कर्मसंन्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वमुच्यते? आहोस्विदनात्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोस्तदुभयमुच्यते? इति। किंचातो, यद्यात्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोर्निःश्रेयसकरत्वं तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वमुच्यते यदि वाऽनात्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोस्तदुभयमुच्यत इति। अत्रोच्यते, आत्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोरसंभवात्तयोर्निःश्रेयसकरत्ववचनं तदीयाच्च कर्मसंन्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानमित्येतदुभयमनुपपन्नम्। यद्यनात्मविदः कर्मसंन्यासस्तत्प्रतिकूलश्च कर्मानुष्ठानलक्षणः कर्मयोगः संभवेतां, तदा तयोर्निःश्रेयसकरत्वोक्तिः कर्मयोगस्य च कर्मसंन्यासाद्विशिष्टत्वाभिधानमित्येतदुभयमुपपद्येत। आत्मविदस्तु संन्यासकर्मयोगयोरसंभवात्तयोर्निःश्रेयसकरत्वाभिधानं कर्मसंन्यासाच्च कर्मयोगो विशिष्यत इति चानुपपन्नम्।

अत्राऽऽह, किमात्मविदः संन्यासकर्मयोगयोरप्यसंभव;

आहोस्विदन्यतरस्यासंभवो, यदा चान्यतरस्यासंभवस्तदा किं कर्मसंन्यासस्येति कर्मयोगस्येत्यसंभवे कारणं च वक्तव्यमिति। अत्रोच्यते, आत्मविदो निवृत्तमिथ्याज्ञानत्वाद्विपर्ययज्ञानमूलस्य कर्मयोगस्यासंभवः स्याज्जन्मादिसर्वविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेन यो वेत्ति तस्याऽऽत्मविदः सम्यग्दर्शनेनापास्तमिथ्याज्ञानस्य निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं सर्वकर्मसंन्यासमुक्त्वा तद्विपरीतस्य मिथ्याज्ञानमूलकर्तृत्वाभिमानपुरःसरस्य सक्रियात्मस्वरूपावस्थानरूपस्य कर्मयोगस्येह शास्त्रे तत्र तत्राऽऽत्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधादभावः प्रतिपाद्यते यस्मात्तस्मादात्मविदो निवृत्तमिथ्याज्ञानस्य विपर्ययज्ञानमूलः कर्मयोगो न संभवतीति युक्तमुक्तं स्यात्। केषु केषु पुनरात्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेष्वात्मविदः कर्माभावः प्रतिपाद्यत इति। अत्रोच्यते, 'अविनाशि तु तद्विद्धि' (गी. २.१७) इति प्रकृत्य 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' (गी. २.१९) 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (गी. २.२१) इत्यादौ तत्र तत्राऽऽत्मविदः कर्माभाव उच्यते।

ननु च कर्मयोगोऽप्यात्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु तत्र तत्र प्रतिपाद्यत एव। तद्यथा—'तस्माद्युध्यस्व भारत' (गी. २.१८) 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (गी. २.३१) 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गी. २.४७) इत्यादावतश्च कथमात्मविदः कर्मयोगस्यासंभवः स्यादिति। अत्रोच्यते—सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधात्। 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' (गी. ३.३) इत्यनेन सांख्यानामात्मतत्त्वविदामनात्मवित्कर्तृककर्मयोगनिष्ठातो निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणाया ज्ञानयोगनिष्ठायाः पृथक्करणात्कृतकृत्यत्वेनाऽऽत्मविदः प्रयोजनान्तराभावात्, 'तस्य

कार्यं न विद्यते' (गी. ३.१७) इति कर्तव्यान्तराभाववचनाच्च। 'न कर्मणामनारम्भात्' (गी. ३.४) 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' (गी. ५.६) इत्यादिना चाऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वेन कर्मयोगस्य विधानात्। 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (गी. ६.३) इत्यनेन चोत्पन्नसम्यग्दर्शनस्य कर्मयोगाभाववचनात्। 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्' (गी. ४.२१) इति च शरीरस्थितिकारणातिरिक्तस्य कर्मणो निवारणात्। 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (गी. ५.८) इत्यनेन च शरीरस्थितिमात्रप्रयुक्तेष्वपि दर्शनश्रवणादिकर्मस्वात्मयाथात्म्यविदः करोमीति प्रत्ययस्य समाहितचेतस्तया सदाऽकर्तव्यत्वोपदेशादात्मतत्त्वविदः सम्यग्दर्शनविरुद्धो मिथ्याज्ञानहेतुकः कर्मयोगः स्वप्नेऽपि न संभावयितुं शक्यते यस्मात्तस्मादनात्मवित्कर्तृकयोरेव संन्यासकर्मयोगयोर्निःश्रेयसकरत्ववचनं तदीयाच्च कर्मसंन्यासात्पूर्वोक्तात्मवित्कर्तृकसर्वकर्मसंन्यासविलक्षणात्सत्येव कर्तृत्वविज्ञाने कर्मैकदेशविषयाद्यमनियमादिसहितत्वेन च दुरनुष्ठेयत्वात्सुकरत्वेन च कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानमित्येवं प्रतिवचनवाक्यार्थनिरूपणेनापि पूर्वोक्तः प्रष्टुरभिप्रायो निश्चीयत इति स्थितम्।

'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' (गी. ३.१) इत्यत्र ज्ञानकर्मणोः सहासंभवे यच्छ्रेय एतयोस्तन्मे ब्रूहीत्येवं पृष्टोऽर्जुनेन भगवान्सांख्यानां संन्यासिनां ज्ञानयोगेन निष्ठा पुनः कर्मयोगेन योगिनां निष्ठा प्रोक्तेति निर्णयं चकार। न च संन्यसनादेव केवलात्सिद्धिं समधिगच्छतीति वचनाज्ज्ञानसहितस्य तस्य सिद्धिसाधनत्वमिष्टं, कर्मयोगस्य च विधानात्, ज्ञानरहितः संन्यासः श्रेयान्किं वा कर्मयोगः श्रेयानित्येतयोर्विशेषबुभुत्सया—

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की बात कहते हो, पुनः कर्मयोग की प्रशंसा भी करते हो। अतः इन दोनों में से जो श्रेष्ठ हो, ऐसे सुनिश्चित एक साधन को मुझे बतलावें॥१॥

संन्यासं परित्यागं **कर्मणां** शास्त्रीयाणामनुष्ठानविशेषाणां **शंससि** कथयसीत्येतत्। **पुनर्योगं च** तेषामेवानुष्ठानमवश्यकर्तव्यत्वं शंसस्यतो मे कतरच्छ्रेय इति संशयः, किं कर्मानुष्ठानं श्रेयः, किंवा तद्धानमिति, प्रशस्यतरं चानुष्ठेयमतश्च **यच्छ्रेयः** प्रशस्यतर**मेतयोः** कर्मसंन्यासकर्मानुष्ठानयोर्यदनुष्ठानाच्छ्रेयोऽवाप्तिर्मम स्यादिति मन्यसे, **तदेकम**न्यतरत्सहैकपुरुषानुष्ठेयत्वासंभवा**न्मे ब्रूहि सुनिश्चितम**भिप्रेतं तवेति॥१॥

स्वाभिप्रायमाचक्षाणो निर्णयाय—

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥२॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! संन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही कल्याणकारक हैं, किन्तु इन दोनों में से (ज्ञानरहित केवल) कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है॥२॥

संन्यासः कर्मणां परित्यागः **कर्मयोगश्च** तेषामनुष्ठानं ता**वुभावपि निःश्रेयसकरौ** निःश्रेयसं मोक्षं कुर्वाते ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेनोभौ यद्यपि निःश्रेयसकरौ, तथाऽपि **तयोस्तु** निः-

श्रेयसहेत्वोः **कर्मसंन्यासात्केवलात्कर्मयोगो विशिष्यत** इति कर्मयोगं स्तौति॥२॥

कस्मादित्याह—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

वह कर्मयोगी भी नित्यसंन्यासी ही समझने योग्य है (जो सम्पूर्ण जगत् को भगवत् स्वरूप और भगवत्प्रसाद समझकर) न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है। हे महाबाहो! वह कर्मयोगी राग-द्वेष द्वन्द्व से मुक्त हुआ अनायास ही बन्धन से छूट जाता है॥३॥

ज्ञेय इति। **ज्ञेयो** ज्ञातव्यः **स** कर्मयोगी **नित्यसंन्यासीति यो न द्वेष्टि** किंचिन्न **काङ्क्षति** दुःखसुखे तत्साधने चैवंविधो यः कर्मणि वर्तमानोऽपि स नित्यसंन्यासीति ज्ञातव्य इत्यर्थः। **निर्द्वन्द्वो** द्वन्द्ववर्जितो **हि** यस्मान्**महाबाहो सुखं बन्धा**दनायासेन **प्रमुच्यते**॥३॥

संन्यासकर्मयोगयोर्भिन्नपुरुषानुष्ठेययोर्विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधो युक्तो न तूभयोर्निःश्रेयसकरत्वमेवेति प्राप्त इदमुच्यते—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४॥

सांख्य और योग को भिन्न फल वाला अविवेकी ही कहते हैं, पण्डित नहीं कहते हैं। अतः इन दोनों में से एक साधन में भी अच्छी प्रकार से स्थित हुआ पुरुष दोनों का फल (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है॥४॥

सांख्ययोगाविति। **सांख्ययोगौ पृथ**ग्विरुद्धभिन्नफलौ **बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**। पण्डितास्तु ज्ञानिन एकं फलमविरुद्धमिच्छन्ति। कथ**मेकमपि** सांख्ययोगयोः **सम्यगा**-

स्थितः सम्यगनुष्ठितवानित्यर्थः। **उभयोर्विन्दते फल-मुभयो**स्तदेव हि निःश्रेयसं फलमतो न फले विरोधोऽस्ति। ननु संन्यासकर्मयोगशब्देन प्रस्तुत्य सांख्ययोगयोः फलैकत्वं कथमिहाप्रकृतं ब्रवीति। नैष दोषः। यद्यप्यर्जुनेन संन्यासं कर्मयोगं च केवलमभिप्रेत्य प्रश्नः कृतो, भगवांस्तु तदपरि-त्यागेनैव स्वाभिप्रेतं च विशेषं संयोज्य शब्दान्तरवाच्यतया प्रतिवचनं ददौ सांख्ययोगाविति। तावेव संन्यासकर्मयोगौ ज्ञान-तदुपायसमबुद्धित्वादिसंयुक्तौ सांख्ययोगशब्दवाच्याविति भगवतो मतमतो नाप्रकृतप्रक्रियेति॥४॥

एकस्यापि सम्यगनुष्ठानात्कथमुभयोः फलं विन्दत इत्युच्यते—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों द्वारा जो मोक्ष नामक स्थान प्राप्त किया जाता है, वही स्थान योगियों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। अतः जो सांख्य और योग को फलतः अभिन्न समझता है, वही यथार्थ तत्त्वदर्शी है॥५॥

यदिति। **यत्सांख्यै**र्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिः **प्राप्यते स्थानं** मोक्षाख्यं, **तद्योगैरपि** ज्ञानप्राप्त्युपायत्वेनेश्वरे समर्प्य कर्माण्यात्मनः फलमनभिसंधायानुतिष्ठन्ति ये, ते योगिन-स्तैरपि परमार्थज्ञानसंन्यासप्राप्तिद्वारेण **गम्यत** इत्यभिप्रायः। अत **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति** फलैकत्वात्स **सम्यक्पश्यती**त्यर्थः॥५॥

एवं तर्हि योगात्संन्यास एव विशिष्यते। कथं तर्हीदमुक्तं तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति। शृणु तत्र कारणम्। त्वया पृष्टं केवलं कर्मसंन्यासं कर्मयोगं

चाभिप्रेत्य तयोरन्यतरः कः श्रेयान्। तदनुरूपं प्रतिवचनं मयोक्तं, कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानमनपेक्ष्य। ज्ञानापेक्षस्तु संन्यासः सांख्यमिति मयाऽभिप्रेतः। परमार्थयोगश्च स एव। यस्तु कर्मयोगो वैदिकः स तादर्थ्याद्योगः संन्यास इति चोपचर्यते। कथं तादर्थ्यमित्युच्यते—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

हे महाबाहो! कर्मयोग अनुष्ठान के बिना पारमार्थिक संन्यास प्राप्त करना कठिन है किन्तु कर्मयोग से युक्त, (ईश्वर स्वरूप का मनन करने वाला) मुनि ब्रह्मपद वाच्य पारमार्थिक संन्यास को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है॥६॥

संन्यासस्तु पारमार्थिको **दुःखमाप्तुं** प्राप्तु**मयोगतो** योगेन विना। **योगयुक्तो** वैदिकेन कर्मयोगेने(णे)श्वरसमर्पित-रूपेण फलनिरपेक्षेण युक्तो मुनिर्मननादीश्वरस्वरूपस्य **मुनि-र्ब्रह्म** परमात्मज्ञानलक्षणत्वात्प्रकृतः संन्यासो ब्रह्मोच्यते। "न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः" (ना. उ. २.७८) इति श्रुतेः। ब्रह्म परमार्थसंन्यासं परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणं **नचिरेण** क्षिप्रमेवा-**धिगच्छति** प्राप्नोत्यंतो मयोक्तं कर्मयोगो विशिष्यत इति॥६॥

यदा पुनरयं सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायत्वेन—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

(सम्यग्दर्शन प्राप्ति के उपाय रूप) योग से युक्त हो, शुद्धान्तःकरण हो, देह और इन्द्रियों को जिसने जीत लिया हो और सम्पूर्ण भूतों की आत्मा, परमात्मा को ही अपना स्वरूप मानता हो; ऐसा व्यक्ति (लोकसंग्रहार्थ) कर्म करता हुआ भी कर्मों से बँधता नहीं है॥७॥

योगेन युक्तो **योगयुक्तो विशुद्धात्मा** विशुद्धसत्त्वो **विजितात्मा** विजितदेहो **जितेन्द्रियश्च सर्वभूतात्मभूतात्मा** सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा सम्यग्दर्शीत्यर्थः। स तत्रैवं वर्तमानो लोकसंग्रहाय कर्म **कुर्वन्नपि न लिप्यते** न कर्मभिर्बध्यत इत्यर्थः ॥७॥

न चासौ परमार्थतः करोत्यतः—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

वह परमार्थदर्शी योग युक्त पुरुष (लोक दृष्टि से करता हुआ भी अपनी दृष्टि से) कुछ भी नहीं करता है, ऐसा वह समझता है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तः समाहितः **सन्मन्येत** चिन्तयेत्**तत्त्वविद**ात्मनो याथात्म्यं तत्त्वं वेत्तीति तत्त्ववित्परमार्थदर्शीत्यर्थः। कदा कथं वा तत्त्वमवधारयन्मन्येतेत्युच्यते—

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

आँखों से देखता हुआ, कानों से सुनता हुआ, त्वचा से स्पर्श करता हुआ, नाक से सूँघता हुआ, मुख से खाता हुआ; पैरों से चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक खोलता और मूँदता हुआ भी ऐसा ही माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ; ये इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं ॥८-९॥

मन्येतेति पूर्वेण संबन्धः। यस्यैवं तत्त्वविदः सर्वकार्यकरणचेष्टासु कर्मस्वकर्मैव पश्यतः सम्यग्दर्शिनस्तस्य सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारः कर्मणोऽभावदर्शनात्। न हि मृगतृष्णिकायामुदक-

बुद्ध्या पानाय प्रवृत्त उदकाभावज्ञानेऽपि तत्रैव पानप्रयोजनाय प्रवर्तते॥९॥

यस्तु पुनरतत्त्ववित्प्रवृत्तश्च कर्मयोगे—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

(किन्तु जो तत्त्वज्ञानी नहीं है और कर्मयोग में प्रवृत्त है, ऐसे) जो कर्मयोगी अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में समर्पित कर फलासक्ति को त्यागकर करते हैं वे पाप कर्म से वैसे ही लिप्त नहीं होते जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता॥१०॥

ब्रह्मणीश्वर आधाय निक्षिप्य तदर्थं करोमीति भृत्य इव स्वाम्यर्थं सर्वाणि **कर्माणि** मोक्षेऽपि फले **सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः** सर्वकर्माणि, **लिप्यते न स पापेन** न संबध्यते **पद्मपत्रमिवाम्भसा**दकेन॥१०॥

केवलं सत्त्वशुद्धिमात्रफलमेव तस्य कर्मणः स्यात्, यस्मात्—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥११॥

अन्त:शुद्धिमात्र फल ही जिस कर्मयोगी को अभीष्ट है, वे केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से भी फलासक्ति का परित्याग कर अन्त:शुद्धि के लिए कर्म करते हैं॥११॥

कायेन देहेन **मनसा बुद्ध्या** च **केवलै**र्ममत्ववर्जितैरीश्वरायैव कर्म करोमि न मम फलायेति ममत्वबुद्धिशून्यै**रिन्द्रियैरपि**, केवलशब्दः कायादिभिरपि प्रत्येकं संबध्यते। सर्वव्यापारेषु ममतावर्जनाय, **योगिनः** कर्मिणः **कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वा** फलविषय**मात्मशुद्धये** सत्त्वशुद्धय इत्यर्थः। तस्मात्तत्रैव तवाधिकार इति कुरु कर्मैव॥११॥

अहंता - अपनी पहचान बनाना अभिमान पूर्वक।

यस्माच्च—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

समाहित पुरुष कर्मफल का परित्याग कर मोक्षरूप नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है और असमाहित पुरुष फल की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म करता है। इस प्रकार फल में आसक्त होने के कारण वह बँध जाता है॥१२॥

युक्त ईश्वराय कर्माणि करोमि न मम फलायेत्येवं समाहितः सन्**कर्मफलं त्यक्त्वा** परित्यज्य **शान्तिं** मोक्षाख्यामा**प्नोति नैष्ठिकीं** निष्ठायां भवां सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेणेति वाक्यशेषः। यस्तु पुन**रयुक्तो**ऽसमाहितः **कामकारेण** करणं कारः कामस्य कारः कामकारस्तेन कामकारेण कामप्रेरिततयेत्यर्थः। मम फलायेदं करोमि कर्मेत्येवं **फले सक्तो निबध्यते**। अतस्त्वं युक्तो भवेत्यर्थः॥१२॥

यस्तु परमार्थदर्शी सः—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

(जो परमार्थदर्शी है) वह सम्पूर्ण कर्मों को मन से छोड़कर नव द्वार वाले शरीर रूपी पुर में रहने वाला देही, स्वाधीन पुरुष, न कुछ करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक बैठता है॥१३॥

सर्वाणि कर्माणि **सर्वकर्माणि संन्यस्य** परित्यज्य नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं च सर्वकर्माणि तानि **मनसा** विवेकबुद्ध्या कर्मादावकर्मसंदर्शनेन संत्यज्येत्यर्थः। **आस्ते** तिष्ठति **सुखं** त्यक्तवाङ्मनःकायचेष्टो निरायासः प्रसन्नचित्त आत्मनोऽन्यत्र निवृत्तबाह्यसर्वप्रयोजन इति सुखमास्त

इत्युच्यते। **वशी** जितेन्द्रिय इत्यर्थः। क्व कथमास्त इत्याह **नवद्वारे पुरे** सप्त शीर्षण्यान्यात्मन उपलब्धिद्वाराण्यर्वाग्द्वे मूत्रपुरीषविसर्गार्थे तैर्द्वारैर्नवद्वारं पुरमुच्यते, शरीरं पुरमिव पुरमात्मैकस्वामिकं तदर्थप्रयोजनैश्चेन्द्रियमनोबुद्धिविषयैरनेकफल-विज्ञानस्योत्पादकैः पौरैरिवाधिष्ठितं तस्मिन्नवद्वारे पुरे **देही** सर्वं कर्म संन्यस्याऽऽस्ते। किं विशेषणेन, सर्वो हि देही संन्यास्यसंन्यासी वा देह एवाऽऽस्ते, तत्रानर्थकं विशेषणमिति। उच्यते, यस्त्वज्ञो देही देहेन्द्रियसंघातमात्रात्मदर्शी स सर्वो गेहे भूमावासने वाऽऽस इति मन्यते। न हि देहमात्रात्मदर्शिनो गेह इव देह आस इति प्रत्ययः संभवति। देहादिसंघातव्य-तिरिक्तात्मदर्शिनस्तु देह आस इति प्रत्यय उपपद्यते। पर-कर्मणां च परस्मिन्नात्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितानां विद्यया विवेकज्ञानेन मनसा संन्यास उपपद्यते। उत्पन्नविवेकज्ञानस्य सर्वकर्मसंन्यासिनोऽपि गेह इव देह एव नवद्वारे पुर आसनं प्रारब्धफलकर्मसंस्कारशेषानुवृत्त्या देह एव विशेषविज्ञानो-त्पत्तेर्देह एवाऽऽस्त इत्यस्त्येव विशेषणफलं विद्वदविद्वत्प्रत्यय-भेदापेक्षत्वात्। यद्यपि कार्यकरणकर्माण्यविद्ययाऽऽत्मन्यध्या-रोपितानि संन्यस्याऽऽस्त इत्युक्तं तथाऽप्यात्मसमवायि तु कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह **नैव कुर्वन्स्वयं न** कार्यकरणानि **कारयन्क्रियासु** प्रवर्तयन्।

किं यत्तत्कर्तृत्वं कारयितृत्वं च देहिनः स्वात्मसमवायि सत्संन्यासान्न भवति, यथा गच्छतो गतिर्गमनव्यापारपरि-त्यागे न स्यात्तद्वत्। किंवा स्वत एवाऽऽत्मनो नास्तीति। अत्रोच्यते नास्त्यात्मनः स्वतः कर्तृत्वं कारयितृत्वं च। उक्तं हि—'अविकार्योऽयमुच्यते' (गी. २.२५) 'शरीरस्थोऽपि

कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी. १३.३१) इति। "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ. ४.३.४) इति च श्रुतेः॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

प्रभु आत्मा न किसी कर्तृत्व की रचना करता है और न लोक में (रथ, शकटादिकर्ता की भाँति) किसी कर्म की सृष्टि करता है। वैसे ही, कर्म फल संयोग को भी नहीं बनाता, यह काम तो अविद्यारूपा माया करती है॥१४॥

न कर्तृत्वमिति। **न कर्तृत्वं** स्वतः कुर्विति नापि **कर्माणि** रथघटप्रासादादीनीप्सिततमानि **लोकस्य सृजत्यु**त्पादयति **प्रभु**रात्मा, नापि रथादि कृतवतस्तत्फलेन संयोगं **न कर्मफलसंयोगम्**। यदि किंचिदपि स्वतो न करोति न कारयति च देही, कस्तर्हि कुर्वन्कारयंश्च प्रवर्तत इत्युच्यते **स्वभावस्तु** स्वो भावः स्वभावोऽविद्यालक्षणा प्रकृतिर्माया **प्रवर्तते** दैवी हीत्यादिना वक्ष्यमाणा॥१४॥

परमार्थतस्तु—

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

परमार्थतः परमेश्वर न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही ग्रहण करता है। अज्ञान से ज्ञान आवृत है, इसीलिए अविवेकी संसारी जीव मोहित हो रहे हैं॥१५॥

नाऽऽदत्ते न च गृह्णाति भक्तस्यापि **कस्यचित्पापं न चैवाऽऽदत्ते सुकृतं** भक्तैः प्रयुक्तं **विभुः**। किमर्थं तर्हि भक्तैः पूजादिलक्षणं यागदानहोमादिकं च सुकृतं प्रयुज्यत

इत्याह—**अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं** विवेकविज्ञानं **तेन मुह्यन्ति** करोमि कारयामि भोक्ष्ये भोजयामीत्येवं मोहं गच्छन्त्यविवेकिनः संसारिणो **जन्तवः** ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

किन्तु जिनका आत्मविषयक वह अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नाश करा दिया गया है, उनका ज्ञान आदित्य की भाँति उस परतत्त्व को प्रकाशित करा देता है॥१६॥

ज्ञानेनेति। **ज्ञानेन तु** येनाज्ञानेनाऽऽवृता मुह्यन्ति जन्तव**स्तदज्ञानं येषां** जन्तूनां विवेकज्ञानेनाऽऽत्मविषयेण **नाशितमात्मनो** भवति **तेषामादित्यवद्यथा**ऽऽदित्यः समस्तं रूपजातमवभासयति तद्व**ज्ज्ञानं** ज्ञेयं वस्तु सर्वं **प्रकाशयति तत्परं** परमार्थतत्त्वम्॥१६॥

या निशा सर्वभूतानाम् (2.69)

यत्परं ज्ञानप्रकाशितम्—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

(उस परमार्थतत्त्व में बाह्य विषय की अपेक्षा न रखकर) जिनकी (श्रवणादि से उत्पन्न साक्षात्काररूपा) बुद्धि तन्मय हो चुकी है, जिन्होंने परब्रह्म को ही अपना स्वरूप समझा है, उसी में जिनकी निष्ठा है और इसीलिए उस परतत्त्व को ही जो उसको परम अयन मानते हैं; ऐसे ज्ञान द्वारा निर्धूतकल्मष संन्यासी अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥१७॥

तस्मिन्गता बुद्धिर्येषां ते **तद्बुद्धयस्तदात्मानस्त**देव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तदात्मानस्**तन्निष्ठा** निष्ठाऽभिनिवेश-स्तात्पर्यं सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य ब्रह्मण्येवावस्थानं येषां ते

तन्निष्ठास्तत्परायणाश्च तदेव परमयनं परा गतिर्येषां भवति ते तत्परायणाः केवलात्मरतय इत्यर्थः। येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते **गच्छन्त्येवं**विधा **अपुनरावृत्ति**मपुनर्देहसंबन्धं **ज्ञाननिर्धूतकल्मषा** यथोक्तेन ज्ञानेन निर्धूतो नाशितः कल्मषः पापादिसंसारकारणदोषो येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषा यतय इत्यर्थः ॥१७॥

येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते पण्डिताः कथं तत्त्वं पश्यन्तीत्युच्यते—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

जो विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण है, ऐसे ब्राह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ते और (अभक्ष्य भक्षण करने वाले) श्वपाक में भी पण्डित ब्रह्म को ही देखते हैं॥१८॥

विद्याविनयसंपन्ने विद्या च विनयश्च विद्याविनयौ विद्याऽऽत्मनोबोधो विनय उपशमस्ताभ्यां विद्याविनयाभ्यां संपन्नो विद्याविनयसंपन्नो विद्वान्विनीतश्च यो **ब्राह्मण**स्तस्मिन्**ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनो** विद्याविनयसंपन्न उत्तमसंस्कारवति ब्राह्मणे सात्त्विके मध्यमायां च राजस्यां गवि संस्कारहीनायामत्यन्तमेव केवलतामसे हस्त्यादौ च सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैस्तथा राजसैस्तथा तामसैश्च संस्कारैरत्यन्तमेवास्पृष्टं सममेकमविक्रियं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

नन्वभोज्यान्नास्ते दोषवन्तः 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' (गौतम. स्मृ. १७. २०) इति स्मृतेर्न ते दोषवन्तः। कथम्—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

वे समदर्शी पण्डित इस जीवनकाल में ही सर्ग को जीत चुके हैं, जिनका मन सम्पूर्ण भूतों में समभाव से विद्यमान् ब्रह्म में सदा निश्चल हो चुका है। वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा सम है और एक है (इसीलिए उस ब्रह्म को दोष की गन्ध मात्र भी स्पर्श नहीं करती) अतः वे तत्त्वज्ञानी ब्रह्म में स्थित हैं। (ऐसा कहना युक्ति संगत है) ॥१९॥

इहैव जीवद्भिरेव **तैः** समदर्शिभिः पण्डितै**र्जितो** वशीकृतः **सर्गो** जन्म **येषां साम्ये** सर्वभूतेषु ब्रह्मणि समभावे **स्थितं** निश्चलीभूतं **मनो**ऽन्तःकरणं। **निर्दोषम्** यद्यपि दोषवत्सु श्वपाकादिषु मूढैस्तद्दोषैर्दोषवदिव विभाव्यते तथाऽपि तद्दोषैरस्पृष्टमिति निर्दोषं दोषवर्जितं **हि** यस्मान्नापि स्वगुणभेदभिन्नं निर्गुणत्वाच्चैतन्यस्य। वक्ष्यति च भगवानिच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वम् 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' (गी. १३.३१) इति च। नाप्यन्त्या विशेषा आत्मनो भेदकाः सन्ति प्रतिशरीरं तेषां सत्त्वे प्रमाणानुपपत्तेरतः **समं ब्रह्मैकं** च **तस्माद्ब्रह्मण्येव ते स्थितास्**तस्मान्न दोषगन्धमात्रमपि तान्स्पृशति। देहादिसंघातात्मदर्शनाभिमानाभावात्। देहादिसंघातात्मदर्शनाभिमानवद्विषयं तु तत्सूत्रं "समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः" इति। पूजाविषयत्वविशेषणात्। दृश्यते हि ब्रह्मवित्षडङ्गविच्चतुर्वेदविदिति पूजादानादौ गुणविशेषसंबन्धः कारणं ब्रह्म तु सर्वगुणदोषसंबन्धवर्जितमित्यतो ब्रह्मणि ते स्थिता इति युक्तम्। कर्मिविषयं च समासमाभ्यामित्यादि, इदं तु समत्वदर्शनं सर्वकर्मसंन्यासिविषयं प्रस्तुतं सर्वकर्माणि मनसेत्यारभ्याऽऽध्यायपरिसमाप्तेः ॥१९॥

समष्टी कर्मों के फल स्वरूप जो सृजन है उसी का नाम जगत है।
समष्टी जीवों के कर्म समुदाय को जगत कहते हैं, जो भोगस्थान, भोगायतन, भोग्य यही जगत है।

यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्माऽऽत्मा, तस्मात्—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

क्योंकि ब्रह्म स्वरूप आत्मा निर्दोष और सम है, इसीलिए ब्रह्म में स्थित रहने वाला ब्रह्मज्ञानी, स्थिरबुद्धि, सम्मोहरहित पुरुष इष्ट वस्तु को प्राप्त कर न प्रसन्न होता है और न अनिष्ट वस्तु को प्राप्तकर उद्विग्न होता है॥२०॥

न प्रहृष्येन्न प्रहर्षं कुर्यात्**प्रियमिष्टं प्राप्य** लब्ध्वा **नोद्विजेत्प्राप्यैव चाप्रियमनिष्टं** लब्ध्वा देहमात्रात्मदर्शिनां हि प्रियाप्रियप्राप्ती हर्षविषादस्थाने न केवलात्मदर्शिनः, तस्य प्रियाप्रियप्राप्त्यसंभवात्। किंच सर्वभूतेष्वेकः समो निर्दोष आत्मेति स्थिरा निर्विचिकित्सा बुद्धिर्यस्य स **स्थिरबुद्धिरसंमूढः** संमोहवर्जितश्च स्याद्यथोक्त**ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितो**ऽकर्मकृत्सर्वकर्मसंन्यासीत्यर्थः॥२०॥

किंच ब्रह्मणि स्थितः—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

बाह्य शब्दादि विषयों में जिनका अन्तःकरण आसक्त नहीं है ऐसा व्यक्ति आत्मा में जिस सुख का अनुभव करता है वह सुख अक्षय है; ऐसे अक्षय सुख को ब्रह्मयोगयुक्तात्मा पुरुष प्राप्त करता है॥२१॥

बाह्यस्पर्शेषु बाह्याश्च ते स्पर्शाश्च बाह्यस्पर्शाः स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयो विषयास्तेषु बाह्यस्पर्शेष्व**सक्त आत्मा**ऽन्तःकरणं यस्य सोऽयमसक्तात्मा विषयेषु प्रीतिवर्जितः **सन्विन्दति** लभत **आत्मनि यत्सुखं** तद्विन्दतीत्येतत्। **स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा** ब्रह्मणि योगः समाधिर्ब्रह्मयोगस्तेन ब्रह्मयोगेन युक्तः समाहितस्तस्मिन्व्यापृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा **सुखमक्ष-**

यमश्नुते व्याप्नोति। तस्माद्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेदात्मन्यक्षयसुखार्थीत्यर्थः ॥२१॥

इतश्च निवर्तयेत्—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

जो विषयसंसर्गजन्य भोग हैं वे दुःख के ही कारण हैं; साथ ही, आदि-अन्त वाले भी हैं। हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! उनमें परमार्थतत्त्वज्ञानी नहीं रमते हैं ॥२२॥

ये हि यस्मात्**संस्पर्शजा** विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाता **भोगा** भुक्तयो **दुःखयोनय एव ते**ऽविद्याकृतत्वात्। दृश्यन्ते ह्याध्यात्मिकादीनि दुःखानि तन्निमित्तान्येव। यथेह लोके तथा परलोकेऽपीति गम्यत एवशब्दात्। न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत्। न केवलं दुःखयोनय **आद्यन्तवन्तश्चा**ऽऽदिर्विषयेन्द्रियसंयोगो भोगानामन्तश्च तद्वियोग एवात आद्यन्तवन्तोऽनित्या मध्यक्षणभावित्वादित्यर्थः। **कौन्तेय न तेषु रमते बुधो** भोगेषु विवेक्यवगतपरमार्थतत्त्वोऽत्यन्तमूढानामेव हि विषयेषु रतिर्दृश्यते यथा पशुप्रभृतीनाम् ॥२२॥

अयं च श्रेयोमार्गप्रतिपक्षी कष्टतमो दोषः सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवार्यश्चेति तत्परिहारे यत्नाधिक्यं कर्तव्यमित्याह भगवान्—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य शरीर छूटने से पूर्व काम एवं क्रोध से उत्पन्न वेग को इस जीवनकाल में ही सह लेता है, वही मनुष्य योगी है और वही सुखी है ॥२३॥

शक्नोत्युत्सहत इहैव जीवन्नेव **यः सोढुं** प्रसहितुं **प्राक्पूर्वं शरीरविमोक्षणाद्**ामरणात्। मरणसीमाकरणं जीवतोऽवश्यंभावी हि कामक्रोधोद्भवो वेगोऽनन्तनिमित्तवान्हि स इति। यावन्मरणं तावन्न विश्रम्भणीय इत्यर्थः।

काम इन्द्रियगोचरप्राप्त इष्टे विषये श्रूयमाणे स्मर्यमाणे वाऽनुभूते सुखहेतौ या गर्धिस्तृष्णा स कामः, क्रोधश्चाऽऽत्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा यो द्वेषः स क्रोधस्तौ कामक्रोधावुद्भवो यस्य वेगस्य स कामक्रोधोद्भवो वेगः, रोमाञ्चनहृष्टनेत्रवदनादिलिङ्गोऽन्तः-करणप्रक्षोभरूपः कामोद्भवो वेगो, गात्रप्रकम्पप्रस्वेदसंदष्टौष्ठ-पुटरक्तनेत्रादिलिङ्गः क्रोधोद्भवो वेगस्तं **कामक्रोधोद्भवं वेगं** य उत्सहते प्रसहते सोढुं प्रसहितुं, **स युक्तो** योगी **सुखी** चेह लोके **नरः**॥२३॥

कथंभूतश्च ब्रह्मणि स्थितो ब्रह्म प्राप्नोतीत्याह—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

जो अन्तरात्मा में ही सुख मानता है, (बाह्य विषयों में नहीं इसीलिए) अन्तरात्मा में ही जिसकी सदा क्रीड़ा होती है; वैसे ही अन्तरात्मा में ही जिसकी ज्योति है, वह योगी ब्रह्मस्वरूप है और वह निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त करता है॥२४॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरात्मनि सुखं यस्य सोऽन्तः-सुखस्तथाऽन्तरेवाऽऽत्मन्याराम आक्रीडा यस्य सो**ऽन्तरा-रामस्तथै**वान्तरात्मैव ज्योतिः प्रकाशो यस्य सो**ऽन्तर्ज्यो-तिरेव**। **य** ईदृशः **स योगी ब्रह्मनिर्वाणं** ब्रह्मणि निर्वृतिं मोक्षमिह जीवन्नेव **ब्रह्मभूतः** सन्न**धिगच्छति** प्राप्नोति॥२४॥

किंच—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥

जो सम्यग्दर्शी संन्यासी हैं, जिनके कल्मष नष्ट हो गये हैं और संशय छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, जो संयत इन्द्रिय हैं और सभी भूतों के हित में सदा रत रहते हैं ऐसे तत्त्वज्ञानी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करते हैं॥२५॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षम**ृषयः** सम्यग्दर्शिनः संन्यासिनः **क्षीणकल्मषाः** क्षीणपापादिदोषाश्**छिन्नद्वैधा**श्छिन्नसंशया **यतात्मानः** संयतेन्द्रियाः **सर्वभूतहिते रताः** सर्वेषां भूतानां हित आनुकूल्ये रता अहिंसका इत्यर्थः॥२५॥

किंच—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

जो काम-क्रोध से सर्वथा वियुक्त हैं, जिन्होंने अन्तःकरण को जीत रखा है ऐसे संन्यासी को जीवन और मरण दोनों दशा में मोक्ष प्राप्त ही है॥२६॥

कामक्रोधवियुक्तानां कामश्च क्रोधश्च कामक्रोधौ ताभ्यां वियुक्तानां **यतीनां** संन्यासिनां **यतचेतसां** संयतान्तःकरणाना**मभित** उभयतो जीवतां मृतानां च **ब्रह्मनिर्वाणं** मोक्षो **वर्तते**, **विदितात्मनां** विदितो ज्ञात आत्मा येषां ये विदितात्मानस्तेषां विदितात्मनां सम्यग्दर्शिनामित्यर्थः॥२६॥

सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता कर्मयोगश्चेश्वरार्पितसर्वभावेनेश्वरे ब्रह्मण्याधाय क्रियमाणः सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसंन्यासक्रमेण मोक्षायेति भगवान्पदे पदेऽब्रवीद्वक्ष्यति च। अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं विस्तरेण वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयाञ्श्लोकानुपदिशति स्म—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

जो शब्दादि विषयों को बाहर ही छोड़ देता है, भौंहों के मध्य में नेत्रवृत्ति को स्थिर कर देता है और नासिका के भीतर विचरने वाले प्राणापान को समान कर लेता है॥२७॥

स्पर्शाञ्शब्दादीन्कृत्वा बहिर्बाह्याञ्श्रोत्रादिद्वारेणान्तर्बुद्धौ प्रवेशिताः शब्दादयो विषयास्तानचिन्तयतो बाह्या बहिरेव कृता भवन्ति। तानेवं बहिः कृत्वा **चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः**, कृत्वेत्यनुषज्यते। तथा **प्राणापानौ नासाभ्यन्तरचारिणौ समौ कृत्वा**॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि जिस मननशील व्यक्ति के संयमित हैं और जो मोक्ष को ही सर्वोत्कृष्ट स्थान मानता है, जिसके इच्छा, भय एवं क्रोध मिट चुके हैं। ऐसा संन्यासी सदा मुक्त ही है॥२८॥

यतेन्द्रिय इति। **यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्**यतानि संयतानीन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च यस्य स यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मननान्**मुनिः** संन्यासी **मोक्षपरायण** एवं देहसंस्थानो मोक्षपरायणो मोक्ष एव परमयनं परा गतिर्यस्य सोऽयं मोक्षपरायणो मुनिर्भवेत्। **विगतेच्छाभयक्रोध** इच्छा च भयं च क्रोधश्चेच्छाभयक्रोधास्ते विगता यस्मात्स विगतेच्छाभयक्रोधः। **य** एवं वर्तते **सदा** संन्यासी **मुक्त एव स** न तस्य मोक्षोऽन्यः कर्तव्योऽस्ति॥२८॥

एवं समाहितचित्तेन किं विज्ञेयमित्युच्यते—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

आदितः श्लो. २३३

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

कर्तारूप से ज्ञान एवं तप के फल का भोगने वाला मैं हूँ, देवता रूप से हवि का भोगने वाला मैं हूँ, सभी लोकों का महान् ईश्वर मैं हूँ और सभी प्राणियों से कुछ भी अपेक्षा न रखकर उनका हित करने वाला मैं हूँ; इस रूप में मुझे जानकर वह ज्ञानी शान्ति को प्राप्त करता है॥ २९॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा कर्मसंन्यासयोग नामक पञ्चम अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥ ५॥

भोक्तारं यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च **सर्वलोकमहेश्वरं** सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं सर्वलोकमहेश्वरं **सुहृदं सर्वभूतानां** सर्वप्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वभूतानां हृदयेशयं सर्वकर्मफलाध्यक्षं सर्वप्रत्ययसाक्षिणं **मां** नारायणं **ज्ञात्वा शान्तिं** सर्वसंसारोपरति**मृच्छति** प्राप्नोति॥ २९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

जब तक ध्यानयोग में आरूढ़ होने की सामर्थ्य नहीं है तब तक [illegible] गृहस्थ को कर्तव्य का आचरण करना चाहिए।"

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ षष्ठोऽध्यायः

अतीतानन्तराध्यायान्ते ध्यानयोगस्य सम्यग्दर्शनं प्रत्यन्तरङ्गस्य सूत्रभूताः श्लोकाः 'स्पर्शान्कृत्वा बहिः' (गी. ५.२७) इत्यादय उपदिष्टास्तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते। तत्र ध्यानयोगस्य बहिरङ्गं कर्मेति यावद्ध्यानयोगारोहणासमर्थ-स्तावद्गृहस्थेनाधिकृतेन कर्तव्यं कर्मेत्यतस्तत्स्तौति। ननु किमर्थं ध्यानयोगारोहणसीमाकरणं यावताऽनुष्ठेयमेव विहितं कर्म यावज्जीवम्। न; 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (गी. ६.३) इति विशेषणादारूढस्य च शमेनैव संबन्धकरणात्। आरुरुक्षोरारूढस्य च शमः कर्म चोभयं कर्तव्यत्वेनाभिप्रेतं चेत्स्यात्तदाऽऽरुरुक्षोरारूढस्य चेति शमकर्मविषयभेदेन विशेषणं विभागकरणं चानर्थकं स्यात्।

तत्राऽऽश्रमिणां कश्चिद्योगमारुरुक्षुर्भवत्यारूढश्च कश्चिद्, अन्ये नाऽऽरुरुक्षवो न चाऽऽरूढास्तानपेक्ष्याऽऽरुरुक्षोरारूढस्य चेति विशेषणं विभागकरणं चोपपद्यत एवेति चेत्। न, तस्यैवेति वचनात्। पुनर्योगग्रहणाच्च योगारूढस्येति य आसीत्पूर्वं योगमारुरुक्षुस्तस्यैवाऽऽरूढस्य शम एव कर्तव्यं कारणं योगफलं प्रत्युच्यत इति। अतो न यावज्जीवं कर्तव्यत्वप्राप्तिः कस्यचिदपि कर्मणः, योगविभ्रष्टवचनाच्च। गृहस्थस्य चेत्कर्मिणो योगो विहितः षष्ठेऽध्याये, स योगविभ्रष्टोऽपि

कर्मगतिं कर्मफलं प्राप्नोतीति तस्य नाशाशङ्काऽनुपपन्ना स्यात्। अवश्यं हि कृतं कर्म काम्यं नित्यं वा मोक्षस्य नित्यत्वादनारभ्यत्वे स्वं फलमारभत एव। नित्यस्य कर्मणो वेदप्रमाणावबुद्धत्वात्फलेन भवितव्यमित्यवोचाम, अन्यथा वेदस्यानर्थार्थत्वप्रसङ्गादिति। न च कर्मणि सत्युभयविभ्रष्टवचनमर्थवत्कर्मिणो विभ्रंशकारणानुपपत्तेः।

कर्म कृतमीश्वरे संन्यस्येत्यतः कर्तरि कर्म फलं नाऽऽरभत इति चेत्। न, ईश्वरे संन्यासस्याधिकतरफलहेतुत्वोपपत्तेः। मोक्षायैवेति चेत्स्वकर्मणां कृतानामीश्वरे न्यासो मोक्षायैव न फलान्तराय योगसहितो योगाच्च विभ्रष्ट इत्यतस्तं प्रति नाशाशङ्का युक्तैवेति चेत्। न। 'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः' (गी. ६.१०) 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' (गी. ६.१४) इति कर्मसंन्यासविधानात्। न चात्र ध्यानकाले स्त्रीसहायत्वाशङ्का, येनैकाकित्वं विधीयते। न च गृहस्थस्य 'निराशीरपरिग्रहः' (गी. ६.१०) इत्यादिवचनमनुकूलम्। उभयविभ्रष्टप्रश्नानुपपत्तेश्च। अनाश्रित इत्यनेन कर्मिण एव संन्यासित्वं योगित्वं चोक्तं, प्रतिषिद्धं च निरग्नेरक्रियस्य च संन्यासित्वं योगित्वं चेति चेत्। न। ध्यानयोगं प्रति बहिरङ्गस्य सतः कर्मणः फलाकाङ्क्षासंन्यासस्तुतिपरत्वात्। न केवलं निरग्निरक्रिय एव संन्यासी योगी च, किं तर्हि कर्म्यपि कर्मफलासङ्गं संन्यस्य कर्मयोगमनुतिष्ठन्सत्त्वशुद्ध्यर्थं स संन्यासी च योगी च भवतीति स्तूयते। न चैकेन वाक्येन कर्मफलासङ्गसंन्यासस्तुतिश्चतुर्थाश्रमप्रतिषेधश्चोपपद्यते। न च प्रसिद्धं निरग्नेरक्रियस्य परमार्थसंन्यासिनः श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासयोगशास्त्रविहितं संन्यासित्वं योगित्वं च प्रतिषेधति

भगवान्। स्ववचनविरोधाच्च। 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' 'नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते' (गी. ५.१३) 'मौनी संतुष्टो येन केनचिदनिकेतः स्थिरमतिः' (गी. १२.१९) 'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः' (गी. २.७१) 'सर्वारम्भपरित्यागी' (गी. १२.१६) इति च तत्र तत्र भगवता स्ववचनानि दर्शितानि, तैर्विरुध्येत चतुर्थाश्रमप्रतिषेधः। तस्मान्मुनेर्योगमारुरुक्षोः प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्याग्निहोत्रादि फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानं ध्यानयोगारोहणसाधनत्वं सत्त्वशुद्धिद्वारेण प्रतिपद्यत इति "स संन्यासी च योगी चेति" स्तूयते—

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

जो कर्मफल का आश्रय छोड़ कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी है और वह योगी है, अग्नि और क्रिया त्यागने वाला संन्यासी एवं योगी नहीं है॥१॥

अनाश्रितो नाऽऽश्रितोऽ**नाश्रितः**, किं; **कर्मफलं** कर्मणः फलं कर्मफलं यत्तदनाश्रितः कर्मफलतृष्णारहित इत्यर्थः। यो हि कर्मफलतृष्णावान्स कर्मफलमाश्रितो भवत्ययं तु तद्विपरीतोऽतोऽनाश्रितः कर्मफलमेवंभूतः सन्**कार्यं** कर्तव्यं नित्यं काम्यविपरीतमग्निहोत्रादिकं **करोति** निर्वर्तयति। **यः** कश्चिदीदृशः कर्मी, स कर्म्यन्तरेभ्यो विशिष्यत इत्येवमर्थमाह **स संन्यासी च योगी चे**ति। संन्यासः परित्यागः स यस्यास्ति स संन्यासी च योगी च योगश्चित्तसमाधानं स यस्यास्ति स योगी चेत्येवं गुणसंपन्नोऽयं मन्तव्यो **न** केवलं

निरग्निरक्रिय एव संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः। निर्गता अग्नयः कर्माङ्गभूता यस्मात्स निरग्निरक्रियश्चानग्निसाधना अप्यविद्यमानाः क्रियास्तपोदानादिका यस्यासावक्रियः॥१॥

ननु च निरग्नेरक्रियस्यैव श्रुतिस्मृतियोगशास्त्रेषु संन्यासित्वं योगित्वं च प्रसिद्धं, कथमिह साग्नेः सक्रियस्य संन्यासित्वं योगित्वं चाप्रसिद्धमुच्यत इति; नैष दोषः। कयाचिद्गुणवृत्त्योभयस्य संपिपादयिषितत्वात्। तत्कथं कर्मफलसंकल्पसंन्यासात्संन्यासित्वं योगाङ्गत्वेन च कर्मानुष्ठानात्कर्मफलसंकल्पस्य वा चित्तविक्षेपहेतोः परित्यागाद्योगित्वं चेति गौणमुभयं, न पुनर्मुख्यं संन्यासित्वं योगित्वं चाभिप्रेतमित्येतमर्थं दर्शयितुमाह—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥२॥

श्रुति-स्मृति के रहस्य जानने वाले विद्वानों ने जिसे परमार्थ संन्यास कहा है, हे पाण्डव! उसी को तू योग जान, क्योंकि संकल्प का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता॥२॥

यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागलक्षणं परमार्थ**संन्यासमिति प्राहुः** श्रुतिस्मृतिविदो, **योगं** कर्मानुष्ठानलक्षणं **तं** परमार्थसंन्यासं **विद्धि** जानीहि हे **पाण्डव**। कर्मयोगस्य प्रवृत्तिलक्षणस्य तद्विपरीतेन निवृत्तिलक्षणेन परमार्थसंन्यासेन कीदृशं सामान्यमङ्गीकृत्य तद्भाव उच्यत इत्यपेक्षायामिदमुच्यते। अस्ति परमार्थसंन्यासेन सादृश्यं कर्तृद्वारकं कर्मयोगस्य। यो हि परमार्थसंन्यासी स त्यक्तसर्वकर्मसाधनतया सर्वकर्मतत्फलविषयं संकल्पं प्रवृत्तिहेतुकामकारणं संन्यस्यति। अयमपि

कर्मयोगी कर्म कुर्वाण एव फलविषयं संकल्पं संन्यस्यतीत्येतमर्थं दर्शयन्नाह **न हि** यस्माद**संन्यस्तसंकल्पो**ऽसंन्यस्तोऽपरित्यक्तः फलविषयः संकल्पोऽभिसंधिर्येन सोऽसंन्यस्तसंकल्पः **कश्चन** कश्चिदपि कर्मी **योगी** समाधानवान्**भवति** न संभवतीत्यर्थः। फलसंकल्पस्य चित्तविक्षेपहेतुत्वात्। तस्माद्यः कश्चन कर्मी संन्यस्तफलसंकल्पो भवेत्स योगी समाधानवानविक्षिप्तचित्तो भवेच्चित्तविक्षेपहेतोः फलसंकल्पस्य संन्यस्तत्वादित्यभिप्रायः। एवं परमार्थसंन्यासकर्मयोगयोः कर्तृद्वारकं संन्याससामान्यमपेक्ष्य 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव' इति कर्मयोगस्य स्तुत्यर्थं संन्यासत्वमुक्तम्॥२॥

पञ्चमाह्निकम्॥५॥

* * *

ध्यानयोगस्य फलनिरपेक्षः कर्मयोगो बहिरङ्गं साधनमिति तं संन्यासत्वेन स्तुत्वाऽधुना कर्मयोगस्य ध्यानयोगसाधनत्वं दर्शयति—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३ ॥

योग पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले भावी मुनि के लिए कर्म साधन बतलाया गया है, उसी के योगारूढ़ हो जाने पर कर्म का परित्याग साधन बतलाया गया है॥३॥

आरुरुक्षोरारोढुमिच्छतोऽनारूढस्य ध्यानयोगेऽवस्थातुमशक्तस्यैवेत्यर्थः। कस्याऽऽरुरुक्षो**र्मुनेः** कर्मफलसंन्यासिन इत्यर्थः। किमारुरुक्षो**र्योगं कर्म कारणं** साधन**मुच्यते**।

योगारूढस्य पुनस्तस्यैव **शम** उपशमः सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिः **कारणं** योगारूढत्वस्य साधन**मुच्यत** इत्यर्थः। यावद्यावत्कर्मभ्य उपरमते तावत्तावन्निरायासस्य जितेन्द्रियस्य चित्तं समाधीयते। तथा सति स झटिति योगारूढो भवति। तथा चोक्तं व्यासेन—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥
(महा. शान्ति. १७५.३७) इति॥ ३॥

अथेदानीं कदा योगारूढो भवतीत्युच्यते—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

जब समाहित चित्त योगी इन्द्रियों के विषय शब्दादि में और कर्मों में भी आसक्त नहीं होता, तब सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़ कहा जाता है॥ ४॥

यदा समाधीयमानचित्तो योगी **हीन्द्रियार्थेष्वि**न्द्रियाणामर्थाः शब्दादयस्तेष्विन्द्रियार्थेषु **कर्मसु** च नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धेषु प्रयोजनाभावबुद्ध्या **नानुषज्जते**ऽनुषङ्गं कर्तव्यताबुद्धिं न करोतीत्यर्थः। **सर्वसंकल्पसंन्यासी** सर्वान्संकल्पानिहामुत्रार्थकामहेतून्संन्यसितुं शीलमस्येति सर्वसंकल्पसंन्यासी **योगारूढः** प्राप्तयोग इत्येतत्त**दा** तस्मिन्काल **उच्यते**। सर्वसंकल्पसंन्यासीति वचनात्सर्वांश्च कामान्सर्वाणि च कर्माणि संन्यसेदित्यर्थः॥ संकल्पमूला हि सर्वे कामाः—

"संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः"। (मनु. २.३)
"काम जानामि ते मूलं संकल्पात्त्वं हि जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि"॥
(महा. शान्ति. १७७.२५)

इत्यादिस्मृतेः। सर्वकामपरित्यागे च सर्वकर्मसंन्यासः सिद्धो भवति। "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते" (बृ ४.४.५) इत्यादिश्रुतिभ्यो 'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' (मनु. २.४) इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। न्यायाच्च। न हि सर्वसंकल्पसंन्यासे कश्चित्स्पन्दितुमपि शक्तः। तस्मात्सर्वसंकल्पसंन्यासीति वचनात्सर्वान्कामान्सर्वाणि कर्माणि च त्याजयति भगवान्॥४॥

यदैवं योगारूढस्तदा तेनाऽऽत्माऽऽत्मनोद्धृतो भवति संसारादनर्थजातादतः—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५ ॥

आत्मा का उद्धार साधक स्वयं ही करे, उसका अधःपतन न करे, क्योंकि अपना बन्धु आप ही है और शत्रु भी अपना आप ही है॥५॥

उद्धरेत्संसारसागरे निमग्न**मात्मनाऽऽत्मानं** तत उदूर्ध्वं हरेदुद्धरेद्योगारूढतामापादयेदित्यर्थः। **नाऽऽत्मानमवसादयेन्**नाधो नयेन्नाधोगमयेत्। **आत्मैव हि** यस्मा**दात्मनो बन्धुः**। न ह्यन्यः कश्चिद्बन्धुर्यः संसारमुक्तये भवति। बन्धुरपि तावन्मोक्षं प्रति प्रतिकूल एव स्नेहादिबन्धनायतनत्वात्तस्माद्युक्तमवधारणमात्मैव ह्यात्मनो बन्धुरिति। **आत्मैव रिपुः** शत्रुर्योऽन्योऽपकारी बाह्यः शत्रुः सोऽप्यात्मप्रयुक्त एवेति युक्तमेवावधारणमात्मैव **रिपुरात्मन** इति॥५॥

आत्मैव बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन इत्युक्तं, तत्र किंलक्षण आत्मनो बन्धुः, किंलक्षणो वाऽऽत्मनो रिपुरित्युच्यते—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

जिस आत्मा ने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है उस आत्मा का वह स्वयं बन्धु है, किन्तु अजितात्मा स्वयं अपना शत्रु है क्योंकि वह अपने साथ शत्रु जैसा व्यवहार कर रहा है॥६॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य तस्याऽऽत्मनः स आत्मा **बन्धुर्येनाऽऽत्मनाऽऽत्मैव जित** आत्मा कार्यकरणसंघातो येन वशीकृतो जितेन्द्रिय इत्यर्थः। **अनात्मनस्त्व**जितात्मनस्तु **शत्रुत्वे** शत्रुभावे **वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुव**द्यथाऽनात्मा शत्रुरात्मनोऽपकारी तथाऽऽत्माऽऽत्मनोऽपकारे वर्तेतेत्यर्थः॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जिसने आत्मा (कार्यकरणादि संघात) को जीत रखा है ऐसे सर्वथा शान्त पुरुष को परमात्मा सभी ओर से प्राप्त ही है। वैसे ही, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में जो सम रहता है (वह व्यक्ति तत्त्वज्ञान का अधिकारी माना जाता है और) ऐसे को परमात्मा सदा प्राप्त ही है॥७॥

जितात्मन इति। **जितात्मनः** कार्यकरणादिसंघात आत्मा जितो येन स जितात्मा, तस्य जितात्मनः **प्रशान्तस्य** प्रसन्नान्तकरणस्य सतः संन्यासिनः **परमात्मा समाहितः** साक्षादात्मभावेन वर्तत इत्यर्थः। किंच **शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा** मानेऽपमाने च **मानापमानयोः** पूजापरिभवयोः॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

शारीरिक आवश्यकतायें बाधक तत्त्व हैं क्योंकि शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति कर देने पर भी तृप्ती का वैसा स्वरूप नहीं होता जैसा कि शास्त्र अध्ययन, गुरु से आत्म श्रवण की जो तृप्ती। "ज्ञान विज्ञान तृप्त आत्मा"।

(शास्त्रोक्त पदार्थों के परिज्ञान को ज्ञान कहा गया है और शास्त्र से जाने हुए पदार्थों का स्वतः अनुभव कर लेने का नाम विज्ञान है। ऐसे) ज्ञान-विज्ञान से जिसका अन्तःकरण सर्वथा तृप्त है, जिसने विशेषरूप से इन्द्रियों को जीत रखा है और जो समाहित पुरुष है वह योगी मिट्टी के ढेले, पत्थर, एवं स्वर्ण को समान समझता है॥८॥

ज्ञानेति। **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा** ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं, विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथैव स्वानुभवकरणं, ताभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां तृप्तः संजातालंप्रत्यय आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा **कूटस्थो**ऽप्रकम्प्यो भवतीत्यर्थः। **विजितेन्द्रियश्च**। य ईदृशो **युक्तः** समाहित **इति** स उच्यते कथ्यते। स **योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनो** लोष्टाश्मकाञ्चनानि समानि यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥८॥

किंच—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥९॥

परस्पर उपकार करने वाले को मित्र कहते हैं और परस्पर अपकार करने वाले को शत्रु कहते हैं, एकांगी उपकारक को सुहृद् कहते हैं, शत्रु-मित्र किसी का पक्ष न लेने वाले को उदासीन कहते हैं, परस्पर विरुद्ध दोनों पक्षों का हित चाहने वाला मध्यस्थ माना जाता है, अपने अप्रिय को द्वेष्य कहते हैं और सम्बन्धीजनों को बन्धु कहते हैं, शास्त्रानुसार आचरण करने वाले को साधु कहते हैं एवं निषिद्ध आचरण करने वाले को पापी कहते हैं; इन सबमें जिनकी समबुद्धि हो गयी है। वह पुरुष विशिष्ट माना जाता है॥९॥

सुहृदित्यादिश्लोकार्धमेकं पदम्। **सुहृदिति**प्रत्युपकारमनपेक्ष्योपकर्ता। **मित्रं** स्नेहवान्। **अरिः** शत्रुः **उदासीनो** न कस्यचित्पक्षं भजते। **मध्यस्थो** यो विरुद्धयोरुभयोर्हितैषी।

द्वेष्य आत्मनोऽप्रियः। **बन्धुः** संबन्धीत्येतेषु **साधुषु** शास्त्रानुवर्तिष्वपि च **पापेषु** प्रतिषिद्धकारिषु सर्वेष्वेतेषु **समबुद्धिः** कः किं कर्मेत्यव्यापृतबुद्धिरित्यर्थः। **विशिष्यते** विमुच्यत इति वा पाठान्तरम्। योगारूढानां सर्वेषामयमुत्तम इत्यर्थः॥९॥

अत एवमुत्तमफलप्राप्तये—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥१०॥

एकान्त स्थान में स्थित हो अकेला, अन्तःकरण और देह को संयमित रखने वाला, वीतराग, अपरिग्रही योगी, अन्तःकरण को सदा समाहित करे। इस श्लोक में योगी शब्द का अर्थ ध्यान योगी मानना चाहिए॥१०॥

योगी ध्यायी युञ्जीत समादध्यात्**सततं** सर्वदाऽऽ**त्मानमन्तः**करणं **रहस्येका**न्ते गिरिगुहादौ **स्थितः सन्नेकाक्य**सहायः। रहसि स्थित एकाकी चेति विशेषणात्संन्यासं कृत्वेत्यर्थः। **यतचित्तात्मा** चित्तमन्तःकरणमात्मा देहश्च संयतौ यस्य स यतचित्तात्मा **निराशी**र्वीततृष्णोऽ**परिग्रहश्च** परिग्रहरहित इत्यर्थः। संन्यासित्वेऽपि त्यक्तसर्वपरिग्रहः सन्युञ्जीतेत्यर्थः॥१०॥

अथेदानीं योगं युञ्जत आसनाहारविहारादीनां योगसाधनत्वेन नियमो वक्तव्यः प्राप्तयोगलक्षणं तत्फलादि चेत्यत आरभ्यते। तत्राऽऽसनमेव तावत्प्रथममुच्यते—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

पवित्र, एकान्त देश में अपने आसन को स्थिर स्थापित कर जो न अत्यन्त ऊँचा हो और न अत्यन्त नीचा हो जिसमें सबसे नीचे

कुशा, उस पर मृगचर्म और उस पर वस्त्र बिछावे, ऐसे आसन को स्थिर करके बैठे॥११॥

शुचौ शुद्धे, विविक्ते स्वभावतः संस्कारतो वा **देशे** स्थाने **प्रतिष्ठाप्य स्थिरम**चल**मात्मन आसनं नात्युच्छ्रितं** नातीवोच्छ्रितं **नाप्यतिनीचं** तच्च **चैलाजिनकुशोत्तरं** चैलमजिनं कुशाश्चोत्तरे यस्मिन्नासने तदासनं चैलाजिनकुशोत्तरं पाठक्रमाद्विपरीतोऽत्र क्रमश्चैलादीनाम्॥११॥

प्रतिष्ठाप्य किम्—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

उक्त रीति से आसन को प्रतिष्ठापित कर उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों को संयमित रखने वाला योगी आत्मविशुद्धि के लिए मन को एकाग्र करके योगाभ्यास करे॥१२॥

तत्र तस्मिन्नासन **उपविश्य** योगं युञ्ज्यात्। कथं, सर्वविषयेभ्य उपसंहृत्यै**काग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः**, चित्तं चेन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि तेषां क्रियाः संयता यस्य स यतचित्तेन्द्रियक्रियः। स किमर्थं **योगं युञ्ज्या**दित्याहा**ऽऽत्मविशुद्धये**ऽन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थमित्येतत्॥१२॥

बाह्यमासनमुक्तमधुना शरीरधारणं कथमित्युच्यते—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥

(देह के मध्य भाग को काय कहते हैं;) काय, शिर और ग्रीवा को एक सीध में अचल एवं स्थिर रूप से धारण कर अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुए दिशाओं की ओर न देखें॥१३॥

समं कायशिरोग्रीवं कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं तत्समं **धारयन्नचलं** च, समं धारयतश्चलनं संभवत्यतो विशिनष्टि—अचलमिति। **स्थिरः** स्थिरो भूत्वेत्यर्थः। **स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य** सम्यक्प्रेक्षणं दर्शनं कृत्वेवेतीवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः। न हि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणमिह विधित्सितं, किं तर्हि, चक्षुषोर्दृष्टिसंनिपातः। स चान्तःकरणसमाधानापेक्षो विवक्षितः। स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणमेव चेद्विवक्षितं मनस्तत्रैव समाधीयेत नाऽऽत्मनि। आत्मनि हि मनसः समाधानं वक्ष्यत्यात्मसंस्थं मनः कृत्वेति। तस्मादिवशब्दलोपेनाक्ष्णोर्दृष्टिसंनिपात एव संप्रेक्ष्येत्युच्यते। **दिशश्चानवलोकयन्दिशां** चावलोकनमन्तराऽकुर्वन्नित्येतत्॥१३॥

किंच—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

योगाभ्यासी अत्यन्त शान्त अन्तःकरण वाला हो, भय रहित हो, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित हो, मन को संयम में कर मुझमें चित्त लगा मेरे परायण रहकर समाहित हो बैठे॥१४॥

प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण शान्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयं प्रशान्तात्मा **विगतभीर्विगतभयो ब्रह्मचारिव्रते स्थितो** ब्रह्मचारिणो व्रतं ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषाभिक्षाभुक्त्यादि, तस्मिन्स्थितस्तदनुष्ठाता भवेदित्यर्थः। किंच **मनः संयम्य** मनसो वृत्तीरुपसंहृत्येत्येतन्**मच्चित्तो** मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सोऽयं मच्चित्तो **युक्तः** समाहितः **सन्नासीतो**पविशेन्**मत्परो**ऽहं परो यस्य सोऽयं मत्परः भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेन गृह्णाति, किं तर्हि, राजानं महादेवं वा, अयं तु मच्चितो मत्परश्च॥१४॥

अथेदानीं योगफलमुच्यते—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

इस प्रकार नियतमानस योगी सदा यथोक्त रीति से आत्मा में मन को जोड़ता हुआ परमेश्वरनिष्ठ परमनिर्वाण शान्ति को प्राप्त करता है॥१५॥

युञ्जन्समाधानं कुर्व**न्नेवं** यथोक्तेन विधानेन **सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसो** नियतं संयतं मानसं मनो यस्य सोऽयं नियतमानसः **शान्तिमु**परतिं **निर्वाणपरमां** निर्वाणं मोक्षस्तत्परमा निष्ठा यस्याः शान्तेः सा निर्वाणपरमा तां निर्वाणपरमां **मत्संस्थां** मदधीना**मधिगच्छति** प्राप्नोति॥१५॥

इदानीं योगिन आहारादिनियम उच्यते—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

बहुत खाने वाले को योग सिद्ध नहीं होता, और न सर्वथा न खाने वाले को योग सिद्ध होता है। हे अर्जुन! बहुत सोने वाले और सदा जगे रहने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता॥१६॥

नात्यश्नत आत्मसंमितमन्नपरिमाणमतीत्याश्नतोऽत्यश्नतो न **योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतो** योगोऽस्ति "यदु ह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति, यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति" (शतपथ ब्रा. ९.२.१.२) इति श्रुतेः। तस्माद्योगी नाऽऽत्मसंमितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयात्।

अथवा योगिनो योगशास्त्रे परिपठितादन्नपरिमाणादतिमात्रमश्नतो योगो नास्ति। उक्तं हि—"अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु। वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥" इत्यादि परिमाणम्।

तथा न **चातिस्वप्नशीलस्य** योगो भवति **नैव** चातिमात्रं **जाग्रतो** योगो भवति **चार्जुन**॥१६॥

कथं पुनर्योगो भवतीत्युच्यते—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

जिसका आहार-विहार युक्त है, जिसकी कर्मविषयिणी चेष्टा भी युक्त है, जिसका सोना और जागना भी उचित मात्रा में होता है ऐसे साधक का ही सर्व संसार दुःखनाशक योग पूर्ण होता है।

युक्ताहारविहारस्याऽऽह्रियत इत्याहारोऽन्नं विहरणं विहारः पादक्रमस्तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य तथा **युक्तचेष्टस्य** युक्ता नियता चेष्टा यस्य **कर्मसु** तथा **युक्तस्वप्नावबोधस्य** युक्तौ स्वप्नश्चावबोधश्च तौ नियतकालौ यस्य तस्य युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो **योगो भवति दुःखहा** दुःखानि सर्वाणि हन्तीति दुःखहा सर्वसंसारदुःखक्षयकृद्योगो भवतीत्यर्थः॥१७॥

अथाधुना कदा युक्तो भवतीत्युच्यते—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

जब विशेष रूप से एकाग्रता को प्राप्त, नियत चित्त, बाह्य विषयों की चिन्ता छोड़ केवल अपने स्वरूप में ही स्थित होता है; उस समय दृष्टादृष्ट सभी विषयों से तृष्णाशून्य योगी समाहित कहा जाता है॥१८॥

यदा विनियतं चित्तं विशेषेण नियतं संयतमेकाग्रतामापन्नं चित्तं हित्वा बाह्यचिन्तामा**त्मन्येव** केवले**ऽवतिष्ठते** स्वात्मनि स्थितिं लभत इत्यर्थः। **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो** निर्गता दृष्टादृष्टविषयेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्य योगिनः स **युक्तः** समाहित **इत्युच्यते तदा** तस्मिन्काले॥१८॥

तस्य योगिनः समाहितं यच्चित्तं तस्योपमोच्यते—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

जैसे वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक हिलता नहीं, यह उपमा उस योगी के चित्त की दी गयी है जिसका अन्तःकरण संयमित है, जो योग के अनुष्ठान में संलग्न है और आत्मा की समाधि में तत्पर है॥१९॥

यथा दीपः प्रदीपो **निवातस्थो** निवाते वातवर्जिते देशे स्थितो **नेङ्गते** न चलति **सोपमो**पमीयतेऽनयेत्युपमा योगज्ञैश्चित्तप्रचारदर्शिभिः **स्मृता** चिन्तिता। **योगिनो यतचित्तस्य** संयतान्तःकरणस्य **युञ्जतो योगम**नुतिष्ठत **आत्मनः** समाधिमनुतिष्ठत इत्यर्थः॥१९॥

एवं योगाभ्यासबलादेकाग्रीभूतं निवातप्रदीपकल्पं सत्—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

वह चित्त जिस समय योगानुष्ठान के कारण सभी ओर से निरुद्ध हुआ उपरति को प्राप्त करता है और जिस समय समाधि के अभ्यास से विशुद्ध अन्तःकरण द्वारा चैतन्य ज्योति स्वरूप परमात्मा को देखता हुआ, अपने स्वरूप में ही सन्तोष का अनुभव करता है॥२०॥

यत्र यस्मिन्काल **उपरमते चित्त**मुपरतिं गच्छति **निरुद्धं** सर्वतोनिवारितप्रचारं **योगसेवया** योगानुष्ठानेन

यत्र चैव यस्मिंश्च काल **आत्मना** समाधिपरिशुद्धेनान्तः-करणेनाऽऽत्**मानं** परं चैतन्यज्योतिःस्वरूपं **पश्यन्नु**पलभमानः स्व **एवाऽऽत्मनि तुष्यति** तुष्टिं भजते॥२०॥

किंच—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥

जो आत्यन्तिक सुख है, इन्द्रियनिरपेक्षबुद्धि से ग्रहण करने योग्य है इसीलिए उसे 'अतीन्द्रिय' भी कहते हैं; ऐसे सुख को जिस काल में यह आत्मज्ञानी योगी अपने स्वरूप में स्थित हुआ अनुभव करता है; साथ ही, अपने तत्त्वस्वरूप से विचलित नहीं होता है॥२१॥

सुखमात्यन्तिकमत्यन्तमेव भवतीत्यात्यन्तिकमनन्त-मित्यर्थः। **यत्तद्बुद्धिग्राह्यं** बुद्ध्यैवेन्द्रियनिरपेक्षया गृह्यत इति बुद्धिग्राह्य**मतीन्द्रिय**मिन्द्रियगोचरातीतमविषयजनित-मित्यर्थः। **वेत्ति** तदीदृशं सुखमनुभवति **यत्र** यस्मिन्काले **न** च, **एव, अयं** विद्वानात्मस्वरूपे **स्थित**स्तस्मान्नैव **चलति तत्त्वत**स्तत्त्वस्वरूपान्न प्रच्यवत इत्यर्थः॥२१॥

किंच—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥२२॥

जिस लाभ को प्राप्तकर उससे बड़ा किसी दूसरे लाभ को नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ (योगी शस्त्रपातादिरूप) भारी से भारी दुःख आने पर भी विचलित नहीं होता॥२२॥

यं लब्ध्वा यमात्मलाभं लब्ध्वा प्राप्य **चापर**मन्य-ल्लाभान्तरं **ततोऽधिक**मस्तीति **न मन्यते** न चिन्तयति।

किंच यस्मिन्नात्मतत्त्वे स्थितो दुःखेन शस्त्रनिपातादिलक्षणेन **गुरुणा** महताऽपि **न विचाल्यते**॥२२॥

यत्रोपरमत इत्याद्यारभ्य यावद्भिर्विशेषणैर्विशिष्ट आत्मावस्थाविशेषो योग उक्तः—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

(आत्मस्थितिरूप विशेष योग को दुःखों के सम्बन्ध से सर्वथा शून्य जानना चाहिए), योग नाम तो इस दुःखवियोग का ही है जो वस्तुतः विपरीत लक्षण वाला है। वह यथोक्त फल वाला योग निश्चयपूर्वक, न उकताये हुए चित्त से करना चाहिए (क्योंकि संशयग्रस्त और व्याकुलचित्त पुरुष इस योग को प्राप्त कर ही नहीं सकता)॥२३॥

तं विद्याद्विजानीयाद्**दुःखसंयोगवियोगं** दुःखैः संयोगो दुःखसंयोगस्तेन वियोगो दुःखसंयोगवियोगस्तं दुःखसंयोगवियोगं **योग** इत्येव **संज्ञितं** विपरीतलक्षणेन **विद्या**द्विजानीयादित्यर्थः। योगफलमुपसंहृत्य पुनरन्वारम्भेण योगस्य कर्तव्यतोच्यते। निश्चयानिर्वेदयोर्योगसाधनत्वविधानार्थम्। **स** यथोक्तफलो **योगो निश्चयेना**ध्यवसायेन **योक्तव्योऽनिर्विण्णचेतसा** न निर्विण्णमनिर्विण्णं किं तच्चेतस्तेन निर्वेदरहितेन चेतसा चित्तेनेत्यर्थः॥२३॥

किंच—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥

जिन कामनाओं का उत्पत्तिस्थान संकल्प है वे काम संकल्पप्रभव माने जाते हैं। ऐसी सभी कामनाओं का पूर्णतया परित्याग कर विवेकयुक्त मन से इन्द्रियसमुदाय को सभी ओर से विशेष नियम में करके (योगाभ्यास करे)॥२४॥

संकल्पप्रभवान्संकल्पः प्रभवो येषां कामानां ते संकल्पप्रभवाः**कामास्**तांस्**त्यक्त्वा** परित्यज्य **सर्वानशेषतो** निर्लेपेन। किंच **मनसैव** विवेकयुक्ते**नेन्द्रियग्राम**मिन्द्रियसमुदायं **विनियम्य** नियमनं कृत्वा **समन्ततः** समन्तात्॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५ ॥

धीरे–धीरे धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि द्वारा उपरति को प्राप्त करे, (सहसा न करे)। जब आत्मा में मन सम्यक् प्रकार से स्थित हो जाय (अर्थात् यह सब कुछ आत्मा ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है) ऐसा आत्मसंस्थ मन को बनाकर साधक कुछ भी चिन्तन न करे॥२५॥

शनैः शनैर्न सहसो**परमेदु**परतिं कुर्यात्। कया, **बुद्ध्या,** किंविशिष्टया, **धृतिगृहीतया** धृत्या धैर्येण गृहीतया धृतिगृहीतया धैर्येण युक्तयेत्यर्थः। **आत्मसंस्थमा**त्मनि संस्थितमात्मैव सर्वं न ततोऽन्यत्किंचिदस्तीत्येवमात्मसंस्थं **मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्**। एष योगस्य परमो विधिः॥२५॥

तत्रैवमात्मसंस्थं मनः कर्तुं प्रवृत्तो योगी—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

जिस–जिस शब्दादि निमित्त अथवा स्वभावदोष के कारण स्थिर न रहने वाला चञ्चल मन बाहर भागता हो, उन सभी शब्दादि विषयों में याथात्म्यनिरूपण द्वारा सुखाभास बतलाकर वैराग्यभावना से इस चित्त को आत्मा के अधीन करता रहे॥२६॥

यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ताच्छब्दादे**र्निश्चरति** निर्गच्छति स्वभावदोषा**न्मनश्चञ्चल**मत्यर्थं चलमत **एवास्थिरं**

ततस्ततस्तस्मात्तस्माच्छब्दादेर्निमित्तान्नियम्य तत्तन्निमित्तं याथात्म्यनिरूपणेनाऽऽभासीकृत्य वैराग्यभावनया चैतन्मन आत्मन्येव वशं नयेदात्मवश्यतामापादयेत्। एवं योगाभ्यासबलाद्योगिन आत्मन्येव प्रशाम्यति मनः॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

जिस योगी का मन अत्यन्त शान्त है, जिसका मोहादिक्लेशरूप रजोगुण मिट गया है, ऐसे धर्माधर्मादि से रहित ब्रह्मभूत योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है॥२७॥

प्रशान्तमनसं प्रशान्तं मनो यस्य स प्रशान्तमनास्तं प्रशान्तमनसं **ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमं** निरतिशयमुपैत्युपगच्छति। **शान्तरजसं** प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसमित्यर्थः। **ब्रह्मभूतं** जीवन्मुक्तं ब्रह्मैव सर्वमित्येवंनिश्चयवन्तं ब्रह्मभूत**मकल्मषम**धर्मादिवर्जितम्॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

यथोक्त रीति से योगाभ्यास करने वाला, योग के अन्तराय से शून्य, विगतकल्मष योगी अनायास ही ब्रह्म के साथ संस्पर्श रखने वाले आत्यन्तिक सुख को प्राप्त करता है। (योगाभ्यास का क्रम पहले बतलाया जा चुका है) ॥२८॥

युञ्जन्निति। **युञ्जन्नेवं** यथोक्तेन क्रमेण **योगी** योगान्तरायवर्जितः **सदाऽऽत्मानं विगतकल्मषो** विगतपापः **सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं** ब्रह्मणा परेण संस्पर्शो यस्य तद्ब्रह्मसंस्पर्शं **सुखमत्यन्तम**न्तमतीत्य वर्तत इत्यत्यन्तमुत्कृष्टं निरतिशय**मश्नुते** व्याप्नोति॥२८॥

इदानीं योगस्य यत्फलं ब्रह्मैकत्वदर्शनं, सर्वसंसारविच्छेदकारणं, तत्प्रदर्श्यते—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

ब्रह्मात्मैकत्वविषयक ज्ञान वाला योगी सभी प्राणियों में स्थित अपने आत्मा को और आत्मा में ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियों को (अभेदभाव से) देखता है॥२९॥

सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु स्थितं स्वमात्मानं **सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि** ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि च सर्वभूतान्यात्मन्येकतां गतानी**क्षते** पश्यति **योगयुक्तात्मा** समाहितान्तःकरणः **सर्वत्रसमदर्शनः** सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषमेषु सर्वभूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्रसमदर्शनः॥२९॥

एतस्याऽऽत्मैकत्वदर्शनस्य फलमुच्यते—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

जो (अभेददर्शी सबकी आत्मा) मुझ वासुदेव को सभी भूतों में और ब्रह्मादि भूतसमुदाय को मुझ सर्वात्मा वासुदेव में देखता है ऐसे आत्मैकत्वदर्शी योगी को मैं ईश्वर कभी परोक्ष नहीं होता और वह ज्ञानी मुझ परमेश्वर के लिए कभी परोक्ष नहीं होता (क्योंकि वह और मैं दोनों एक ही तो हैं)॥३०॥

यो मां पश्यति वासुदेवं सर्वस्याऽऽत्मानं **सर्वत्र** सर्वेषु भूतेषु **सर्वं च** ब्रह्मादिभूतजातं **मयि** सर्वात्मनि **पश्यति तस्यै**वमात्मैकत्वदर्शिनो**ऽहम**ीश्वरो **न प्रणश्यामि** न परोक्षतां गमिष्यामि। **स च मे न प्रणश्यति** स च विद्वान्मम

वासुदेवस्य न प्रणश्यति न परोक्षीभवति। तस्य च मम चैकात्मकत्वात्। स्वात्मा हि नामाऽऽत्मनः प्रिय एव भवति। यस्माच्चाहमेव सर्वात्मैकत्वदर्शी ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझ परमेश्वर को अभेद भाव से भजता है, वह सम्यग्दर्शी योगी सभी प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ विष्णु के परमपद में विद्यमान है। (अतः वह नित्यमुक्त ही है) ॥३१॥

इत्येतत्पूर्वश्लोकार्थं सम्यग्दर्शनमनूद्य तत्फलं मोक्षोऽभिधीयते। **सर्वथा** सर्वप्रकारैर्**वर्तमानोऽपि** सम्यग्दर्शी **योगी मयि** वैष्णवे परमे पदे **वर्तते** नित्यमुक्त एव, स न मोक्षं प्रति केनचित्प्रतिबध्यत इत्यर्थः ॥३१॥

किंचान्यत्—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन! अपने को ही जो उपमा के रूप में सामने रखकर सभी भूतों में तुल्यदर्शन करता है, (अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल सुख और दुःख को सभी प्राणियों में समानरूप से देखता है, वह अहिंसक किसी से प्रतिकूल व्यवहार नहीं करता, जो इस प्रकार) अहिंसक तत्त्वदर्शी योगी है वह सभी योगियों में मुझे श्रेष्ठ मान्य है ॥३२॥

आत्मौपम्येनाऽऽत्मा स्वयमेवोपमीयते इत्युपमा तस्या उपमाया भाव औपम्यं तेनाऽऽत्मौपम्येन **सर्वत्र** सर्वभूतेषु **समं** तुल्यं **पश्यति योऽर्जुन**। स च किं समं पश्यतीत्युच्यते। यथा मम सुखमिष्टं तथा सर्वप्राणिनां **सुखमनु**कूलम्। वाशब्दश्चार्थे। **यदि वा** यच्च **दुःखं** मम प्रति-

कूलमनिष्टं यथा, तथा सर्वप्राणिनां दुःखमनिष्टं प्रतिकूल-मित्येवमात्मौपम्येन सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूले तुल्यतया सर्व-भूतेषु समं पश्यति न कस्यचित्प्रतिकूलमाचरत्यहिंसक इत्यर्थः। य एवमहिंसकः सम्यग्दर्शननिष्ठः **स योगी परम** उत्कृष्टो **मतो**ऽभिप्रेतः सर्वयोगिनां मध्ये॥३२॥

एतस्य यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनलक्षणस्य योगस्य दुःख-संपाद्यतामालक्ष्य शुश्रूषुर्ध्रुवं तत्प्राप्त्युपायम्—

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन ने कहा— हे मधुसूदन! आप ने जो यह योग समत्वरूप से बतलाया है, अपने मन की चंचलता के कारण मैं इस योग की स्थिर स्थिति को नहीं देख रहा हूँ॥३३॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन समत्वेन हे **मधु-सूदन, एतस्य** योगस्या**हं न पश्यामि** नोपलभे **चञ्चल-त्वा**न्मनसः, किं, **स्थिरा**मचलां **स्थितिं** प्रसिद्धमेतत्॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

हे कृष्ण! मन अत्यन्त चंचल है, शरीर और इन्द्रियों को विक्षिप्त करने वाला प्रमथनशील एवं बलवान है, ऐसे मन को वायु को रोकने के समान दुर्निरोध मैं मानता हूँ॥३४॥

चञ्चलमिति। **चञ्चलं हि मनः कृष्णे**ति कृषतेर्विलेख-नार्थस्य रूपं भक्तजनपापादिदोषाकर्षणात्कृष्णः। न केवल-मत्यर्थं चञ्चलं **प्रमाथि** च प्रमथनशीलं प्रमथ्नाति शरीरमि-

विद्रान - हेतव्य: हि दोषाय:।

चंचलता - मन बार बार विषयों को बदलता रहता एक विषय पर स्थिर नहीं रहता है यही चंचलता है
स्वाधीनता - जो कालोन है वह स्वरूप रूप से होता जाय अकरणीय भी चित्त में उत्पन्न हो न हो।

न्द्रियाणि च विक्षिपति परवशीकरोति। किंच **बलवन्न** केनचिन्नियन्तुं शक्यं, दुर्निवारत्वात्। किंच **दृढं** तन्तुनागव-दच्छेद्यं **तस्यैवं**भूतस्य मनसोऽ**हं निग्रहं** निरोधं **मन्ये वायोरिव**। यथा वायोर्दुष्करो निग्रहस्ततोऽपि मनसो **दुष्करं** मन्य इत्यभिप्रायः॥३४॥

एवमेतद्यथा ब्रवीषि—

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

(इस प्रकार जैसा तुमने समझा है), हे महाबाहो! निःसन्देह यह मन दुर्निग्रह एवं चंचल है, फिर भी हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! (किसी चित्त भूमि में नमोवृत्ति को समानरूप से प्रवाहित करना अभ्यास है और दृष्टादृष्ट भोगों में सदा दोष देखने से जो वैतृष्ण्य उत्पन्न होता है उसे वैराग्य कहते हैं। ऐसे) अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा चित्त के विक्षेप रूप प्रचार को निगृहीत किया जा सकता है। (वैराग्य द्वारा चित्त को अनात्मवस्तु से पृथक् किया जा सकता है और अभ्यास के द्वारा सच्चिदानन्दघन आत्मा में चित्त को स्थिर किया जा सकता है)॥३५॥

असंशयं नास्ति संशयो **मनो दुर्निग्रहं चल**मित्यत्र हे **महाबाहो**। किं**त्वभ्यासेन** त्वभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्यांचित्समानप्रत्ययावृत्तिश्चित्तस्य। वैराग्यं नाम दृष्टा-दृष्टेष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासाद्वैतृष्ण्यं तेन च **वैराग्येण गृह्यते**। विक्षेपरूपः प्रचारश्चित्तस्यैवं तन्मनो गृह्यते निगृह्यते निरुध्यत इत्यर्थः॥३५॥

यः पुनरसंयतात्मा तेन—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

पर जो असंयत आत्मा है (अर्थात् जिनका अन्त:करण अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा संयमित नहीं हो पाया है) ऐसे पुरुष के द्वारा यह योग कठिनाई से प्राप्त हो सकेगा। ऐसी मेरी मान्यता है (किन्तु जिसने अभ्यास एवं वैराग्य से अपने मन को वश में कर लिया है) उस वश्यात्मा, यत्नशील योगी को बार-बार यत्न करने पर पूर्वोक्त उपाय से योग प्राप्त हो सकता है॥३६॥

असंयतात्मनाऽभ्यासवैराग्याभ्यामसंयत आत्माऽन्तः-करणं यस्य सोऽयमसंयतात्मा तेनासंयतात्मना **योगो दुष्प्रापो** दुःखेन प्राप्यत **इति मे मतिः**। यस्तु पुनर्वश्यात्माऽभ्यासवैरा-ग्याभ्यां वश्यत्वमापादित आत्मा मनो यस्य सोऽयं वश्यात्मा तेन **वश्यात्मना तु यतता** भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता **शक्योऽवाप्तुं** योग **उपायतो** यथोक्तादुपायात्॥३६॥

तत्र योगाभ्यासाङ्गीकरणेन परलोकेहलोकप्राप्तिनिमित्तानि कर्माणि संन्यस्तानि योगसिद्धिफलं च मोक्षसाधनं सम्यग्-दर्शनं न प्राप्तमिति योगी योगमार्गान्मरणकाले चलितचित्त इति तस्य नाशमाशङ्क्य—

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

हे कृष्ण! योगमार्ग में जो आस्तिकबुद्धिरूप श्रद्धा से युक्त तो हैं किन्तु अन्तकाल में जिसका मन योगमार्ग से विचलित हो गया, ऐसा भ्रष्टस्मृति, शिथिलप्रयत्न वाला योगी योग के फल सम्यक् ज्ञान को न प्राप्तकर किस गति को प्राप्त होता है॥३७॥

अयतिरप्रयत्नवान्योगमार्गे श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या **चोपेतो योगादन्तकाले**ऽपि चलितं मानसं मनो यस्य स

योग से कन्तिमान हों। मार्गों से दैन्य भग हों।

चलितमानसो भ्रष्टस्मृतिः सोऽप्राप्य **योगसंसिद्धिं** योगफलं सम्यग्दर्शनं **कां गतिं** हे **कृष्ण गच्छति**॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥३८॥

कर्ममार्ग एवं योगमार्ग उभयविभ्रष्ट योगी छिन्न बादल की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता अथवा आश्रयरहित तो नहीं हो जाता क्योंकि हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में वह विमूढ़ हो चुका है॥३८॥

कच्चिदिति। **कच्चित्किं नोभयविभ्रष्टः** कर्ममार्गाद्योगमार्गाच्च विभ्रष्टः **संञ्छिन्नाभ्रमिव नश्यति** किंवा न नश्यत्य**प्रतिष्ठो** निराश्रयो हे **महाबाहो विमूढः** सन्**ब्रह्मणः पथि** ब्रह्मप्राप्तिमार्गे॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते॥३९॥

हे कृष्ण! मेरे इस संशय को पूर्णरूप से आप ही दूर कर सकते हैं, आप के अतिरिक्त कोई अन्य ऋषि या देवता इस संशय को नहीं मिटा सकते। अतः हमारे इस संदेह को आप ही दूर करें॥३९॥

एतदिति। **एतन्मे** मम **संशयं कृष्ण च्छेत्तु**मपनेतु**मर्हस्यशेषतस्त्वदन्य**स्त्वत्तोऽन्य ऋषिर्देवो वा **छेत्ता** नाशयिता **संशयस्यास्य न हि** यस्मा**दुपपद्यते** संभवत्यतस्त्वमेव च्छेत्तुमर्हसीत्यर्थः॥३९॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥४०॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि हे पार्थ! ऐसे साधक का इस लोक

अथवा परलोक में विनाश नहीं होता। (पहले की अपेक्षा हीन जन्म की प्राप्ति को नाश कहते हैं, वह योगी का नहीं होता क्योंकि) कल्याणकारक शुभकर्म करने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं करता॥४०॥

पार्थेति। हे **पार्थ नैवेह** लोके **नामुत्र** परस्मिन्वा लोके **विनाशस्तस्य विद्यते** नास्ति। नाशो नाम पूर्वस्माद्धीनजन्मप्राप्तिः। स योगभ्रष्टस्य नास्ति, **न हि** यस्मात्**कल्याणकृ**च्छुभकृत्**कश्चिद्दुर्गतिं** कुत्सितां गतिं हे **तात** तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तात उच्यते पितैव पुत्र इति पुत्रोऽपि तात उच्यते शिष्योऽपि पुत्र उच्यते, **गच्छति**॥४०॥ किंत्वस्य भवति—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥४१॥

(योगमार्ग में प्रवृत्त पुरुष प्रसंगानुसार संन्यासी है), वह अश्वमेधादि पुण्यकर्म करने वालों के लोकों को प्राप्तकर वहाँ अनेक दिव्यवर्षों तक वास करते हुए तदुचित भोगों को भोगकर वहाँ के भोग क्षीण होने पर यथोक्त कर्म करने वाले, ऐश्वर्यसम्पन्न, पवित्र गृह में योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है॥४१॥

योगमार्गे प्रवृत्तः संन्यासी सामर्थ्यात्**प्राप्य** गत्वा **पुण्यकृता**मश्वमेधादियाजिनां **लोकांस्तत्र** चो**षित्वा** वासमनुभूय **शाश्वती**र्नित्याः **समाः** संवत्सरांस्तद्भोगक्षये **शुचीनां** यथोक्तकारिणां **श्रीमतां** विभूतिमतां **गेहे** गृहे **योगभ्रष्टोऽभिजायते**॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥

अथवा ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है (जो लोक दृष्टि से श्रीमान् कुल नहीं अपितु दरिद्र हैं। साधना की दृष्टि से धनवानों

भो॰

के कुल में जन्म लेने की अपेक्षा) धनहीन, ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति के कुल में जन्म लेना अत्यन्त दुर्लभ यानि श्रेष्ठ माना गया है॥४२॥

अथवेति। **अथवा** श्रीमतां कुलादन्यस्मिन्**योगिनामेव** दरिद्राणां **कुले भवति** जायते **धीमतां** बुद्धिमताम्। **एतद्धि** जन्म यद्दरिद्राणां योगिनां कुले **दुर्लभतरं** दुःखलभ्यतरं पूर्वमपेक्ष्य **लोके जन्म यदीदृशं** यथोक्तविशेषणे कुले॥४२॥

यस्मात्—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥४३॥

हे अर्जुन! वहाँ पर पूर्वदेह में किये हुए बुद्धिसंयोग को योगियों के कुल में जन्म लेने वाला साधक अनायास ही प्राप्त कर लेता है, (इस बुद्धिसंयोग के लिये अलग से प्रयत्न उसे नहीं करना पड़ता। तत्पश्चात् पूर्वजन्मकृत संस्कार के कारण संसिद्धि के निमित्त श्रवणादि अनुष्ठानविषयक प्रयत्न अधिक करने लग जाता है)॥४३॥

तत्र योगिनां कुले **तं बुद्धिसंयोगं** बुद्ध्या संयोगं बुद्धिसंयोगं **लभते पौर्वदेहिकं** पूर्वस्मिन्देहे भवं पौर्वदेहिकं **यतते च** प्रयत्नं करोति **ततस्**तस्मात्पूर्वकृतात्संस्काराद्**भूयो** बहुतरं **संसिद्धौ** संसिद्धिनिमित्तं हे **कुरुनन्दन**॥४३॥

कथं पूर्वदेहबुद्धिसंयोग इति तदुच्यते—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥४४॥

उस योगभ्रष्ट पुरुष ने पूर्वजन्म में जो अभ्यास किया था, उसी बलवान् अभ्यास के कारण परवश हुआ भी साधना की ओर आकृष्ट हो जाता है। वह योग के स्वरूप को जानने की इच्छा वाला जिज्ञासु जो प्रसंगानुरूप योगभ्रष्ट संन्यासी है, वह भी वेदोक्त कर्मानुष्ठान के फल को पार कर जाता है। (फिर भला जो योग को जानकर तन्निष्ठ हो अभ्यास करता हो, उसके विषय में कहना ही क्या है)॥४४॥

यः पूर्वजन्मनि कृतोऽभ्यासः स **पूर्वाभ्यासस्तेनैव** बलवता **ह्रियते हि** यस्माद**वशोऽपि स** योगभ्रष्टो न कृतं चेद्योगाभ्याससंस्काराद्बलवत्तरमधर्मादिलक्षणं कर्म तदा योगाभ्यासजनितेन संस्कारेण ह्रियते। अधर्मश्चेद्बलवत्तरः कृतस्तेन योगजोऽपि संस्कारोऽभिभूयत एव। तत्क्षये तु योगजः संस्कारः स्वयमेव कार्यमारभते न दीर्घकालस्थस्यापि विनाशस्तस्यास्तीत्यर्थः। **जिज्ञासुरपि योगस्य** स्वरूपं ज्ञातुमिच्छन्योगमार्गे प्रवृत्तः संन्यासी योगभ्रष्टः सामर्थ्यात्सोऽपि **शब्दब्रह्म** वेदोक्तकर्मानुष्ठानफल**मतिवर्तते**ऽपाकरिष्यति किमुत बुद्ध्वा यो योगं तन्निष्ठोऽभ्यासं कुर्यात्॥४४॥

कुतश्च योगित्वं श्रेय इति—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५॥

अनेक जन्मों के साधनों से संशुद्ध पुरुष जब ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह उत्कृष्ट गति प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि शीघ्र मुक्ति प्राप्ति के लिए अधिक प्रयत्न करना चाहिए, अल्प प्रयत्न करने वाला साधक विलम्ब से मोक्ष प्राप्त करता है॥४५॥

प्रयत्नाद्यतमानोऽधिकं यतमान इत्यर्थः। तत्र **योगी** विद्वान्**संशुद्धकिल्बिषो** विशुद्धकिल्बिषः संशुद्धपापोऽनेकेषु जन्मसु किंचित्किंचित्संस्कारजातमुपचित्य तेनोपचितेनानेकजन्मकृतेन संसिद्धो**ऽनेकजन्मसंसिद्धस्ततो** लब्धसम्यग्दर्शनः स**न्याति परां** प्रकृष्टां **गतिम्**॥४५॥

यस्मादेवं तस्मात्—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

योगी तपस्वियों से एवं शास्त्रज्ञानी से भी बड़ा माना गया है वैसे ही

कर्मियों की अपेक्षा भी योगी पुरुष श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन! तू योगी बन जा॥४६॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि, ज्ञानमत्र शास्त्रपाण्डित्यं तद्वद्भ्योऽपि **मतो** ज्ञातोऽ**धिकः** श्रेष्ठ इति **कर्मिभ्यो**ऽग्निहोत्रादि कर्म तद्वद्भ्यो**ऽधिको योगी** विशिष्टो यस्मा**त्तस्माद्योगी भवार्जुन**॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

आदितः श्लो. २८०

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगोनाम षष्ठोऽध्यायः॥६॥

रुद्रादित्यादि ध्यानपरायण सभी योगियों में से जो मुझ वासुदेव में समाहित-चित्त हो श्रद्धालु भक्त मेरी सेवा करता है वह मुझे श्रेष्ठ योगी मान्य है॥४७॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित आत्मसंयमयोग नामक षष्ठ अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥६॥

योगिनामिति। **योगिनामपि सर्वेषां** रुद्रादित्यादिध्यान-पराणां मध्ये **मद्गतेन** मयि वासुदेवे समाहितेना**न्तरात्मना**ऽ-न्तःकरणेन **श्रद्धावा**ञ्श्रद्दधानः **सन्भजते** सेवते **यो मां स मे** मम **युक्ततमो**ऽतिशयेन युक्तो **मतो**ऽभिप्रेत इति॥४७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥६॥

षष्ठाह्निकम्॥६॥

॥इति प्रथमं षट्कम्॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीयषट्कम्

अथ सप्तमोऽध्यायः

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः (गी. ६.४७)

इति प्रश्नबीजमुपन्यस्य स्वयमेवेदृशं मदीयं तत्त्वमेवं मद्गतान्तरात्मा स्यादित्येतद्विवक्षुः—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥१॥

(भगवत् तत्त्व किस प्रकार का है? और मद्गत अन्तरात्मा पुरुष कैसा होता है? ऐसे दो प्रश्न अर्जुन के मन में उत्पन्न जान उसके पूछने से पहले ही भगवान् श्रीकृष्ण बोल उठे कि) हे पार्थ! मुझ परमेश्वर में जिसका मन आसक्त है एवं मेरा आश्रय लेकर मन का समाधान करना चाहता है वैसा तू निःसन्देह जिस प्रकार मेरे समग्र रूप को जान सकोगे, उस प्रकार को मुझसे सुन॥१॥

मयि वक्ष्यमाणविशेषणे परमेश्वर आसक्तं मनो यस्य स **मय्यासक्तमना** हे **पार्थ योगं युञ्जन्**मनःसमाधानं कुर्वन्**मदाश्रयो**ऽहमेव परमेश्वर आश्रयो यस्य स मदाश्रयो यो हि कश्चित्पुरुषार्थेन केनचिदर्थी भवति स तत्साधनं कर्माग्निहोत्रादि तपो दानं वा किंचिदाश्रयं प्रतिपद्यतेऽयं तु योगी मामेवाऽऽश्रयं प्रतिपद्यते हित्वाऽन्यत्साधनान्तरं मय्येवाऽ-

ऽसक्तमना भवति। यस्त्वमेवंभूतः **सन्नसंशयं समग्रं** समस्तं विभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिगुणसंपन्नं **मां यथा** येन प्रकारेण **ज्ञास्यसि** संशयमन्तरेणैवमेव भगवानिति तच्छृणूच्यमानं मया॥१॥

तच्च मद्विषयम्—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

वह अपरोक्ष ज्ञान मद्विषयक है, शास्त्र एवं अनुभव से सिद्ध है, उसी को मैं तेरे लिए निःशेषरूप से कहूँगा जिसे जानने के बाद इस लोक में अन्य ज्ञातव्य कुछ भी शेष नहीं रह जायेगा॥२॥ श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्

ज्ञानं ते तुभ्य**महं सविज्ञानं** विज्ञानसहितं स्वानुभवसंयुक्त**मिदं वक्ष्यामि** कथयिष्याम्य**शेषतः** कात्स्न्र्येन। तज्ज्ञानं विवक्षितं स्तौति श्रोतुरभिमुखीकरणाय। **यज्ज्ञात्वा** यज्ज्ञानं ज्ञात्वा **नेह भूयः** पुन**र्ज्ञातव्यं** पुरुषार्थसाधनम**वशिष्यते** नावशेषो भवतीति मत्तत्त्वज्ञो यः स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः। अतो विशिष्टफलत्वाद्दुर्लभं ज्ञानम्॥२॥

कथमित्युच्यते—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥३॥

(उक्त ज्ञान के दुर्लभत्व को कहते हैं कि) हजारों मनुष्यों में कोई सिद्धि के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई विरला ही मुझे तत्त्व से जानता है॥३॥

मनुष्याणां मध्ये **सहस्रेष्व**नेकेषु **कश्चिद्यतति** प्रयत्नं करोति **सिद्धये** सिद्ध्यर्थं, तेषां **यततामपि सिद्धानां** सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते/ तेषां **कश्चिदेव मां वेत्ति तत्त्वतो** यथावत्॥३॥

श्रोतारं प्ररोचनेनाभिमुखीकृत्याऽऽह—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥४॥

(समग्र रूप से ज्ञान की प्रशंसा कर श्रोता को अभिमुख करने के बाद भगवान् ने कहा कि) पृथ्वी तन्मात्रा, जल, अग्नि, वायु और आकाश तन्मात्रा, मन का कारण अहंकार, बुद्धि का कारण महत्तत्व और सम्पूर्ण प्रवृत्तियों के बीजभूत अहंकार—यह मेरी अष्टधा प्रकृति है॥४॥

भूमिरिति पृथिवीतन्मात्रमुच्यते न स्थूला 'भिन्ना प्रकृति-रष्टधा' इति वचनात्। तथाऽबादयोऽपि तन्मात्राण्येवोच्यन्ते। **आपोऽनलो वायुः खं मन** इति मनसः कारणमहंकारो गृह्यते। **बुद्धि**रित्यहंकारकारणं महत्तत्त्वम्। **अहंकार** इत्यविद्या-संयुक्तमव्यक्तम्। यथा विषसंयुक्तमन्नं विषमुच्यत एवमहंकार-वासनावदव्यक्तं मूलकारणमहंकार इत्युच्यते प्रवर्तकत्वा-दहंकारस्य। अहंकार एव हि सर्वस्य प्रवृत्तिबीजं दृष्टं लोके। **इतीयं** यथोक्ता **प्रकृतिर्मे** ममैश्वरी मायाशक्तिर**ष्टधा भिन्ना** भेदमागता॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

यह तो मेरी अपरा प्रकृति (अर्थात् यह निकृष्ट अशुद्ध अनर्थकारी, संसारबन्धनात्मिका) है। इससे विलक्षण, विशुद्ध, मेरी आत्मभूता, क्षेत्रस्वरूपा जीव को परा प्रकृति जानो जो प्राणधारण की निमित्तभूता है, हे महाबाहो! जिस अन्तःप्रविष्ट प्रकृति से यह जगत् धारण किया जाता है॥५॥

अपरेति। **अपरा** न परा निकृष्टाऽशुद्धाऽनर्थकरी संसार-बन्धनात्मिके**यमितो**ऽस्या यथोक्ताया**स्त्वन्यां** विशुद्धां

हमारे अहंकार

भगवान का मेरी माया कहने का अर्थ है कि बिना हमारे यह रह नहीं सकती स्वतन्त्र इनका अस्तित्व नहीं है। बिना भगवान के यह है ही नहीं है।

प्रकृतिं ममाऽऽत्मभूतां **विद्धि मे परां** प्रकृष्टां **जीवभूतां** क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूतां हे **महाबाहो यया** **प्रकृत्येदं धार्यते जगदन्तः**प्रविष्टया॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥

परा–अपरा, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ स्वरूपा ये दोनों प्रकृति जिन की योनि है, ऐसे ये सभी भूत हैं; इस प्रकार समझो। (जब मेरी प्रकृति सभी भूतों की उत्पत्ति का कारण है, तब) मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय हूँ (अर्थात् इन दोनों प्रकृतियों द्वारा मैं सर्वज्ञ ईश्वर जगत् का कारण हूँ)॥६॥

एतदिति। **एतद्योनीन्ये**ते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनिर्येषां भूतानां तान्येतद्योनीनि **भूतानि सर्वाणीत्ये-वमुपधारय** जानीहि। यस्मान्मम प्रकृती योनिः कारणं सर्वभूतानामतो**ऽहं कृत्स्नस्य** समस्तस्य **जगतः प्रभव** उत्पत्तिः **प्रलयो** विनाश**स्तथा** प्रकृतिद्वयद्वारेणाहं सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमित्यर्थः॥६॥

यतस्तस्मात्—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

(जब ऐसा है इसीलिए) हे धनंजय! मुझसे श्रेष्ठ एवं अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे धागे में मणियाँ पिरोयी हुई होती हैं ऐसे ही मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत है॥७॥

मत्तः परमेश्वरात्**परतरमन्यत्**कारणान्तरं **किंचिन्नास्ति** न विद्यतेऽहमेव जगत्कारणमित्यर्थः। हे **धनंजय!** यस्मादेवं तस्मा**न्मयि** परमेश्वरे सर्वाणि भूतानि **सर्वमिदं** जग-

त्प्रोतमनुस्यूतमनुगतमनुविद्धं ग्रथितमित्यर्थः। दीर्घतन्तुषु पट-वत्सूत्रे च **मणिगणा इव**॥७॥

केन केन धर्मेण विशिष्टे त्वयि सर्वमिदं प्रोतमित्युच्यते—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

हे कौन्तेय! जल में मैं रस हूँ, चन्द्र-सूर्य में मैं प्रभा हूँ, सम्पूर्ण वेदों में मैं प्रणव, आकाश में शब्द और मनुष्यों में मैं पौरुष हूँ॥८॥

रसोऽहमपां यः सारः स रसस्तस्मिन्रसभूते मय्यापः प्रोता इत्यर्थः। एवं सर्वत्र। यथाऽहमप्सु रस एवं **प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः**। **प्रणव** ओंकारः **सर्ववेदेषु** तस्मिन्प्रणवभूते मयि सर्वे वेदाः प्रोताः। तथा **खं** आकाशे **शब्दः** सारभूतस्तस्मिन्मयि खं प्रोतम्। तथा **पौरुषं** पुरुषस्य भावो यतः पुंबुद्धिर्नृषु तस्मिन्मयि पुरुषाः प्रोताः॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

(मुझमें सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत है, इसी का वर्णन प्रकारान्तर से करते हैं।) पृथ्वी में सुरभि गन्ध मैं हूँ, अग्नि में दीप्ति रूप तेज मैं हूँ तथा सभी भूतों में जीवन मैं हूँ। वैसे ही, तपस्वियों में तप मैं हूँ॥९॥

पुण्य इति। **पुण्यः** सुरभिर्**गन्धः पृथिव्यां** चाहं तस्मिन्मयि गन्धभूते पृथिवी प्रोता। पुण्यत्वं गन्धस्य स्वभावत एव पृथिव्यां दर्शितमबादिषु रसादेः पुण्यत्वोपलक्षणार्थम्। अपुण्यत्वं तु गन्धादीनामविद्याऽधर्माद्यपेक्षं संसारिणां भूतविशेषसंसर्गनिमित्तं भवति। **तेजो** दीप्तिश्**चास्मि विभावसावग्नौ**। तथा **जीवनं सर्वभूतेषु** येनान्नरसेन जीवन्ति

सर्वाणि भूतानि तज्जीवनम्। **तपश्चास्मि तपस्विषु** तस्मिंस्तपति मयि तपस्विनः प्रोताः॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! सभी भूतों में प्ररोहकारण सनातन बीज मुझे ही जानो। विवेकशक्तियुक्त बुद्धिमान् पुरुषों में अन्तःकरण की विवेक-शक्तिरूपा बुद्धि मैं हूँ और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ॥१०॥

बीजमिति। **बीजं** प्ररोहकारणं **मां विद्धि सर्वभूतानां** हे **पार्थ सनातनं** चिरंतनम्। किंच **बुद्धि**र्विवेकशक्तिरन्तःकरणस्य **बुद्धिमतां** विवेकशक्तिमताम**स्मि तेजः** प्रागल्भ्यं तद्वतां **तेजस्विनामहम्**॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

अप्राप्त विषयों में जो तृष्णा होती है, उसे काम कहते हैं और प्राप्त विषयों में जो रञ्जना होती है, उसे राग कहते हैं। इन दोनों से रहित देहादि धारणमात्र के लिये जो सामर्थ्य, वह बलवानों का बल मैं हूँ। शास्त्र के तात्पर्य रूप धर्म से अविरुद्ध जो सभी प्राणियों में काम है, वह काम मैं हूँ॥११॥

बलमिति। **बलं** सामर्थ्यमोजो **बलवतामहम्**। तच्च बलं **कामरागविवर्जितं** कामश्च रागश्च कामरागौ कामस्तृष्णाऽसंनिकृष्टेषु विषयेषु रागो रञ्जना प्राप्तेषु विषयेषु ताभ्यां विवर्जितं देहादिधारणमात्रार्थं बलमहमस्मि न तु यत्संसारिणां तृष्णारागकारणम्। किंच **धर्माविरुद्धो** धर्मेण शास्त्रार्थेनाविरुद्धो यः प्राणिषु **भूतेषु कामो** यथा देहधारणमात्राद्यर्थोऽशनपानादिविषयः **कामोऽस्मि** हे **भरतर्षभ**॥११॥

किंच—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

जो भी सत्त्वगुण से सात्त्विक, रजोगुण से राजस और तमोगुण से तामस पदार्थ बनते हैं तथा जो पदार्थ प्राणियों के कर्मवशात् उत्पन्न होते हैं; उन सभी को मुझसे उत्पन्न हुआ जानो। (यद्यपि वे पदार्थ मुझसे उत्पन्न होते हैं फिर भी) मैं उनके अधीन नहीं हूँ॥१२॥

ये चैव सात्त्विकाः सत्त्वनिर्वृत्ता **भावाः** पदार्था **राजसा** रजोनिर्वृत्तास्**तामसा**स्तमोनिर्वृत्ताश्च **ये** केचित्प्राणिनां स्वकर्मवशाज्जायन्ते भावास्**तान्मत्त एव** जायमानानित्येवं **विद्धि** सर्वान्समस्तानेव। यद्यपि ते मत्तो जायन्ते तथाऽपि **न त्वहं तेषु** तदधीनस्तद्वशो यथा संसारिणस्**ते** पुनर्**मयि** मद्वशा मदधीनाः॥१२॥

एवंभूतमपि परमेश्वरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वभूतात्मानं निर्गुणं संसारदोषबीजप्रदाहकारणं मां नाभिजानाति जगदित्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान्। तच्च किंनिमित्तं जगतोऽज्ञानमित्युच्यते—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

(गुण के विकार राग-द्वेष, मोहादि प्रापक) इन त्रिगुणात्मक यथोक्त पदार्थों से यह सम्पूर्ण प्राणीसमुदायरूप जगत् अविवेकता को प्राप्त कर रहा है; इसीलिये उन यथोक्त गुणों से परे, विलक्षण, जन्मादि सम्पूर्ण भावविकारों से रहित मुझ अविनाशी को जानता नहीं है॥१३॥

त्रिभिर्गुणमयैर्गुणविकारै रागद्वेषमोहादिप्रकारैर्**भावैः**

पदार्थैरेभिर्यथोक्तैः **सर्वमिदं** प्राणिजातं **जगन्मोहितम**-विवेकतामापादितं **सन्नाभिजानाति मामेभ्यो** यथोक्तेभ्यो गुणेभ्यः **परं** व्यतिरिक्तं विलक्षणं **चाव्ययं** व्ययरहितं जन्मादिसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः ॥१३॥

कथं पुनर्दैवीमेतां त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं मायामतिक्रामन्तीत्युच्यते—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

यह मुझ परमेश्वर की माया दैवी है, गुणमयी है, इसका अतिक्रमण अत्यन्त कठिनाई से हो सकता है। ऐसी दुरत्यया, गुणमयी यथोक्त माया को वे पार कर सकते हैं, जो (सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर मुझ मायावी को ही अपना स्वरूप मानकर) सभी प्रकार से शरणापन्न हो जाते हैं ॥१४॥

दैवी देवस्य ममेश्वरस्य विष्णोः स्वभूता **हि** यस्मा**देषा** यथोक्ता **गुणमयी मम माया दुरत्यया** दुःखेनात्ययोऽतिक्रमणं यस्याः सा दुरत्यया। तत्रैवं सति सर्वधर्मान्परित्यज्य **मामेव** मायाविनं स्वात्मभूतं सर्वात्मना **ये प्रपद्यन्ते ते मायामेतां** सर्वभूतमोहिनीं **तरन्त्यतिक्रामन्ति** संसारबन्धनान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥१४॥

यदि त्वां प्रपन्ना मायामेतां तरन्ति, कस्मात्त्वामेव सर्वे न प्रपद्यन्त इत्युच्यते—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

माया से जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है, जो (हिंसा, मिथ्याभाषण

चिन्त के दुःख को स्वीकार करने पर उस दुःख का प्रतिकार हो जाता है
धर्मानुष्ठान पश्चात पवित्रोहम् का भाव उत्पन्न होता है

आदि) आसुरभाव का आश्रय लिए बैठे हैं, ऐसे मनुष्यों में निकृष्ट, मूढ़, दुष्कर्मी मुझ परमेश्वर की अनन्यशरण नहीं होते॥१५॥

न मां परमेश्वरं दुष्कृतिनः पापकारिणो **मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमा** नराणां मध्येऽधमा निकृष्टास्ते च **माययाऽपहृतज्ञानाः** संमुषितज्ञाना **आसुरं भावं** हिंसानृतादिलक्षण**माश्रिताः** ॥१५॥

ये पुनर्नरोत्तमाः पुण्यकर्माणः—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥

(किन्तु जो मनुष्यों में उत्तम हैं, पुण्य कर्म करने वाले हैं) हे अर्जुन! ऐसे प्राणी चार प्रकार के हैं-एक आर्त, दूसरा अर्थार्थी, तीसरा जिज्ञासु और चौथा ज्ञानी। हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! यही चतुर्विध पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं॥१६॥

चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा **भजन्ते** सेवन्ते **मां जनाः सुकृतिनः** पुण्यकर्माणो हे **अर्जुन**! **आर्त** आर्तिपरिगृहीतस्तस्करव्याघ्ररोगादिनाऽभिभूत आपन्नो **जिज्ञासु**र्भगवत्तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति यो**ऽर्थार्थी** धनकामो **ज्ञानी** विष्णोस्तत्त्वविच्च हे **भरतर्षभ**॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी तत्त्ववित् होने के कारण नित्ययुक्त कहा जाता है; यह एक भक्ति है अर्थात् परमेश्वर से अभिन्नरूप अपने को समझकर सदा परमेश्वर का भजन करता है, अतः विशिष्ट है। उस ज्ञानी की मैं आत्मा हूँ इसलिए मैं उसे प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरी आत्मा होने के कारण मुझे अत्यन्त प्रिय है॥१७॥

तेषामिति। **तेषां चतुर्णां मध्ये ज्ञानी** तत्त्ववित्तत्त्ववित्त्वा**न्नित्ययुक्तो** भवत्येकभक्तिश्चान्यस्य भजनीयस्यादर्शनादतः स **एकभक्तिर्विशिष्यते** विशेषमाधिक्यमापद्यतेऽतिरिच्यत इत्यर्थः। **प्रियो हि** यस्मादहमात्मा **ज्ञानिनो**ऽतस्तस्या**हमत्यर्थं** प्रियः। प्रसिद्धं हि लोक आत्मा प्रियो भवतीति। तस्माज्ज्ञानिन आत्मत्वाद्वासुदेवः प्रियो भवतीत्यर्थः। **स च** ज्ञानी **मम** वासुदेवस्याऽऽत्मैवेति ममात्यर्थं **प्रियः** ॥१७॥

न तर्ह्यार्तादयस्त्रयो वासुदेवस्य प्रियाः। न, किं तर्हि—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

ये सभी तीनों भक्त भी उदार हैं इसीलिए मुझे प्रिय हैं ही, किन्तु ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि वह मेरी आत्मा ही है— इस प्रकार आस्था में प्रवृत्त हुआ वह समाहितचित पुरुष मुझ परब्रह्म को ही सर्वोत्तम गन्तव्य मानकर उस ओर चल रहा है॥१८॥

उदारा उत्कृष्टाः **सर्व एवैते** त्रयोऽपि मम प्रिया एवेत्यर्थः। न हि कश्चिन्मद्भक्तो मम वासुदेवस्याप्रियो भवति ज्ञानी त्वत्यर्थं प्रियो भवतीति विशेषः। तत्कस्मादित्याह **ज्ञानी त्वात्मैव** नान्यो मत्त इति **मे** मम **मतं** निश्चयः। **आस्थित** आरोढुं प्रवृत्तः **स** ज्ञानी **हि** यस्मादहमेव भगवान्वासुदेवो नान्योऽस्मीत्येवं **युक्तात्मा** समाहितचित्तः सन्**मामेव** परं ब्रह्म गन्तव्य**मनुत्तमां गतिं** गन्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः॥१८॥

ज्ञानी पुनरपि स्तूयते—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

अनेक जन्मों में से अन्तिम जन्म में प्राप्त परिपाक ज्ञान वाला ज्ञानी मुझ वासुदेव का (अन्तरात्मरूप में अपरोक्षरूप से) भजन करता है क्योंकि उसकी दृष्टि में सब कुछ वासुदेव ही तो है। (जो इस प्रकार मुझ सर्वात्मा को भजता है), वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥१९॥

बहूनां जन्मनां ज्ञानार्थसंस्काराश्रयाणामन्ते समाप्तौ **ज्ञानवान्**प्राप्तपरिपाकज्ञानो **मां** वासुदेवं प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्षतः **प्रपद्यते**। कथं, **वासुदेवः सर्वमिति**। य एवं सर्वात्मानं मां प्रपद्यते **स महात्मा** न तत्समोऽन्योऽस्त्यधिको वा। अतः **सुदुर्लभो** मनुष्याणां सहस्रेष्वित्युक्तम्॥१९॥

आत्मैव सर्वं वासुदेव इत्येवमप्रतिपत्तौ कारणमुच्यते—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥

(पुत्र-पशु-स्वर्गादिविषयक) उन-उन कामनाओं से जिनका विवेक-विज्ञान अपहृत हो गया है ऐसे लोग परमेश्वर से भिन्न देवताओं को मानकर देवभक्ति करते हैं फलतः वे अन्य देवताओं को प्राप्त करते हैं। देवाराधन के लिए प्रसिद्ध जो भी नियम हैं उन नियमों का आश्रय लेकर तथा जन्मान्तर में उपार्जित संस्कारविशेषरूप स्वभाव के कारण आत्मीय प्रकृति से वे नियन्त्रित होते है (इसीलिए परमेश्वर से भिन्न देवताओं की भक्ति करते हैं)॥२०॥

कामैस्तैस्तैः पुत्रपशुस्वर्गादिविषयै**र्हृतज्ञाना** अपहृतविवेकविज्ञानाः **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः** प्राप्नुवन्ति वासुदेवादात्मनोऽन्या देवतास्**तं तं नियमं** देवताराधने प्रसिद्धो यो यो नियमस्तं त**मास्थाया**ऽऽश्रित्य **प्रकृत्या** स्वभावेन जन्मान्तरार्जितसंस्कारविशेषेण **नियता** नियमिताः **स्वया**ऽऽत्मीयया॥२०॥

तेषां च कामिनाम्—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥

(उन कर्मियों में से जो) सकाम भक्त श्रद्धा से युक्त हो जिस-जिस देवस्वरूप को पूजना चाहता है मैं उन-उन सकाम भक्तों की श्रद्धा को उसी देव में स्थिर कर देता हूँ (जिससे वे स्वभावतः पूर्व की भाँति देवपूजा में प्रवृत्त होते हैं)॥२१॥

यो यः कामी **यां यां** देवता**तनुं श्रद्धया** संयुक्तो **भक्तश्च** सन्न**र्चितुं** पूजयितु**मिच्छति तस्य तस्य** कामिनो**ऽचलां** स्थिरां **श्रद्धां तामेव विदधामि** स्थिरीकरोमि ययैव पूर्वं प्रवृत्तः स्वभावतः॥२१॥

यो यां देवतातनुं श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छतीति—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥२२॥

मेरे द्वारा विहित श्रद्धा से युक्त हो देवता के उस स्वरूप की आराधना वह करना चाहता है। फलतः उस आराधित देवस्वरूप से ही अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करता है जो मुझ सर्वकर्म-फलविभागज्ञ सर्वज्ञ परमेश्वर से ही निर्मित होते हैं॥२२॥

स तयेति। **स तया** मद्विहितया **श्रद्धया युक्तः** सं**स्तस्या** देवतातन्वा **राधन**माराधन**मीहते** चेष्टते। **लभते च ततः**स्तस्या आराधिताया देवतातन्वाः **कामा**नीप्सिता**न्मयैव** परमेश्वरेण सर्वज्ञेन कर्मफलविभागज्ञतया **विहिता**न्निर्मितांस्**तान्हि** यस्मात्ते भगवता विहिताः कामास्तस्मात्तानवश्यं लभत इत्यर्थः। हितानिति पदच्छेदे हितत्वं कामानामुपचरितं कल्प्यं, न हि कामा हिताः कस्यचित्, यस्मादन्तवत्साधनव्यापाराः॥२२॥

अविवेकिनः कामिनश्च तेऽतः—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

उन अल्पबुद्धि देवभक्तों को विनाशीफल प्राप्त होता है। देवपूजक देवताओं को प्राप्त करते हैं और मेरे भक्त मुझे भी प्राप्त कर लेते हैं॥२३॥

अन्तवद्विनाशि तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसामल्पप्रज्ञानां देवान्देवयजो यान्ति देवान्यजन्तीति देवयजस्ते देवान्यान्ति। **मद्भक्ता यान्ति मामपि**। एवं समानेऽप्यायासे मामेव न प्रपद्यन्तेऽनन्तफलायाहो खलु कष्टं वर्तत इत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान्॥२३॥

किंनिमित्तं त्वामेव न प्रपद्यन्त इत्युच्यते—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

मैं वस्तुतः अव्यक्त हूँ। सबका प्रकाशक हूँ, प्रकाश्य नहीं हूँ फिर भी मेरे अविनाशी सर्वोत्तम परमात्मस्वरूप परमभाव को ये अविवेकी लोग जानते नहीं हैं, इसीलिए मुझ अव्यक्त को इस समय व्यक्तिभावापन्न मानते हैं॥२४॥

अव्यक्तमप्रकाशं व्यक्तिमापन्नं प्रकाशं गतमिदानीं **मन्यन्ते मां** नित्यप्रसिद्धमीश्वरमपि सन्त**मबुद्धयो**ऽविवेकिनः **परं भावं** परमात्मस्वरूप**मजानन्तो**ऽविवेकिनो **ममाव्ययं** व्ययरहित**मनुत्तमं** निरतिशयं मदीयं भावमजानन्तो मन्यन्त इत्यर्थः॥२४॥

तदीयमज्ञानं किंनिमित्तमित्युच्यते—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

(मैं अपने किसी-किसी भक्त के सामने ही प्रकाशित होता हूँ,) सर्वसाधारण के सामने नहीं। गुणों की युक्ति को योगमाया कहते हैं और उस योगमाया से मैं आवृत रहता हूँ इसीलिए यह मूढ़ लोक मुझे अजन्मा और अव्ययरूप से नहीं जानता॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य लोकस्य केषांचिदेव मद्भक्तानां प्रकाशोऽहमित्यभिप्रायः। **योगमायासमावृतो** योगो गुणानां युक्तिर्घटनं सैव माया योगमाया तया योगमायया समावृतः संच्छन्न इत्यर्थः। अत एव **मूढो लोकोऽयं नाभिजानाति मामजमव्ययम्**॥२५॥

यया योगमायया समावृतं मां लोको नाभिजानाति, नासौ योगमाया मदीया सती ममेश्वरस्य मायाविनो ज्ञानं प्रतिबध्नाति, यथाऽन्यस्यापि मायाविनो माया ज्ञानं तद्वद्यत एवमतः—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

हे अर्जुन! मैं सभी अतीत, वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले भूतों को जानता हूँ, (किन्तु एकमात्र मेरे शरणापन्न भक्त को छोड़कर अन्य) कोई भी मुझे नहीं जानता है॥२६॥

अहं तु वेद जाने **समतीतानि** समतिक्रान्तानि भूतानि **वर्तमानानि चार्जुन भविष्याणि च भूतानि वेदाहं मां वेद तु न कश्चन** मद्भक्तं मच्छरणमेकं मुक्त्वा मत्तत्त्ववेदना-भावादेव न मां भजते॥२६॥

केन पुनस्तत्त्ववेदनप्रतिबन्धेन प्रतिबद्धानि सन्ति जायमा-नानि सर्वभूतानि त्वां न विदन्तीत्यपेक्षायामिदमाह—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥२७॥

हे भारत। उस इच्छा-द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व-मोह के कारण उत्पत्तिकाल में ही सभी जीव सम्मोहित होते रहते हैं। हे परंतप! सभी प्राणी मोह के वशीभूत हुए ही उत्पन्न होते हैं॥२७॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेनच्छा च द्वेषश्चेच्छाद्वेषौ ताभ्यां समुत्तिष्ठतीतीच्छाद्वेषसमुत्थस्तेनेच्छाद्वेषसमुत्थेन। केनेति विशेषापेक्षायामिदमाह **द्वंद्वमोहेन** द्वंद्वनिमित्तो मोहो द्वंद्वमोहस्तावेवेच्छाद्वेषौ शीतोष्णवत्परस्परविरुद्धौ सुखदुःखतद्धेतुविषयौ यथाकालं सर्वभूतैः संबध्यमानौ द्वंद्वशब्देनाभिधीयेते। तत्र यदेच्छाद्वेषौ सुखदुःखतद्धेतुसंप्राप्त्या लब्धात्मकौ भवतस्तदा तौ सर्वभूतानां प्रज्ञायाः स्ववशापादनद्वारेण परमार्थात्मतत्त्वविषयज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकारणं मोहं जनयतः। न हीच्छाद्वेषदोषवशीकृतचित्तस्य यथाभूतार्थविषयज्ञानमुत्पद्यते बहिरपि, किमु वक्तव्यं ताभ्यामाविष्टबुद्धेः संमूढस्य प्रत्यगात्मनि बहुप्रतिबन्धे ज्ञानं नोत्पद्यत इति। अतस्तेनेच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन **भारत** भरतान्वयज **सर्वभूतानि** संमोहितानि सन्ति **संमोहं** संमूढतां **सर्गे** जन्मन्युत्पत्तिकाल इत्येतद्**यान्ति** गच्छन्ति हे **परंतप**। मोहवशान्येव सर्वभूतानि जायमानानि जायन्त इत्यभिप्रायः। यत एवमतस्तेन द्वंद्वमोहेन प्रतिबद्धप्रज्ञानानि सर्वभूतानि संमोहितानि मामात्मभूतं न जानन्त्यत एवाऽऽत्मभावेन मां न भजन्ते॥२७॥

के पुनरनेन द्वंद्वमोहेन निर्मुक्ताः सन्तस्त्वां विदित्वा यथाशास्त्रमात्मभावेन भजन्त इत्यपेक्षितमर्थं दर्शयितुमुच्यते—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥

जिन पुण्यकर्मा मनुष्यों के पाप का अन्त हो गया है वे द्वन्द्वमोह से मुक्त हुए दृढ़व्रती मेरा भजन करते हैं॥२८॥

येषां तु पुनरन्तगतं समाप्तप्रायं क्षीणं **पापं जनानां पुण्यकर्मणां** पुण्यं कर्म येषां सत्त्वशुद्धिकारणं विद्यते ते पुण्यकर्माणस्तेषां पुण्यकर्मणां **ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता** यथोक्तेन द्वंद्वमोहेन निर्मुक्ता **भजन्ते मां** परमात्मानं **दृढव्रता** एवमेव परमार्थतत्त्वं नान्यथेत्येवं सर्वपरित्यागव्रतेन निश्चितविज्ञाना दृढव्रता उच्यन्ते॥२८॥

ते किमर्थं भजन्त इत्युच्यते—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

जो जरा एवं मरण से मुक्त होने के लिए मेरा आश्रय लेकर समाहितचित हो यत्न करते हैं, वे सम्पूर्ण अध्यात्म एवं कर्म के सहित ब्रह्म को जानते हैं॥२९॥

जरामरणमोक्षाय जरामरणमोक्षार्थं **मां** परमेश्वरमाश्रित्य मत्समाहितचित्ताः सन्तो **यतन्ति** प्रयतन्ते **ये ते** यद्ब्रह्म परं **तद्विदुः कृत्स्नं** समस्तमध्यात्मं प्रत्यगात्मविषयं वस्तु तद्विदुः **कर्म चाखिलं** समस्तं विदुः॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, वे समाहितचित्त पुरुष मरणकाल में भी मुझे जानेंगे ही॥३०॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा ज्ञानविज्ञानयोगनामक सप्तम अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥७॥

साधीति। **साधिभूताधिदैवमधिभूतं** चाधिदैवं चाधिभूताधिदैवं सहाधिभूताधिदैवेन साधिभूताधिदैवं च **मां ये** विदुः **साधियज्ञं च** सहाधियज्ञेन साधियज्ञं **ये विदुः प्रयाणकालेऽपि च** मरणकालेऽपि च **मां ते विदुर्युक्तचेतसः** समाहितचित्ता इति॥३०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥७॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथाष्टमोऽध्याय:

'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम्' (गी. ७.२९) इत्यादिना भगवता- ऽर्जुनस्य प्रश्नबीजान्युपदिष्टान्यतस्तत्प्रश्नार्थम्—

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १ ॥

अर्जुन ने पूछा— वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? हे पुरुषोत्तम! कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहा है और अधिदैव शब्द से क्या कहा जाता है॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २ ॥

हे मधुसूदन! इस देह में अधियज्ञ क्या पदार्थ है और वह कैसे रहता है? प्रयाणकाल में समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा किस प्रकार से आप जाने जाते हैं॥२॥

एषां प्रश्नानां यथाक्रमं निर्णयाय—

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३ ॥

निरुपाधिक ब्रह्म को अक्षर कहते हैं। (उसी परब्रह्म का प्रत्येक

शरीर में जो प्रत्यग् रूप से वास है, उसे स्वभाव कहते हैं और यह) स्वभाव ही अध्यात्म पद का अर्थ है। (पञ्चभूतों को भी भूत कहते हैं और उनसे बने हुए स्थूल-सूक्ष्म शरीर एवं ब्रह्माण्ड को भी भूत कहते हैं) भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला जो देवता के उद्देश्य से पुरोडाश आदि द्रव्य का परित्याग होता है, वह विसर्गरूप कर्म यज्ञ शब्द से कहा गया है और इसी बीजभूत यज्ञ रूपी कर्म को कर्म नाम से कहा गया है। पर (जीवात्मा को अधोगति संसार से उठाकर परमेश्वर की ओर ऊर्ध्वमुख करने वाला भगवदर्पणबुद्धि से किया गया) जो शास्त्रविहित निष्काम कर्म है, उसे भी विसर्ग कहते हैं और ऐसे विसर्ग का नाम ही कर्म है (कर्म का यही अर्थ यहाँ लेना चाहिये)॥३॥

अक्षरं न क्षरतीति पर आत्मा ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि'' (बृ. ३.८.९) इति श्रुतेः। ओंकारस्य च 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गी. ८.१३) इति परेण विशेषणादग्रहणम्। **परममिति** च निरतिशये ब्रह्मण्यक्षर उपपन्नतरं विशेषणम्। तस्यैव परस्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वभाव इति स्वो भावोऽध्यात्ममुच्यते, आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**ऽध्यात्मशब्देनाभिधीयते। **भूतभावोद्भवकरो** भूतानां भावो भूतभावस्तस्योद्भवो भूतभावोद्भवस्तं करोतीति भूतभावोद्भवकरो भूतवस्तूत्पत्तिकर इत्यर्थः। **विसर्गो** विसर्जनं देवतोद्देशेन चरुपुरोडाशादेर्द्रव्यस्य परित्यागः स एष विसर्गलक्षणो यज्ञः **कर्मसंज्ञितः** कर्मशब्दित इत्येतत्। एतस्माद्धि बीजभूताद्वृष्ट्यादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्युद्भवन्ति॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥४॥

नाशवान् पदार्थ अधिभूत है, हिरण्यगर्भ पुरुष अधिदैवत है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस देह में अधियज्ञ तो मैं ही हूँ॥४॥

अधिभूतमिति। **अधिभूतं** प्राणिजातमधिकृत्य भवतीति। कोऽसौ **क्षरः** क्षरतीति क्षरो विनाशी **भावो** यत्किंचिज्जनिमद्वस्त्वित्यर्थः। **पुरुषः** पूर्णमनेन सर्वमिति पुरि शयनाद्वा पुरुष आदित्यान्तर्गतो हिरण्यगर्भः सर्वप्राणिकरणानामनुग्राहकः **सोऽधिदैवतम्**। **अधियज्ञः** सर्वयज्ञाभिमानिनी देवता विष्णवाख्या। "यज्ञो वै विष्णुः" (तै. सं. १.७.४) इति श्रुतेः। स हि विष्णु**रहमेवात्रास्मिन्देहे** यो यज्ञस्तस्याहमधियज्ञो, यज्ञो हि देहनिर्वर्त्यत्वेन देहसमवायीति देहाधिकरणो भवति **देहभृतां वर**॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५ ॥

मरणकाल में केवल मुझ परमेश्वर का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जो जाता है वह मेरे वैष्णव तत्त्व को प्राप्त करता है। इस विषय में (परमेश्वर को प्राप्त करता है या नहीं करता है ऐसा) संशय नहीं करना चाहिए॥५॥

अन्तकाल इति। **अन्तकाले च** मरणकाले **मामेव** परमेश्वरं विष्णुं **स्मरन्मुक्त्वा** परित्यज्य **कलेवरं** शरीरं **यः प्रयाति** गच्छति **स मद्भावं** वैष्णवं तत्त्वं **याति**। **नास्ति** न विद्यतेऽस्मिन्नर्थे **संशयो** याति वा न वेति॥५॥

न मद्विषय एवायं नियमः, किं तर्हि—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६ ॥

जिस-जिस पदार्थ का अन्तकाल में स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, हे अर्जुन! सदा उस भाव से भावित पुरुष उस-उस भाव को ही प्राप्त कर लेता है॥६॥

यं यं वाऽपि यं यं भावं देवताविशेषं स्मरंश्चिन्तयं-स्त्यजति परित्यजत्यन्ते प्राणवियोगकाले कलेवरं तं तमेव स्मृतं भावमेवैति नान्यं कौन्तेय सदा सर्वदा तद्भावभावितस्तस्मिन्भावस्तद्भावः स भावितः स्मर्यमाण-तयाऽभ्यस्तो येन स तद्भावभावितः सन्॥६॥

यस्मादेवमन्त्या भावना देहान्तरप्राप्तौ कारणम्—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

(जब देहान्तरप्राप्ति में इस प्रकार अन्त्यस्मृति ही कारण है) तो तू सभी समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझ वासुदेव में (जिसकी मन-बुद्धि समर्पित है वह तू मुझमें अर्पित किये हुए) मन-बुद्धि वाला होकर निःसन्देह मुझे ही (अर्थात् मेरे यथास्मृत स्वरूप को ही) प्राप्त करोगे॥७॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर यथाशास्त्रं युध्य च युद्धं च स्वधर्मं कुरु। मयि वासुदेवेऽर्पिते मनोबुद्धी यस्य तव स त्वं मय्यर्पितमनोबुद्धिः सन्मामेव यथास्मृत-मेष्यस्यागमिष्यस्यसंशयो न संशयोऽत्र विद्यते॥७॥

किंच—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥८॥

हे पार्थ! अभ्यासयोग से युक्त एवं अनन्यगामी चित्त से परम दिव्यपुरुष का चिन्तन करने वाला उसी को प्राप्त कर लेता है॥८॥

अभ्यासयोगयुक्तेन मयि चित्तसमर्पणविषयभूत एकस्मिंस्तुल्यप्रत्ययावृत्तिलक्षणो विलक्षणप्रत्ययानन्तरितोऽभ्यासः स चाभ्यासो योगस्तेन युक्तं तत्रैव व्यापृतं योगिनश्चेतस्तेन **चेतसा नान्यगामिना** नान्यत्र विषयान्तरे गन्तुं शीलमस्येति नान्यगामि तेन **नान्यगामिना परमं** निरतिशयं **पुरुषं दिव्यं** दिवि सूर्यमण्डले भवं **याति** गच्छति हे **पार्थ, अनुचिन्तयञ्**शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन्नित्येतत् ॥ ८ ॥

किंविशिष्टं च पुरुषं यातीत्युच्यते—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

क्रान्तदर्शी, चिरंतन, सम्पूर्ण जगत् का अनुशासक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सभी के कर्मफल का विधायक, अज्ञानान्धकार से अत्यन्त अस्पृष्ट, आदित्य के समान नित्यप्रकाशस्वरूप एवं अचिन्त्यरूप परमेश्वर का जो स्मरण करता है, (वह पूर्वश्लोकोक्त परम दिव्यपुरुष को प्राप्त करता है) ॥ ९ ॥

कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं **पुराणं** चिरंतन**मनुशासितारं** सर्वस्य जगतः प्रशासितार**मणोः** सूक्ष्मादप्य**णीयांसं** सूक्ष्मतर**मनुस्मरेद**नुचिन्तयेद्**यः** कश्चित्**सर्वस्य** कर्मफलजातस्य **धातारं** विचित्रतया प्राणिभ्यो विभक्तारं विभज्य दातार**मचिन्त्यरूपं** नास्य रूपं नियतं विद्यमानमपि केनचिच्चिन्तयितुं शक्यत इत्यचिन्त्यरूपस्त**मादित्यवर्ण**मादित्यस्येव नित्यचैतन्यप्रकाशो वर्णो यस्य तमादित्यवर्णं **तमसः परस्ताद**ज्ञानलक्षणान्मोहान्धकारात्परं तमनुचिन्तयन्यातीति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ ९ ॥

किंच—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

मरणकाल में चलनवर्जित मन से भक्तियुक्त हो और योगबल से दोनों भौंहों के बीच प्राण को अच्छी प्रकार से स्थिर कर वह साधक उस परम दिव्यपुरुष को प्राप्त करता है॥१०॥

प्रयाणकाले मरणकाले **मनसाऽचलेन** चलनवर्जितेन **भक्त्या युक्तो** भजनं भक्तिस्तया युक्तो **योगबलेन चैव** योगस्य बलं योगबलं तेन समाधिजसंस्कारप्रचयजनितचित्त-स्थैर्यलक्षणं योगबलं तेन च युक्त इत्यर्थः। पूर्वं हृदयपुण्डरीके वशीकृत्य चित्तं तत ऊर्ध्वगामिन्या नाड्या भूमिजयक्रमेण **भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य** स्थापयित्वा **सम्यग**प्रमत्तः सन्स एवं बुद्धिमान्योगी 'कविं पुराणम्' (गी. ८.९) इत्या-दिलक्षणं **तं परं पुरुषमुपैति** प्रतिपद्यते **दिव्यं** द्योतनात्म-कम्॥१०॥

योगमार्गानुगमनेनैव ब्रह्मविद्यामन्तरेणापि ब्रह्म प्राप्यत इत्येवं प्राप्त इदमुच्यते। पुनरपि वक्ष्यमाणेनोपायेन प्रतिपित्सितस्य ब्रह्मणो वेदविद्वदनादिविशेषणविशेष्यस्याभिधानं करोति भगवान्—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

श्रेष्ठ भाव को वहन करता है।

वेद के रहस्य जानने वाले वेदार्थवेत्ता पुरुष जिसे अविनाशी कहते हैं, वीतराग संन्यासी जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस अक्षर को जानने की इच्छा वाले गुरुकुलवासादिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं; उस पद को मैं तुझे संक्षेप में बतलाऊँगा॥११॥

यदक्षरं न क्षरतीत्यक्षरमविनाशि **वेदविदो** वेदार्थज्ञा **वदन्ति** "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" (बृ. ३.८.८) इति श्रुतेः। सर्वविशेषनिवर्तकत्वेनाभिवदन्ति 'अस्थूल-मनणु' (बृ. ३.८.८) इत्यादि। किंच **विशन्ति** प्रविशन्ति सम्यग्दर्शनप्राप्तौ सत्यां **यद्यतयो** यतनशीलाः संन्यासिनो **वीतरागा** विगतो रागो येभ्यस्ते वीतरागाः। **यच्चाक्षर-मिच्छन्तो** ज्ञातुमिति वाक्यशेषः। **ब्रह्मचर्यं** गुरौ **चरन्ति तत्ते पदं** तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं **संग्रहेण** संग्रहः संक्षेपस्तेन संक्षेपेण **प्रवक्ष्ये** कथयिष्यामि॥११॥

"स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्राणान्तमोंकारमभिध्या-यीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति तस्मै स होवाच" (प्र. ५.१) "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः" (प्र. ५.२) इत्युपक्रम्य "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" (प्र. ५.५) इत्यादिना वचनेन "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" (कठ. १.२.१४) इति चोपक्रम्य "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" (कठ. १.२.१५) इत्यादिभिश्च वचनैः परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण प्रतिमावत्प्रतीकरूपेण च परब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वेन मन्दमध्य-मबुद्धीनां विवक्षितस्योंकारस्योपासनं कालान्तरे मुक्तिफल-मुक्तं यत्तदेवेहापि "कविं पुराणमनुशासितारम्" (गी. ८.९) "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" (गी. ८.११) इति चोपन्यस्तस्य

परस्य ब्रह्मणः पूर्वोक्तरूपेण प्रतिपत्त्युपायभूतस्योंकारस्य कालान्तरमुक्तिफलमुपासनं योगधारणासहितं वक्तव्यं प्रसक्तानुप्रसक्तं च यत्किंचिदित्येवमर्थ उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२ ॥

श्रोत्रादि सभी द्वारों को संयमितकर हृदयकमल में मन को निरुद्धकर और अपने प्राण को मूर्धा में स्थापितकर योगधारणा में स्थित हो जाय॥१२॥

सर्वद्वाराणि सर्वाणि च तानि द्वाराणि च सर्वद्वाराण्युपलब्धौ तानि सर्वाणि **संयम्य** संयमनं कृत्वा **मनो हृदि** हृदयपुण्डरीके **निरुध्य** निरोधं कृत्वा निष्प्रचारमापाद्य तत्र वशीकृतेन मनसा हृदयादूर्ध्वगामिन्या नाड्योर्ध्वमारुह्य **मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितः** प्रवृत्तो **योगधारणां** धारयितुम्॥१२॥

तत्रैव च धारयन्—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

('ॐ' यह एकाक्षर मन्त्र ब्रह्मस्वरूप है क्योंकि यह ब्रह्म का अभिधान है ऐसे) ब्रह्माभिधानरूप ओंकार का उच्चारण और उसके अर्थस्वरूप मुझ ईश्वर का स्मरण करता हुआ जो मरता है वह देह त्यागने वाला पुरुष सर्वोत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है॥१३॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणोऽभिधानभूतमोंकारं **व्याहरन्नु**च्चारयंस्तदर्थभूतं **मामीश्वरमनुस्मरन्न**नुचिन्तयन्**यः प्रयाति** म्रियते **स** त्यजन्परित्यजन्देहं शरीरं त्यजन्देहमिति प्रयाणविशेषणार्थं देहत्यागेन प्रयाणमात्मनो न स्वरूपना-

शेनेत्यर्थः। स एवं त्यजन्याति गच्छति **परमां** प्रकृष्टां **गतिम्**॥१३॥

किंच—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

जो अनन्यचित्त निरन्तर दीर्घकाल तक मुझ परमेश्वर का स्मरण करता है, हे पृथापुत्र अंर्जुन! उस सदा समाहित योगी के लिए मैं सुलभ हूँ॥१४॥

अनन्यचेता नान्यविषये चेतो यस्य सोऽयमनन्यचेता योगी **सततं** सर्वदा **यो मां** परमेश्वरं **स्मरति नित्यशः**। सततमिति नैरन्तर्यमुच्यते। नित्यश इति दीर्घकालत्व-मुच्यते। न षण्मासं संवत्सरं वा, किं तर्हि? यावज्जीवं नैरन्तर्येण यो मां स्मरतीत्यर्थः। **तस्य** योगिनो**ऽहं सुलभः** सुखेन लभ्यः **पार्थ नित्ययुक्तस्य** सदा समाहितस्य **योगिनः**। यत एवमतोऽनन्यचेताः सन्मयि सदा समाहितो भवेत्॥१४॥

तव सौलभ्येन किं स्यादित्युच्यते, शृणु तन्मम सौलभ्येन यद्भवति—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

परमसिद्धि को प्राप्त करने वाले महात्मा मुझे प्राप्तकर दुःखालय (आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों का घर) एवं अशाश्वत (अनवस्थित) पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करते हैं॥१५॥

मामुपेत्य मामीश्वरमुपेत्य मद्भावमापद्य **पुनर्जन्म**

पुनरुत्पत्तिं न प्राप्नुवन्ति। किंविशिष्टं पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्तीति तद्विशेषणमाह — **दुःखालयं** दुःखानामाध्यात्मिकादीनामालयमाश्रयमालीयन्ते यस्मिन्दुःखानीति दुःखालयं जन्म। न केवलं दुःखालय**मशाश्वत**मनवस्थितस्वरूपं च **नाऽऽप्नुवन्ती**दृशं पुनर्जन्म **महात्मानो** यतयः **संसिद्धिं** मोक्षाख्यां **परमां** प्रकृष्टां **गताः** प्राप्ताः। ये पुनर्मां न प्राप्नुवन्ति ते पुनरावर्तन्ते॥१५॥

किं पुनस्त्वत्तोऽन्यत्प्राप्ताः पुनरावर्तन्त इत्युच्यते—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति-स्वभाव वाले हैं किन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त कर लेने के बाद फिर जन्म नहीं होता॥१६॥

आब्रह्मभुवनाद्भवन्ति यस्मिन्भूतानीति भुवनं ब्रह्मभुवनं ब्रह्मलोक इत्यर्थः। आब्रह्मभुवनात्सह ब्रह्मभुवनेन **लोकाः** सर्वे **पुनरावर्तिनः** पुनरावर्तनस्वभावा **हेऽर्जुन**। **मामेकमुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म** पुनरुत्पत्तिर्न **विद्यते**॥१६॥

ब्रह्मलोकसहिता लोकाः कस्मात्पुनरावर्तिनः कालपरिच्छिन्नत्वात्कथम्—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

(चतुर्युग को दिव्य युग भी कहते हैं।) ये दिव्ययुग जब एक हजार बार बीतते हैं तब ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि भी होती है। इसे जानने वाले अहोरात्र विद कहे जाते हैं॥१७॥

यहाँ काल की लम्बाई चौड़ाई नहीं देखना है। देखना यह है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी काल परिच्छिन्न हैं, इसलिए पुनरावर्ती हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि पर्यन्तः पर्यवसानं यस्याह्नस्तद**हः** सहस्रयुगपर्यन्तं **ब्रह्मणः** प्रजापतेर्विराजो **विदुः**, **रात्रिमपि युगसहस्रान्ताम**हःपरिमाणामेव। के विदुरित्याह — **तेऽहोरात्रविदः** कालसंख्याविदो **जना** इत्यर्थः। यत एवं कालपरिच्छिन्नास्तेऽतः पुनरावर्तिनो लोकाः॥१७॥

प्रजापतेरहनि यद्भवति रात्रौ च, तदुच्यते—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥

प्रजापति की निद्रावस्था को 'अव्यक्त' कहा गया है, उस अव्यक्त से उनके दिनागम काल में स्थावर-जंगम सभी व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त में सब समा जाते हैं॥१८॥

अव्यक्तादव्यक्तं प्रजापतेः स्वापावस्था तस्मादव्यक्ता**द्व्यक्तयो** व्यज्यन्त इति व्यक्तयः स्थावरजङ्गमलक्षणाः **सर्वाः प्रभवन्त्य**भिव्यज्यन्तेऽह्न आगमोऽहरागमस्तस्मि**न्नहरागमे** काले ब्रह्मणः प्रबोधकाले; तथा **रात्र्यागमे** ब्रह्मणः स्वापकाले **प्रलीयन्ते** सर्वा व्यक्तयस्**तत्रैव** पूर्वोक्तेऽ**व्यक्तसंज्ञके**॥१८॥

अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषपरिहारार्थं बन्धमोक्षशास्त्रप्रवृत्तिसाफल्यप्रदर्शनार्थमविद्यादिक्लेशमूलकर्माशयवशाच्चावशो भूतग्रामो भूत्वा भूत्वा प्रलीयत इत्यतः संसारे वैराग्यप्रदर्शनार्थं चेदमाह—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

हे पार्थ! पूर्वकल्प में स्थित जो प्राणी समुदाय था वही ब्रह्मा की रात्रि आने पर परवश हुआ लीन होता है और दिन आने पर उत्पन्न होता है॥१९॥

भूतग्रामो भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन्कल्प आसीत्स **एवायं** नान्यो **भूत्वा भूत्वा**ऽहरागमे **प्रलीयते** पुनःपुना **राज्यागमे**ऽह्नः क्षये**ऽवशो**ऽस्वतन्त्र एव **पार्थ प्रभवति** अवश **एवाहरागमे**॥१९॥

यदुपन्यस्तमक्षरं तस्य प्राप्त्युपायो निर्दिष्ट ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेत्यादिनाऽथेदानीमक्षरस्यैव स्वरूपनिर्दिदिक्षयेदमुच्यतेऽनेन योगमार्गेणेदं गन्तव्यमिति—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

किन्तु सूक्ष्मशरीररूप उस अव्यक्त से श्रेष्ठ भावरूप सनातन अव्यक्त भिन्न है जो महाप्रलय तथा आत्यन्तिक प्रलय में सभी भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है॥२०॥

परो व्यतिरिक्तो भिन्नः। कुतः; **तस्मात्**पूर्वोक्तात्। **तु**-शब्दोऽक्षरस्य विवक्षितस्याव्यक्ताद्वैलक्षण्यप्रदर्शनार्थः। **भावो**ऽक्षराख्यं परं ब्रह्म। व्यतिरिक्तत्वे सत्यपि सालक्षण्यप्रसङ्गोऽस्तीति तद्विनिवृत्त्यर्थमाह—**अन्य** इति। अन्यो विलक्षणः स **चाव्यक्तो**ऽनिन्द्रियगोचरः। परस्तस्मादित्युक्तं, कस्मात्पुनः परः; पूर्वोक्तादभूतग्रामबीजभूतादविद्यालक्षणा**दव्यक्तात्**। **सनात**-**न**श्चिरंतनः। **यः स** भावः **सर्वेषु भूतेषु** ब्रह्मादिषु **नश्यत्सु न विनश्यति**॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

जो यह सनातन अव्यक्त है उसे अक्षर नाम से भी कहा गया है और उसे परमगति भी कहते हैं। जिसे प्राप्तकर जीव संसार में लौटते नहीं हैं, वह मेरा परमधाम है॥२१॥

अव्यक्त इति। यो**ऽसावव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमे**वाक्षरसंज्ञकमव्यक्तं भाव**माहुः परमां** प्रकृष्टां **गतिम्। यं** भावं **प्राप्य** गत्वा **न निवर्तन्ते** संसाराय, **तद्धाम** स्थानं **परमं** प्रकृष्टं **मम** विष्णोः परमं पदमित्यर्थः॥२१॥

तल्लब्धेरुपाय उच्यते—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

हे पार्थ! वह सर्वोत्कृष्ट पुरुष ज्ञानरूपा आत्मविषयिणी अनन्य-भक्ति से प्राप्त होता है जिस पुरुष के भीतर सभी भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है॥२२॥

पुरुषः पुरि शयनात्पूर्णत्वाद्वा **स परः पार्थ** परो निरतिशयो यस्मात्पुरुषान्न परं किंचित्स **भक्त्या लभ्यस्तु** ज्ञानलक्षणया**ऽनन्यया**ऽऽत्मविषयया। **यस्य** पुरुष**स्यान्तःस्थानि** मध्यस्थानि कार्यभूतानि **भूतानि**। कार्यं हि कारण-स्यान्तर्वर्ति भवति। **येन** पुरुषेण **सर्वमिदं** जग**त्ततं** व्याप्त-माकाशेनेव घटादि॥२२॥

सप्तमाह्निकम्॥७॥

***

प्रकृतानां योगिनां प्रणवावेशितब्रह्मबुद्धीनां कालान्तरमुक्तिभाजां ब्रह्मप्रतिपत्तय उत्तरो मार्गो वक्तव्य इति यत्र काल इत्यादिविवक्षितार्थसमर्पणार्थमुच्यते। आवृत्तिमार्गोपन्यास इतरमार्गस्तुत्यर्थः—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

जिस काल में मरे हुए योगी अनावृत्ति और जिस काल में मरे हुए योगी आवृत्ति को प्राप्त होते हैं, हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! उस काल (कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग) को मैं बतलाऊँगा॥२३॥

यत्र काले प्रयाता इति व्यवहितेन संबन्धः। **यत्र** यस्मिन्**काले त्वनावृत्तिम**पुनर्जन्माऽऽ**वृत्तिं** तद्विपरीतां **चैव**। **योगिन** इति योगिनः कर्मिणश्चोच्यन्ते। कर्मिणस्तु गुणतः 'कर्मयोगेन योगिनाम्' (गी. ३.३) इति विशेषणाद्योगिनः। यत्र काले **प्रयाता** मृता योगिनोऽनावृत्तिं **यान्ति**, यत्र काले च **प्रयाता** आवृत्तिं **यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ**॥२३॥

तं कालमाह—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

जिस मार्ग में अग्निरूप ज्योतिरभिमानी देव, दिनाभिमानी, शुक्लपक्षाभिमानी और छः मास उत्तरायण के अभिमानी देवता आतिवाहिक हैं, उस मार्ग से प्रस्थान करने वाले उपासक कार्यब्रह्म को प्राप्त करते हैं॥२४॥

अग्निः कालाभिमानिनी देवता तथा **ज्योति**र्देवतैव

कालाभिमानिनी। अथवाऽग्निज्योतिषी यथाश्रुते एव देवते। भूयसां तु निर्देशो "यत्र काले" "तं कालम्" (गी. ८.२३) इति आम्रवनवत्। तथाऽहर्देवताऽ**हः शुक्लः** शुक्लपक्षदेवता **षण्मासा उत्तरायणं** तत्रापि देवतैव मार्गभूतेति स्थितोऽन्यत्र न्यायः। **तत्र** तस्मिन्मार्गे **प्रयाता** मृता **गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो** ब्रह्मोपासनपरा **जनाः**। क्रमेणेति वाक्यशेषः। न हि सद्योमुक्तिभाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिरागतिर्वा क्वचिदस्ति। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृ. ४.४.६) इति श्रुतेः। ब्रह्मसंलीनप्राणा एव ते ब्रह्ममया ब्रह्मभूता एव ते। क्रमेण तु गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता, रात्रि अभिमानी देवता, कृष्णपक्षाभिमानी देवता और छः मास दक्षिणायन के अभिमानी देवता आतिवाहिक हैं उस मार्ग से जाने वाला कर्मी चन्द्रलोक के भोगों को भोगकर संसार में लौट आता है॥२५॥

धूम इति। **धूमो रात्रिर्धूमा**भिमानिनी रात्र्यभिमानिनी च देवता। **तथा कृष्णः** कृष्णपक्षदेवता। **षण्मासा दक्षिणायनमिति** च पूर्ववद्देवतैव। **तत्र** चन्द्रमसि भवं **चान्द्रमसं ज्योतिः** फलमिष्टादिकारी **योगी** कर्मी **प्राप्य** भुक्त्वा तत्क्षया**न्निवर्तते** पुनः॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥२६॥

संसार के ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग शाश्वत माने गये हैं, एक मार्ग से जाने वाला संसार में नहीं लौटता है और पुनः दूसरे मार्ग से जाने वाला संसार में लौटता है॥२६॥

शुक्लेति। **शुक्लकृष्णे** शुक्ला च कृष्णा च शुक्लकृष्णे। ज्ञानप्रकाशकत्वाच्छुक्ला तदभावात्कृष्णा। **एते शुक्लकृष्णे हि गती जगत** इत्यधिकृतानां ज्ञानकर्मणोर्न जगतः सर्वस्यैवैते गती संभवतः। **शाश्वते** नित्ये संसारस्य नित्यत्वान्मते अभिप्रेते। **तत्रैकया** शुक्लया **यात्यनावृत्तिमन्ययेतरयाऽऽवर्तते पुनर्भूयः**॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता है। अतः हे अर्जुन! तुम सभी काल में ध्याननिष्ठ हो जाओ॥२७॥

नैते इति। **नैते** यथोक्ते **सृती** मार्गौ **पार्थ जानन्**संसारायैकाऽन्या मोक्षाय चेति **योगी न मुह्यति कश्चन** कश्चिदपि। **तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः** समाहितो **भवार्जुन**॥२७॥

श्रृणु योगस्य माहात्म्यम्—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽद्यम्॥२८॥

आदितः श्लो. ३३८

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

(दर्भपवित्रपाणि, पूर्वाभिमुख हो) वेदाध्ययन करने पर, साङ्गोपाङ्ग यज्ञादि के अनुष्ठान करने पर, (मन और बुद्धि की एकाग्रतापूर्वक) तप करने पर और (देश, काल, पात्र के अनुसार) दान देने पर जो पुण्यफल प्राप्त होता है जिसका निर्देश शास्त्र ने किया है, उन (सबको इस अध्याय में वर्णित सातों प्रश्नों) के उत्तररूप में समझकर ध्याननिष्ठ योगी सर्वोत्तम आद्य स्थान को प्राप्त कर लेता है॥२८॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित अक्षरब्रह्मयोगनामक अष्टम अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई।

वेदेषु सम्यगधीतेषु **यज्ञेषु च** साद्गुण्येनानुष्ठितेषु **तपःसु च** सुतप्तेषु **दानेषु च** सम्यग्दत्तेषु **यदे**तेषु **पुण्यफलं** पुण्यस्य फलं पुण्यफलं **प्रदिष्टं** शास्त्रेण**ात्येत्य**तीत्य गच्छति **तत्सर्वं** फलजात**मिदं विदित्वा** सप्तप्रश्ननिर्णयद्वारेणोक्तं सम्यगवधार्यानुष्ठाय **योगी परं** प्रकृष्टमैश्वरं **स्थानमुपैति** प्रतिपद्यते, **आद्यमा**दौ भवं कारणं ब्रह्मेत्यर्थः॥२८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ नवमोऽध्यायः

अष्टमे नाडीद्वारेण धारणायोगः सगुण उक्तः। तस्य च फलमग्न्यर्चिरादिक्रमेण कालान्तरे ब्रह्मप्राप्तिलक्षणमेवानावृत्तिरूपं निर्दिष्टम्। तत्रानेनैव प्रकारेण मोक्षप्राप्तिफलमधिगम्यते नान्यथेति तदाशङ्काव्याविवृत्सया—

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—यह गुह्यतम विज्ञान के सहित ब्रह्मज्ञान तुझ निर्दोष अधिकारी को मैं भलीभाँति बतलाऊँगा जिसे जानकर तू अशुभ संसारबन्धन से मुक्त हो जायेगा॥ १॥

इदं ब्रह्मज्ञानं वक्ष्यमाणमुक्तं च पूर्वेष्वध्यायेषु तद्बुद्धौ संनिधीकृत्येदमित्याह। **तु**शब्दो विशेषनिर्धारणार्थः। इदमेव सम्यग्ज्ञानं साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी. ७.१९) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा. ७.२५.२) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा. ६.२.१) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। नान्यत्। "अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" (छा. ७.२५.२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। **ते** तुभ्यं **गुह्यतमं** गोप्यतमं **प्रवक्ष्यामि** कथयिष्याम्य**नसूयवे**ऽसूयारहिताय। किं तत्, **ज्ञानं**, किंविशिष्टं **विज्ञानसहित**मनुभवयुक्तम्। यज्ज्ञानं **ज्ञात्वा** प्राप्य **मोक्ष्यसेऽशुभा**त्संसारबन्धनात्॥ १॥

गुणेषु दोषाविष्करणम् । परकीयगुणेषु दोषारोपः ।

तच्च—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

यह ज्ञान सभी विद्याओं में श्रेष्ठ, गोपनीयों में अतिगोपनीय, पवित्र, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष से जानने योग्य, धर्म से अविरुद्ध, साधन करने में सुखद और फलतः अविनाशी है॥२॥

राजविद्या विद्यानां राजा। दीप्त्यतिशयत्वात्। दीप्यते हीयमतिशयेन ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानाम्। तथा **राजगुह्यं** गुह्यानां राजा। **पवित्रं** पावन**मिदमुत्तमं** सर्वेषां पावनानां शुद्धिकारणमिदं ब्रह्मज्ञानमुत्कृष्टतमम्। अनेकजन्मसहस्रसंचितमपि धर्माधर्मादि समूलं कर्म क्षणमात्राद्भस्मीकरोति यतोऽतः किं तस्य पावनत्वं वक्तव्यम्। किंच **प्रत्यक्षावगमं** प्रत्यक्षेण सुखादेरिवावगमो यस्य तत्प्रत्यक्षावगमम्। अनेकगुणवतोऽपि धर्मविरुद्धत्वं दृष्टं न तथाऽऽत्मज्ञानं धर्मविरोधि, किंतु **धर्म्यं** धर्मादनपेतम्। एवमपि स्याद्दुःसंपाद्यमित्यत आह **सुसुखं कर्तुं** यथा रत्नविवेकविज्ञानम्। तत्राल्पायासानां कर्मणां सुखसंपाद्यानामल्पफलत्वं दुष्कराणां च महाफलत्वं दृष्टमितीदं तु सुखसंपाद्यत्वात्फलक्षयाद्व्येतीति प्राप्तमत आह**ाव्ययं** नास्य फलतः कर्मवद्व्ययोऽस्तीत्यव्ययमतः श्रद्धेयमात्मज्ञानम्॥ २॥

ये पुनः—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

किन्तु हे परंतप! जो पुरुष इस आत्मज्ञानरूप धर्म में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझ परमेश्वर को न प्राप्तकर मृत्यु युक्त संसार मार्ग में घूमते रहते हैं॥३॥

अश्रद्दधानाः श्रद्धाविरहिता आत्मज्ञानस्य **धर्मस्यास्य** स्वरूपे तत्फले च नास्तिकाः पापकारिणोऽसुराणामुपनिषदं देहमात्रात्मदर्शनमेव प्रतिपन्ना असुतृपः **पुरुषाः परंतप! अप्राप्य मां** परमेश्वरं मत्प्राप्तौ नैवाऽऽशङ्केति मत्प्राप्तिमार्गसाधनभेदभक्तिमात्रमप्यप्राप्येत्यर्थः। **निवर्तन्ते** निश्चयेनाऽऽवर्तन्ते। क्व **मृत्युसंसारवर्त्मनि** मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारस्तस्य वर्त्म नरकतिर्यगादिप्राप्तिमार्गस्तस्मिन्नेव वर्तन्त इत्यर्थः ॥३॥

स्तुत्याऽर्जुनमभिमुखीकृत्याऽऽह—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मुझ अव्यक्तमूर्ति द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। उसी अव्यक्तमूर्ति में ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सभी भूत स्थित हैं, पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥४॥

मया मम यः परो भावस्तेन **ततं** व्याप्तं **सर्वमिदं जगदव्यक्तमूर्तिना** न व्यक्ता मूर्तिः स्वरूपं यस्य मम सोऽहमव्यक्तमूर्तिस्तेन मयाऽव्यक्तमूर्तिना करणागोचरस्वरूपेणेत्यर्थः। तस्मिन्मय्यव्यक्तमूर्तौ स्थितानि **मत्स्थानि सर्वभूतानि** ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि। न हि निरात्मकं किंचिद्भूतं व्यवहारायावकल्पतेऽतो मत्स्थानि मयाऽऽत्मनाऽऽत्मवत्त्वेन स्थितान्यतो मयि स्थितानीत्युच्यन्ते। तेषां भूतानामहमेवाऽऽत्मेत्यतस्तेषु स्थित इति मूढबुद्धीनामवभासते, अतो ब्रवीमि **न चाहं तेषु** भूतेष्व**वस्थितो** मूर्तवत्संश्लेषाभावेनाऽऽकाशस्याप्यन्तरतमो ह्यहम्। न ह्यसंसर्गि वस्तु क्वचिदाधेयभावेनावस्थितं भवति ॥४॥

अत एवासंसर्गित्वान्मम—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः॥५॥

असंसर्गी होने के कारण ही वस्तुतः मुझमें भूत स्थित नहीं हैं। मेरे इस ऐश्वरयोग को देख! मेरा आत्मा भूतों का उत्पादक, भूतों का भरण-पोषण करने वाला होता हुआ भी भूतस्थ नहीं है॥५॥

न च मत्स्थानि भूतानि ब्रह्मादीनि **पश्य मे योगं** युक्तिं घटनं मे म**मैश्वरम्**ीश्वरस्येममैश्वरं योगमात्मनो याथात्म्यमित्यर्थः। तथा च श्रुतिरसंसर्गित्वादसङ्गतां दर्शयति "असङ्गो न हि सज्जते" (बृ. ३.९.२६) इति। इदं चाऽऽश्चर्यमन्यत्पश्य **भूतभृद**सङ्गोऽपि सन्भूतानि बिभर्ति **न च भूतस्थो** यथोक्तेन न्यायेन दर्शितत्वाद्भूतस्थत्वानुपपत्तेः। कथं पुनरुच्यतेऽसौ **ममाऽऽत्मे**ति, विभज्य देहादिसंघातं तस्मिन्नहंकारमध्यारोप्य लोकबुद्धिमनुसरन्व्यपदिशति ममाऽऽत्मेति, न पुनरात्मन आत्माऽन्य इति लोकवदजानन्। तथा **भूतभावनो** भूतानि भावयत्युत्पादयति वर्धयतीति वा भूतभावनः॥५॥

यथोक्तेन श्लोकद्वयेनोक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयन्नाह—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥६॥

जैसे सर्वत्रगामी महान् वायु सदा आकाश में स्थित है, वैसे ही सभी भूत मुझमें स्थित हैं ऐसा निश्चय जानो॥६॥

यथा लोक आकाशस्थित आकाशे स्थितो **नित्यं** सदा **वायुः** सर्वत्र गच्छतीति **सर्वत्रगो महान्**परिमाणत**स्तथा**ऽऽकाशवत्सर्वगते मय्यसंश्लेषेणैव स्थितानीत्येवमुप**धारय** जानीहि॥६॥

एवं वायुराकाश इव मयि स्थितानि सर्वभूतानि स्थितिकाले, तानि—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७॥

हे कौन्तेय! वे सभी भूत प्रलयकाल में मेरी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति को प्राप्त होते हैं और उत्पत्तिकाल में मैं पुनः उन भूतों को उत्पन्न करता हूँ॥७॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामपरां निकृष्टां **यान्ति मामिकां** मदीयां **कल्पक्षये** प्रलयकाले। **पुनर्भूयस्तानि** भूतान्युत्पत्तिकाले **कल्पादौ विसृजाम्यु**त्पा-दया**म्यहं** पूर्ववत्॥७॥

एवमविद्यालक्षणाम्—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

इस प्रकार अविद्या रूपा अपनी प्रकृति को वश में कर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं बार-बार उत्पन्न करता हूँ॥८॥

प्रकृतिं स्वां स्वीया**मवष्टभ्य** वशीकृत्य **विसृजामि पुनः पुनः** प्रकृतितो जातं **भूतग्रामं** भूतसमुदाय**मिमं** वर्तमानं **कृत्स्नं** समग्र**मवशम**स्वतन्त्रमविद्यादिदोषैः परवशी-कृतं **प्रकृतेर्वशा**त्स्वभाववशात्॥८॥

तर्हि तस्य ते परमेश्वरस्य भूतग्रामं विषमं विदधतस्तन्निमित्ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां संबन्धः स्यादितीदमाह भगवान्—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

हे धनंजय! उन विषम रचना रूप सृष्टि आदि कर्मों में मैं अनासक्त, उदासीन की भाँति रहता हूँ। इसीलिए वे कर्म मुझे नहीं बाँधते हैं॥९॥

न च मामीशं तानि भूतग्रामस्य विषमविसर्गनिमित्तानि **कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।** तत्र कर्मणामसंबद्धत्वे कारणमाह—**उदासीनवदासीनं** यथोदासीन उपेक्षकः कश्चित्तद्वदासीनमात्मनोऽविक्रियत्वा**दसक्तं** फलासङ्गरहित-मभिमानवर्जितमहं करोमीति **तेषु कर्मसु।** अतोऽन्यस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावः फलासङ्गाभावश्चाबन्धकारणमन्यथा कर्म-भिर्बध्यते मूढः कोशकारवदित्यभिप्रायः॥९॥

तत्र 'भूतग्राममिमं विसृजामि' (गी. ९.८) 'उदासीनवदासीनम्' (गी. ९.९) इति च विरुद्धमुच्यत इति तत्परिहारार्थमाह—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥१०॥

सभी ओर से चिन्मात्र-स्वरूप, निर्विकार मुझ परमात्मा की अध्यक्षता में मेरी त्रिगुणात्मिका, अविद्यास्वरूपा जगत्प्रकृतिभूता माया चराचर सहित जगत् को उत्पन्न करती है। (ऐसे उदासीन ईश्वर के साक्षित्वमात्र को निमित्त बनाकर यह जगत् बार-बार सृष्टि एवं संहार को अनुभव करता है।) सृष्टि, स्थिति एवं संहार सभी अवस्थाओं में व्यक्त एवं अव्यक्त सचराचर जगत् परिवर्तित होता रहता है॥१०॥

मया सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेणाविक्रियात्मना**ऽध्यक्षेण** मम माया त्रिगुणात्मिकाऽविद्यालक्षणा **प्रकृतिः सूयत** उत्पादयति **सचराचरं** जगत्। तथा च मन्त्रवर्णः—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वे. ६.११) इति। **हेतुना** निमित्तेना**नेना**ध्यक्षत्वेन **कौन्तेय**

जगत्सचराचरं व्यक्ताव्यक्तात्मकं **विपरिवर्तते** सर्वावस्थासु। दृशिकर्मत्वापत्तिनिमित्ता हि जगतः सर्वा प्रवृत्तिरहमिदं भोक्ष्ये पश्यामीदं शृणोमीदं सुखमनुभवामि दुःखमनुभवामि तदर्थमिदं करिष्याम्येतदर्थमिदं करिष्य इदं ज्ञास्यामीत्याद्या-ऽवगतिनिष्ठाऽवगत्यवसानैव। "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" (ऋ. सं. ८.७.१७.७) इत्यादयश्च मन्त्रा एतमर्थं दर्शयन्ति। ततश्चैकस्य देवस्य सर्वाध्यक्षभूतचैतन्यमात्रस्य परमार्थतः सर्व-भोगानभिसंबन्धिनोऽन्यस्य चेतनान्तरस्याभावे भोक्तुरन्यस्याभावा-त्किंनिमित्तेयं सृष्टिरित्यत्र प्रश्नप्रतिवचने अनुपपन्ने "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः" (ऋ. सं. ८.७.१७.८) इत्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः। दर्शितं च भगवता 'अज्ञाने-नाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी. ५.१५) इति॥१०॥

एवं मां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनामात्मानमपि सन्तम्—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

मनुष्य देह सम्बन्धी मानकर विवेकशून्यलोग मेरे भूतमहेश्वरस्वरूप परमभाव को न जानकर तिरस्कार करते हैं॥११॥

अवजानन्त्यवज्ञां परिभवं कुर्वन्ति **मां मूढा** अवि-वेकिनो **मानुषीं** मनुष्यसंबन्धिनीं **तनुं** देह**माश्रितं** मनुष्य-देहेन व्यवहरन्तमित्येतत्। **परं** प्रकृष्टं **भावं** परमात्मतत्त्वमा-काशकल्पमाकाशादप्यन्तरतम**मजानन्तो मम भूतमहेश्वरं** सर्वभूतानां महान्तमीश्वरं स्वमात्मानम्। ततश्च तस्य ममाव-ज्ञानभावनेनाऽऽहता वराकास्ते॥११॥

कथम्—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

ईश्वरनिन्दक की आशायें व्यर्थ, उनके किए हुए अग्निहोत्रादि कर्म भी व्यर्थ, उनका ज्ञान निष्फल और वे विवेकशून्य माने जाते हैं वे राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति का आश्रय लिये जन्म लेते हैं (और देह त्यागने के बाद पुनः ऐसी ही स्थिति प्राप्त करते हैं)॥१२॥

मोघाशा वृथाऽऽशा आशिषो येषां ते मोघाशाः। तथा **मोघकर्माणो** यानि चाग्निहोत्रादीनि तैरनुष्ठीयमानानि कर्माणि तानि च तेषां भगवत्परिभवात्स्वात्मभूतस्यावज्ञानान्मोघान्येव निष्फलानि कर्माणि भवन्तीति मोघकर्माणः। तथा **मोघज्ञाना** निष्फलज्ञाना ज्ञानमपि तेषां निष्फलमेव स्यात्। **विचेतसो** विगतविवेकाश्च ते भवन्तीत्यभिप्रायः। किंच ते भवन्ति **राक्षसीं** रक्षसां प्रकृतिं स्वभावम**आसुरी**मसुराणां च **प्रकृतिं मोहिनीं** मोहकरीं देहात्मवादिनीं **श्रिता** आश्रिताश्छिन्धि भिन्धि पिब खाद परस्वमपहरेत्येवंवदनशीलाः क्रूरकर्माणो भवन्तीत्यर्थः। "असुर्या नाम ते लोकाः" (ई. ३) इति श्रुतेः॥१२॥

ये पुनः श्रद्दधाना भगवद्भक्तिलक्षणे मोक्षमार्गे प्रवृत्ताः—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

पर जो श्रद्धालु भगवद्भक्तिरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हैं, हे पार्थ! वे महात्मा दैवी प्रकृति के आश्रित हो भूतों के आदिकारण मुझ अविनाशी परमात्मा को अनन्यचित्त होकर भजते हैं॥१३॥

महात्मानस्त्वक्षुद्रचित्ता **मामी**श्वरं **पार्थ दैवीं** देवानां **प्रकृतिं** शमदमदयाश्रद्धादिलक्षणा**माश्रिताः** सन्तो **भजन्ति**

सेवन्तेऽनन्यमनसोऽनन्यचित्ता **ज्ञात्वा भूतादिं** भूतानां वियदादीनां प्राणिनां चाऽऽदिं **कारणमव्ययम्**॥१३॥

कथम्—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

निरन्तर ब्रह्मस्वरूप मुझ परमेश्वर का वेदान्त श्रवण एवं कथन द्वारा कीर्तन करते हैं, इन्द्रियसंयमरूप यत्न करते हैं, दृढ़ व्रत रखते हैं, नित्य समाहित हो भक्ति पूर्वकनमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं॥१४॥

सततं सर्वदा भगवन्तं ब्रह्मस्वरूपं **मां कीर्तयन्तो यतन्तश्चे**न्द्रियोपसंहारशमदमदयाहिंसादिलक्षणैर्धर्मैः प्रयतन्तश्च दृढं स्थिरमचाञ्चल्यं व्रतं येषां ते **दृढव्रता नमस्यन्तश्च मां** हृदयेशयमात्मानं **भक्त्या नित्ययुक्ताः** सन्त **उपासते** सेवन्ते॥१४॥

ते केन केन प्रकारेणोपासते इत्युच्यते—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥

वे भगवद्विषयक ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं। (वे अन्य उपासनाओं का परित्याग कर डालते हैं) परमार्थ दर्शन के द्वारा अभेदरूप से मेरी उपासना करते हैं। आदित्य, चन्द्रादिरूप से कुछ लोग भेदपूर्वक मेरी उपासना करते हैं और कुछ लोग अनेक प्रकार से स्थित **'विश्वतोमुख'** रूप में अनेक प्रकार से उपासना करते हैं॥१५॥

ज्ञानयज्ञेन ज्ञानमेव भगवद्विषयं यज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन **यजन्तः** पूजयन्तो **मामी**श्वरं **चाप्यन्ये**ऽन्यामुपासनां परित्यज्यो**पासते**। तच्च ज्ञान**मेकत्वेनै**कमेव परं ब्रह्मेति परमार्थदर्शनेन यजन्त उपासते। केचिच्च **पृथक्त्वेना**ऽऽदित्यचन्द्रादिभेदेन स एव भगवान्विष्णुरादित्यादिरूपेणावस्थित

इत्युपासते। केचिद्बहुधाऽवस्थितः स एव भगवान्सर्वतोमुखो **विश्वतोमुखो** विश्वरूप इति तं विश्वरूपं सर्वतोमुखं बहुधा बहुप्रकारेणोपासते॥१५॥

यदि बहुभिः प्रकारैरुपासते कथं त्वामेवोपासत इत्यत आह—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

श्रौतकर्म मैं हूँ, स्मार्तकर्म मैं हूँ, पितरों को दिया जाने वाला औषध मैं हूँ, (जिससे देव एवं पितर को हवि देते हैं, वह) मन्त्र मैं हूँ, हवि भी मैं ही हूँ, जिसमें हवि डालते हैं वह अग्नि मैं हूँ और हवनकर्म भी मैं हूँ (परमात्मा सर्वात्मक है, इसलिये इन सभी रूपों में भगवान् का ही ध्यान करते हुये वे मेरी ही उपासना करते हैं)॥१६॥

अहं क्रतुः श्रौतकर्मभेदोऽहमेवा**हं यज्ञः** स्मार्तः। किंच **स्वधाऽन्नमहं** पितृभ्यो यद्दीयते। **अहमौषधं** सर्वप्राणिभिर्यदद्यते तदौषधशब्दवाच्यम्। अथवा स्वधेति सर्वप्राणिसाधारणमन्नमौषधमिति व्याध्युपशमार्थं भेषजम्। **मन्त्रोऽहं** येन पितृभ्यो देवताभ्यश्च हविर्दीयते। **अहमेवाऽऽज्यं** हविश्चा**हमग्निर्य**स्मिन्हूयते सोऽग्निरहमेवा**हं हुतं** हवनकर्म च॥१६॥

किंच—

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च॥१७॥

इस जगत् का पिता, माता, विधाता, पितामह, जानने योग्य वेद्य, परिशुद्धि का कारण पुण्यकर्म, वेद्य वस्तु को जानने का साधन ओंकार, ऋक्, साम, यजुः एवं अथर्ववेद भी मैं ही हूँ॥१७॥

पिता जनयिता**ऽहमस्य जगतो माता** जनयित्री **धाता** कर्मफलस्य प्राणिभ्यो विधाता **पितामहः** पितुः पिता **वेद्यं** वेदितव्यं **पवित्रं** पावन**मोंकार**श्च **ऋक्सामयजुरेव च**॥१७॥

उपासना में भावना करनी पडेगी साथ में नाम जप का आधार करना होगा

किंच—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

(भगवान् सर्वात्मक होने में एक हेतु और भी बतलाते हैं कि) गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान और अव्यय बीज भी मैं ही हूँ॥१८॥

गतिः कर्मफलं, **भर्ता** पोष्टा, **प्रभुः** स्वामी, **साक्षी** प्राणिनां कृताकृतस्य, **निवासो** यस्मिन्प्राणिनो निवसन्ति, **शरणमार्तानां** मत्प्रपन्नानामार्तिहरः, **सुहृत्**प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी, **प्रभव** उत्पत्तिर्जगतः, **प्रलयः** प्रलीयते यस्मिन्निति। तथा **स्थानं** तिष्ठत्यस्मिन्निति। **निधानं** निक्षेपः कालान्तरोपभोग्यं प्राणिनां, **बीजं** प्ररोहकारणं प्ररोहधर्मिणाम्। **अव्ययं** यावत्संसारभावित्वादव्ययम्। न ह्यबीजं किंचित्प्ररोहति। नित्यं च प्ररोहदर्शनाद्बीजसंततिर्न व्येतीति गम्यते॥१८॥

किंच—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

मैं ही (आदित्य बनकर अपनी कुछ तीक्ष्ण रश्मियों से इस जगत् को) संतप्त करता हूँ, (कुछ रश्मियों से) जल को खींचता हूँ और पुनः (कुछ रश्मियों से) जल को बरसाता हूँ। देवताओं का अमृत और मरणशील जीवों की मृत्यु भी मैं ही हूँ। जिसके सम्बन्ध से यह जगत् सत् भासता है, वह सत् मैं हूँ और उसके विपरीत असत् भी मैं ही हूँ॥१९॥

तपाम्यहमादित्यो भूत्वा कैश्चिद्रश्मिभिरुल्बणैर**हं वर्षं** कैश्चिद्रश्मिभि**रुत्सृजा**म्युत्सृज्य पुन**र्निगृह्णामि** कैश्चिद्रश्मिभिरष्टभिर्मासैः पुनरुत्सृजामि प्रावृषि। **अमृतं चैव**

देवानां **मृत्युश्च** मर्त्यानाम्। **सद्यस्य** यत्संबन्धितया विद्यमानं तद्विपरीत**मसच्चैवाहमर्जुन**। न पुनरत्यन्तमेवासद्भगवान्स्वयं कार्यकारणे वा सदसती। ये पूर्वोक्तैरनुवृत्तिप्रकारैरेकत्व-पृथक्त्वादिविज्ञानैर्यज्ञैर्मां पूजयन्त उपासते ज्ञानविदस्ते यथाविज्ञानं मामेव प्राप्नुवन्ति॥१९॥

ये पुनरज्ञाः कामकामाः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

पर जो अज्ञानी दृष्टादृष्ट भोगों में आसक्त हैं वे ऋग्, यजुः, साम वेद के विद्वान् सोमरस पान करने वाले पापरहित सकाम भक्त अग्निष्टोमादि यज्ञों के द्वारा वस्वादि रूप में मेरी पूजाकर फल चाहते हैं, वे शतक्रतु इन्द्र के पवित्र पुण्य लोक को प्राप्त कर वहाँ के दिव्य भोगों को भोगते हैं॥२०॥

त्रैविद्या ऋग्यजुःसामविदो **मां** वस्वादिदेवरूपिणं **सोमपाः** सोमं पिबन्तीति सोमपास्तेनैव सोमपानेन **पूतपापाः** शुद्धकिल्बिषा **यज्ञैरग्निष्टोमादिभिरिष्ट्वा** पूजयित्वा **स्वर्गतिं** स्वर्गगमनं स्वर्गतिस्तां **प्रार्थयन्ते**। **ते** च **पुण्यं** पुण्यफल**मासाद्य** संप्राप्य **सुरेन्द्रलोकं** शतक्रतोः स्थान**मश्नन्ति** भुञ्जते **दिव्यान्दिवि** भवानप्राकृतान्**देव-भोगान्**देवानां भोगास्तान्॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥

उस विशाल स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर वे सकाम पुरुष पुनः मर्त्यलोक में लौट आते हैं। ऐसे वेदत्रयी में बतलाये गये धर्म का पालन करने वाले सकाम भक्त गमनागमन को प्राप्त होते हैं॥२१॥

ते तमिति। **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं** विस्तीर्णं **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकमिमं विशन्त्या**विशन्ति। **एवं** हि यथोक्तेन प्रकारेण **त्रैधर्म्यं** केवलं वैदिकं **कर्मानुप्रपन्ना गतागतं** गतं चाऽऽगतं च गतागतं गमनागमनं **कामकामाः** कामान्कामयन्त इति कामकामा **लभन्ते**। गतागतमेव न तु स्वातन्त्र्यं क्वचिल्लभन्ते इत्यर्थः॥२१॥

ये पुनर्निष्कामाः सम्यग्दर्शिनः—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥२२॥

किन्तु जो सर्वथा निष्काम, सम्यग्दर्शी, अभेदभाव से मुझ परमेश्वर का चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, वे नित्य अभियुक्त माने जाते हैं, ऐसे भक्तों का योग-क्षेम मैं चलाता हूँ॥२२॥

अनन्या अपृथग्भूताः परं देवं नारायणमात्मत्वेन गताः सन्त**श्चिन्तयन्तो मां ये जनाः** संन्यासिनः **पर्युपासते तेषां** परमार्थदर्शिनां **नित्याभियुक्तानां** सतताभियोगिनां **योगक्षेमं** योगोऽप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमस्तद्रक्षणं तदुभयं **वहामि** प्रापयाम्य**हम्**। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी. ७.१८) स च मम प्रियो यस्मात्तस्मात्ते ममाऽऽत्मभूताः प्रियाश्चेति। नन्वन्येषामपि भक्तानां योगक्षेमं वहत्येव भगवान्। सत्यं वहत्येव। किंत्वयं विशेषोऽन्ये ये भक्तास्ते स्वात्मार्थं स्वयमपि योगक्षेममीहन्ते, अनन्यदर्शिनस्तु नाऽऽत्मार्थं योगक्षेममीहन्ते। न हि ते जीविते मरणे वाऽऽत्मनो गृद्धिं कुर्वन्ति, केवलमेव भगवच्छरणास्ते। अतो भगवानेव तेषां योगक्षेमं वहतीति॥२२॥

नन्वन्या अपि देवतास्त्वमेव चेत्तद्भक्ताश्च त्वामेव यजन्ते सत्यमेवम्—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३॥

जो भी अन्यदेवभक्त श्रद्धायुक्त हो पूजा करते हैं, हे कौन्तेय! वे भी मेरी ही पूजा करते हैं किन्तु वे अज्ञानपूर्वक मेरी पूजा करते हैं॥२३॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता अन्यासु देवतासु भक्ता अन्यदेवताभक्ताः सन्तो **यजन्ते** पूजयन्ते**श्रद्धयाऽ**ऽस्तिक्यबुद्ध्याऽ**न्विता** अनुगतास्**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम**विधिरज्ञानं तत्पूर्वकमज्ञानपूर्वकं यजन्त इत्यर्थः॥२३॥

कस्मात्तेऽविधिपूर्वकं यजन्त इत्युच्यते यस्मात्—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥२४॥

क्योंकि श्रौत एवं स्मार्त सभी यज्ञों का देवता रूप से भोक्ता और फलनियामक प्रभु मैं ही तो हूँ। यज्ञों का स्वामी मैं ही हूँ। (पहले अष्टमाध्याय में **'अधियज्ञोऽहमेवात्र'** ऐसा कहा गया है) वे देवपूजक सकाम भक्त परमार्थरूप से मुझे जानते नहीं हैं, अत एव वे परमार्थ से वंचित रह जाते हैं॥२४॥

अहं हि सर्वयज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां च सर्वेषां यज्ञानां देवतात्मत्वेन **भोक्ता च प्रभुरेव च**। मत्स्वामिको हि यज्ञोऽधियज्ञोऽहमेवात्रेति ह्युक्तम्। तथा **न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेन** यथावत्। **अतश्चा**विधिपूर्वकमिष्ट्वा यागफला**च्च्यवन्ति** प्रच्यवन्ते **ते**॥२४॥

येऽप्यन्यदेवताभक्तिमत्त्वेनाविधिपूर्वकं यजन्ते तेषामपि यागफलमवश्यंभावि, कथम्—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

देवपूजक देवों को प्राप्त करते हैं, पितृभक्त पितरों को प्राप्त करते हैं, भूतपूजक भूतों को प्राप्त करते हैं, और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं॥२५॥

यान्ति गच्छन्ति **देवव्रता** देवेषु व्रतं नियमो भक्तिश्च येषां ते देवव्रता **देवान्यान्ति**। **पितृनग्निष्वात्तादीन्यान्ति पितृव्रताः** श्राद्धादिक्रियापराः पितृभक्ताः **भूतानि** विनायकमातृगणचतुर्भगिन्यादीनि **यान्ति भूतेज्या** भूतानां पूजकाः। **यान्ति मद्याजिनो** मद्यजनशीला वैष्णवा **मामेव**। समानेऽप्यायासे मामेव न भजन्तेऽज्ञानात्। तेन तेऽल्पफलभाजो भवन्तीत्यर्थः॥२५॥

न केवलं मद्भक्तानामनावृत्तिलक्षणमनन्तफलं सुखाराधनश्चाहं, कथम्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

जो भी कोई भक्त भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल एवं जल मुझे देता है तो उस शुद्धबुद्धि वाले भक्त के द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए पत्रादि को मैं ग्रहण करता हूँ॥२६॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयमुदकं यो मे मह्यं **भक्त्या प्रयच्छति, तदहं** पत्रादि भक्त्योपहृतं भक्तिपूर्वकं प्रापितं **भक्त्युपहृतमश्नामि** गृह्णामि **प्रयतात्मनः** शुद्धबुद्धेः॥२६॥

यत एवमतः—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

(शास्त्र के बिना स्वतः गमनागमनादि) जो कुछ भी करते हो, जो खाते हो, जो श्रौत अथवा स्मार्त होम करते हो और जो (ब्राह्मणादिकों को हिरण्य, अन्न, घृतादि) दान देते हो एवं जो तप करते हो, हे कौन्तेय! उन सबको मुझमें समर्पण कर डालो॥२७॥

यत्करोषि स्वतः प्राप्तं **यदश्नासि यच्च जुहोषि** हवनं निर्वर्तयसि श्रौतं स्मार्तं वा, **यद्ददासि** प्रयच्छसि ब्राह्मणादिभ्यो हिरण्यान्नाज्यादि **यत्तपस्यसि** तपश्चरसि **कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणं** मत्समर्पणम्॥२७॥

एवं कुर्वतस्तव यद्भवति तच्छृणु—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

इस प्रकार शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्मबन्धनों से तुम मुक्त हो जाओगे फलाभिसन्धि का त्याग हो जाने से यह संन्यासयोग है ऐसे संन्यासयोग से युक्त जिसका अन्तःकरण है वह व्यक्ति संन्यासयोग युक्तात्मा माना जाता है वह जीते जी मुक्त है (और देह गिरने के बाद विदेहकैवल्य) मुझे प्राप्त कर जाता है॥२८॥

शुभाशुभफलैरेवं शुभाशुभे इष्टानिष्टफले येषां तानि शुभाशुभफलानि कर्माणि तैः शुभाशुभफलैः। **कर्मबन्धनैः** कर्माण्येव बन्धनानि तैः कर्मबन्धनैरेवं मत्समर्पणं कुर्वन्**मोक्ष्यसे**। सोऽयं संन्यासयोगो नाम संन्यासश्चासौ मत्समर्पणतया कर्मत्वाद्योगश्चासाविति तेन संन्यासयोगेन युक्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य तव स त्वं **संन्यासयोगयुक्तात्मा** सन्**विमुक्तः** कर्मबन्धनैर्जीवन्नेव पतिते चास्मिञ्शरीरे **मामुपैष्यस्या**गमिष्यसि॥२८॥

रागद्वेषवांस्तर्हि भगवान्यतो भक्ताननुगृह्णाति नेतरानिति तन्न—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

मैं सभी भूतों में समान हूँ, मेरा न कोई शत्रु है और न मेरा कोई मित्र ही है किन्तु जो भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं वे स्वभावतः मुझमें हैं और मैं भी स्वभावतः ही उनमें हूँ॥२९॥

समस्तुल्योऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियोऽग्निवदहं दूरस्थानां यथाऽग्निः शीतं नापनयति समीपमुपसर्पतामपनयति तथाऽहं भक्ताननुगृह्णामि नेतरान्। **ये भजन्ति तु** मामीश्वरं **भक्त्या मयि ते** स्वभावत एव न मम रागनिमित्तं मयि वर्तन्ते। **तेषु चाप्यहं** स्वभावत एव वर्ते नेतरेषु नैतावता तेषु द्वेषो मम॥२९॥

श्रृणु मद्भक्तेर्माहात्म्यम्—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

(मेरी भक्ति का माहात्म्य सुनो!) यदि अत्यन्त पापी भी अनन्यभाव होकर मेरा भजन करता है तो वह साधु ही समझने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चय पर पहुँच चुका है॥३०॥

अपि चेद्यद्यपि सुष्ठु दुराचारः **सुदुराचारो**ऽतीव कुत्सिताचारोऽपि **भजते मामनन्यभा**गनन्यभक्तिः सन्**साधुरेव** सम्यग्वृत्त एव **स मन्तव्यो** ज्ञातव्यः **सम्य**ग्यथावद्**व्यवसितो हि** यस्मात्साधुनिश्चयः **सः**॥३०॥

उत्सृज्य च बाह्यां दुराचारतामन्तः सम्यग्व्यवसायसामर्थ्यात्—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

पूर्व श्लोक में कहा गया भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और वह शाश्वत शान्ति को अवश्य प्राप्त करता है। हे अर्जुन! तुम निश्चय ही जानो कि मेरा भक्त सवर्था नष्ट नहीं होता॥३१॥

क्षिप्रं शीघ्रं **भवति धर्मात्मा** धर्मचित्त एव **शश्वच्छान्तिं** नित्यं **शान्तिं** चोपशमं **निगच्छति** प्राप्नोति। शृणु परमार्थं **कौन्तेय प्रतिजानीहि** निश्चितां प्रतिज्ञां कुरु **न मे** मम **भक्तो** मयि समर्पितान्तरात्मा मद्भक्तो **न प्रणश्यतीति**॥३१॥

किंच—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर पाप योनि भी श्रेष्ठ गति को प्राप्त हो जाते हैं। वे पाप योनि स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हैं (भक्ति में सबका अधिकार है, उस में जाति एवं लिङ्ग भेद नहीं है)॥३२॥

मां हीति। **मां हि** यस्मात्**पार्थ व्यपाश्रित्य** मामाश्रयत्वेन गृहीत्वा **येऽपि स्युर्भवेयुः पापयोनयः** पापा योनिर्येषां ते पापयोनयः पापजन्मानः। के त इत्याह **स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति** गच्छन्ति **परां गतिं** प्रकृष्टां गतिम्॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

पुण्यात्मा ब्राह्मण और राजर्षि भक्तों के सम्बन्ध में फिर कहना ही क्या है। अतः अनित्य एवं सुखशून्य इस मनुष्य लोक को प्राप्त कर मेरा भजन कर॥३३॥

किं पुनरिति। **किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः** पुण्ययोनयो **भक्ता राजर्षयस्तथा** राजानश्च त ऋषयश्चेति राजर्षयः।

" सुखाय कर्माणि करोति लोकः "

यत एवमतोऽ**नित्यं** क्षणभङ्गुर**मसुखं** च सुखवर्जित**मिमं लोकं** मनुष्यलोकं **प्राप्य** पुरुषार्थसाधनं दुर्लभं मनुष्यत्वं लब्ध्वा **भजस्व** रोचस्व **माम्**॥३३॥

कथम् —

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥३४॥

आदितः श्लो. ३७२

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

(कैसे? ऐसी आकांक्षा होने पर भगवद्भक्ति का प्रकार और उसका फल बतलाते हैं कि) मुझमें मन लगाओ, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो इस प्रकार मेरे परायण होकर एवं मुझ में चित्त समाहित कर सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा मुझ परमात्मा को ही प्राप्त करोगे॥३४॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवम अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥९॥

मयि मनो यस्य स त्वं **मन्मना भव**। तथा **मद्भक्तो** भव। **मद्याजी** मद्यजनशीलो भव। **मामेव** च **नमस्कुरु मामेवै**श्वर**मेष्य**स्यागमिष्यसि **युक्त्वा** समाधाय चित्तम्। **एवमात्मानम**हं हि सर्वेषां भूतानामात्मा परा च गतिः परमयनं तं मामेवंभूतमेष्यसीत्यतीतेन पदेन संबन्धः। **मत्परायणः** सन्नित्यर्थः॥३४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥९॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ दशमोऽध्यायः

सप्तमेऽध्याये भगवतस्तत्त्वं विभूतयश्च प्रकाशिता नवमे च। अथेदानीं येषु येषु भावेषु चिन्त्यो भगवांस्ते ते भावावक्तव्याः। तत्त्वं च भगवतो वक्तव्यमुक्तमपि दुर्विज्ञेयत्वादित्यतः—

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

हे महाबाहो! मेरा उत्कृष्ट वचन पुनः सुनो, क्योंकि तुम मेरा वचन सुनकर प्रसन्न होते हो, इसीलिए तुम्हारे हित की कामना से मैं कहूँगा॥ १॥

भूय एव भूयः पुनर्हे **महाबाहो शृणु मे** मदीयं **परमं** प्रकृष्टं निरतिशयवस्तुनः प्रकाशकं **वचो** वाक्यं, **यत्**परमं **ते** तुभ्यं **प्रीयमाणाय** मद्वचनात्प्रीयसे त्वमतीवामृतमिव पिबंस्ततो **वक्ष्यामि हितकाम्यया** हितेच्छया॥ १॥

किमर्थमहं वक्ष्यामीत्यत आह—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

ब्रह्मादि देवसमुदाय मेरी उत्पत्ति के विषय में अथवा अतिशय प्रभुशक्ति को नहीं जानते और न भृगु आदि महर्षि ही जानते हैं क्योंकि मैं उन देवों और महर्षियों का सभी प्रकार से आदि कारण हूँ॥ २॥

न मे विदुर्न जानन्ति **सुरगणा** ब्रह्मादयः। किं

ते न विदुः, मम **प्रभवं** प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयम्। अथवा प्रभवं प्रभवनमुत्पत्तिम्। **नापि महर्षयो** भृग्वादयो विदुः। कस्मात्ते न विदुरित्युच्यते**ऽहमादिः** कारणं **हि** यस्माद्दे**वानां महर्षीणां च सर्वशः** सर्वप्रकारैः ॥२॥

किंच—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो कोई मुझे अजन्मा, अनादि और लोकों का महेश्वर जानता है, वह मनुष्यों में सम्मोहरहित है एवं ऐसा ज्ञानी (बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक किये गये) सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ॥३॥

यो मामजमनादिं च यस्मादहमादिर्देवानां महर्षीणां च, न ममान्य आदिर्विद्यतेऽतोऽहमजोऽनादिश्चानादित्वमजत्वे हेतुस्तं मामजमनादिं च यो **वेत्ति** विजानाति **लोकमहेश्वरं** लोकानां महान्तमीश्वरं तुरीयमज्ञानतत्कार्यवर्जित**मसंमूढः** संमोहवर्जितः **स मर्त्येषु** मनुष्येषु **सर्वपापैः** सर्वैः पापैर्मतिपूर्वामतिपूर्वकृतैः **प्रमुच्यते** प्रमोक्ष्यते ॥३॥

इतश्चाहं महेश्वरो लोकानाम्—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

(इसलिए भी मैं लोकों का महेश्वर हूँ क्योंकि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम) अर्थज्ञान की शक्ति रूप अन्तःकरण की वृत्ति, आत्मादि पदार्थ का बोध रूप ज्ञान, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति रूप असम्मोह, क्षमा, सत्य-भाषण, इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह, आह्लाद, सन्ताप, उद्भव, प्रलय, भय और अभय (ये सब मुझसे ही होते हैं) ॥४॥

बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यम्। तद्वन्तं

बुद्धिमानिति हि वदन्ति **ज्ञानमात्मादिपदार्थानामवबोधः**। **असंमोहः** प्रत्युपपन्नेषु बोद्धव्येषु विवेकपूर्विका प्रवृत्तिः। **क्षमाऽऽक्रुष्टस्य** ताडितस्य वाऽविकृतचित्तता। **सत्यं** यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य चाऽऽत्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथैवोच्चार्यमाणा वाक्सत्यमुच्यते। **दमो** बाह्येन्द्रियोपशमः। **शमोऽ**न्तःकरणस्य। **सुखमाह्लादः**। **दुःखं** संतापः। **भवं** उद्भवोऽ**भावस्तद्विपर्ययः**। **भयं च** त्रासोऽ**भयमेव च** तद्विपरीतम्॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

अहिंसा, समता (चित्तैकरसता), सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश ये (बुद्धि से लेकर अपयश पर्यन्त) सभी भूतों के पृथक्-पृथक् भाव उनके कर्मानुसार मुझसे ही उत्पन्न होते हैं॥५॥

अहिंसेति। **अहिंसाऽ**पीडा प्राणिनाम्। **समता** समचित्तता। **तुष्टिः** संतोषः पर्याप्तबुद्धिर्लाभेषु। **तप** इन्द्रियसंयमपूर्वकं शरीरपीडनम्। **दानं** यथाशक्ति संविभागः। **यशो** धर्मनिमित्ता कीर्तिः। **अयशस्त्व**धर्मनिमित्ताऽकीर्तिः। **भवन्ति भावा** यथोक्ता बुद्ध्यादयो **भूतानां** प्राणिनां **मत्त एवे**श्वरात्**पृथग्विधा** नानाविधाः स्वकर्मानुरूपेण॥५॥

किंच—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

भृगु आदि सात महर्षि और अतीत काल से सम्बन्ध रखने वाले चार सावर्ण मनु (ये सब) जो वैष्णवसामर्थ्य से युक्त हुए हैं, वे मुझमें निष्ठा रखने वाले हैं और मेरे मानसपुत्र हैं, जिनकी लोक में ये सभी सन्तानें हैं॥६॥

महर्षयः सप्त भृग्वादयः, **पूर्वे**ऽतीतकालसंबन्धिन**श्चत्वारो मनवस्तथा** सावर्णा इति प्रसिद्धाः। ते च **मद्भावा** मद्गतभावना वैष्णवेन सामर्थ्येनोपेता **मानसा** मनसैवोत्पादिता मया **जाता** उत्पन्ना **येषां** मनूनां महर्षीणां च **सृष्टिर्लोक इमाः** स्थावरजङ्गमाः **प्रजाः** ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

इस यथोक्त उपाधि और मेरे ऐश्वर्य को जो तत्त्व से जान लेता है (वह सम्यग्दर्शन के लिए) अविचल योग से युक्त हो जाता है इसमें कोई संशय नहीं है ॥७॥

एतामिति। **एतां** यथोक्तां **विभूतिं** विस्तारं **योगं च** युक्तिं चाऽऽत्मनो घटनमथवा योगैश्वर्यसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वं योगजं योगं उच्यते। **मम** मदीयं **यो वेत्ति तत्त्वत**स्तत्त्वेन यथावदित्येतत्। **सोऽविकम्पे**नाप्रचलितेन **योगेन** सम्यग्दर्शनस्थैर्यलक्षणेन **युज्यते** संबध्यते **नात्र संशयो** नास्मिन्नर्थे संशयोऽस्ति ॥७॥

कीदृशेनाविकम्पेन योगेन युज्यत इत्युच्यते—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्तिकारण हूँ, मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् प्रवृत्त होता है, ऐसा समझकर तत्त्वज्ञानी पुरुष परमार्थतत्त्व में अभिनिवेशरूपभाव से युक्त हो मेरा भजन करते हैं ॥८॥

अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं **सर्वस्य** जगतः **प्रभव** उत्पत्ति**र्मत्त** एव स्थितिनाशक्रियाफलोपभोगलक्षणं विक्रिया-

रूपं **सर्वं** जगत्**प्रवर्तत इत्येवं मत्वा भजन्ते** सेवन्ते **मां बुधा** अवगततत्त्वार्था **भावसमन्विता** भावो भावना परमार्थतत्त्वाभिनिवेशस्तेन समन्विताः संयुक्ता इत्यर्थः॥८॥

किंच—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

(जिनका चित्त मुझमें लगा हुआ है और जिनके चक्षुरादि प्राण (इन्द्रियाँ) मुझमें लगे हुए हैं) वे मच्चित्त तथा मत्प्राण कहे जाते हैं। ऐसे भक्त परस्पर मेरे सम्बन्ध में बोध एवं कीर्तन करते हुए सदा मुझमें ही संतुष्ट रहते हैं और मुझमें ही प्रेम करते हैं॥९॥

मच्चित्ता मयि चित्तं येषां ते मच्चित्ता **मद्गतप्राणा** मां गताः प्राप्ताश्चक्षुरादयः प्राणा येषां ते मद्गतप्राणा मय्युपसंहृतकरणा इत्यर्थः। अथवा मद्गतप्राणा मद्गतजीवना इत्येतत्। **बोधयन्तो**ऽवगमयन्तः **परस्पर**मन्योन्यं **कथयन्तो** ज्ञानबलवीर्यादिधर्मैर्विशिष्टं **मां तुष्यन्ति च** परितोषमुपयान्ति **रमन्ति च** रतिं च प्राप्नुवन्ति प्रियसंगत्येव॥९॥

ये यथोक्तप्रकारैर्भजन्ते मां भक्ताः सन्तः—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

जो भक्त सन्त यथोक्त प्रकार से मेरा भजन करते हैं, उन प्रीतिपूर्वक निरन्तर युक्त हो भजन करने वाले भक्तों को मैं उस बुद्धिसंयोग को देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं॥१०॥

तेषां सततयुक्तानां नित्याभियुक्तानां निवृत्तसर्वबाह्यैषणानां **भजतां** सेवमानानां, किमर्थित्वादिना कारणेन

नेत्याह—**प्रीतिपूर्वकं** प्रीतिः स्नेहस्तत्पूर्वकं मां भजता-मित्यर्थः। **ददामि** प्रयच्छामि **बुद्धियोगं** बुद्धिः सम्यग्दर्शनं मत्तत्त्वविषयं तेन योगो बुद्धियोगस्तं बुद्धियोगम्। **येन** बुद्धि-योगेन सम्यग्दर्शनलक्षणेन **मां** परमेश्वरमात्मभूतमात्मत्वेनो**पया-न्ति** प्रतिपद्यन्ते। के **ते**, ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्मां भजन्ते॥१०॥

किमर्थं कस्य वा त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धहेतोर्नाशकं बुद्धियोगं तेषां त्वद्भक्तानां ददासीत्याकाङ्क्षायामाह—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

मैं सबके हृदय में आत्मभाव से बैठा हूँ। जीव के अन्तःकरण में अज्ञान से मिथ्याज्ञान रूप मोहान्धकार उत्पन्न होता है, उन सततयुक्त भक्तों पर अनुग्रह के फलस्वरूप उन के मोहान्धकार को ही मैं प्रकाशमान् ज्ञानदीपक से नाश कर डालता हूँ॥११॥

तेषामेव कथं नाम श्रेयः स्यादित्य**नुकम्पार्थं** दयाहेतो-**रहमज्ञानजम**विवेकतो जातं मिथ्याप्रत्ययलक्षणं मोहान्धकारं **तमो नाशयाम्यात्मभावस्थ** आत्मनो भावोऽन्तःकरणाश-यस्तस्मिन्नेव स्थितः सन्। **ज्ञानदीपेन** विवेकप्रत्ययरूपेण भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन मद्भावनाभिनिवेशवातेरितेन ब्रह्म-चर्यादिसाधनसंस्कारवत्प्रज्ञावर्तिना विरक्तान्तःकरणाधारेण विषय-व्यावृत्तचित्तरागद्वेषाकलुषितनिवातापवारकस्थेन नित्यप्रवृत्तै-काग्र्यध्यानजनितसम्यग्दर्शन**भास्वता** ज्ञानदीपेनेत्यर्थः॥११॥

अष्टमाह्निकम्॥८॥

***

यथोक्तां भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वा—

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

(पूर्वोक्त भगवद्विभूति और योग को सुनकर अर्जुन ने कहा—) आप परब्रह्म हैं, परमधाम (परमतेज), परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, दिव्य, आदिदेव अजन्मा एवं वैभव शाली हैं॥१२॥

परं ब्रह्म परमात्मा **परं धाम** परं तेजः **पवित्रं** पावनं **परमं** प्रकृष्टं **भवान्पुरुषं शाश्वतं** नित्यं **दिव्यं** दिवि **भवमादिदेवं** सर्वदेवानामादौ भवं **देवमजं विभुं** विभवनशीलम्॥१२॥

ईदृशम्—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

सभी ऋषियों ने आप को ऐसा ही कहा है। देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास भी आप को ऐसा ही बतलाते हैं एवं मुझसे स्वयं भी आप ऐसा ही कहते हैं॥१३॥

आहुः कथयन्ति **त्वामृषयो** वसिष्ठादयः **सर्वे, देवर्षिर्नारदस्तथाऽसितो देवलो**ऽप्येवमेवाऽऽह **व्यासश्च, स्वयं चैव ब्रवीषि मे**॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

हे केशव! जो मुझसे आप कहते हैं इन सबको मैं सत्य मानता हूँ क्योंकि हे भगवन्! आप के प्रभव को न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं (तो फिर मनुष्यों की क्या गिनती है)॥१४॥

सर्वमिति। **सर्वमेतद्यथोक्त**मृषिभिस्त्वया च **तद्वृतं** सत्यमेव **मन्ये यन्मां** प्रति **वदसि** भाषसे हे **केशव। न हि ते** तव **भगवन्व्यक्तिं** प्रभवं **विदुर्न देवा** न **दानवाः**॥१४॥

यतस्त्वं देवादीनामादिरतः—

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

(जब कि आप देवताओं के भी कारण हैं, अतः) हे पुरुषोत्तम! भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं॥१५॥

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं निरतिशयज्ञानैश्वर्यबलादिशक्तिमन्तमीश्वरं **पुरुषोत्तम**। भूतानि भावयतीति भूतभावनो हे **भूतभावन भूतेश** भूतानामीशितः, हे **देवदेव जगत्पते**॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

जो आप की दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन विभूतियों के द्वारा इन सभी लोकों को व्याप्त कर आप स्थित हैं उन्हें, अशेषतः आप ही कह सकते हैं, दूसरा नहीं कह सकता॥१६॥

वक्तुमिति। **वक्तुं** कथयितु**मर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय** आत्मनो विभूतयो यास्ता वक्तुमर्हसि।

याभिर्विभूतिभिरात्मनो माहात्म्यविस्तरै**रिमाँल्लोकांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि**॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

हे योगिन्! मैं सदा चिन्तन करता हुआ आप को कैसे जानूँ? भगवन्! किन-किन वस्तुओं में आप मेरे लिए ध्यान के योग्य हो॥१७॥

कथमिति। **कथं विद्यां** विजानीया**महं** हे **योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्। केषु केषु च भावेषु** वस्तुषु **चिन्त्योऽसि** ध्येयोऽसि **भगवन्मया**॥१७॥

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

हे जनार्दन! अपने योगैश्वर्य शक्ति विशेष को एवं ध्येय पदार्थविस्तार को आप पुनः बतलायें, क्योंकि अमृततुल्य आप के वचन को सुनकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती है॥१८॥

विस्तरेणेति। **विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं** योगैश्वर्यशक्तिविशेषं **विभूतिं च** विस्तरं ध्येयपदार्थानां हे **जनार्दन,** अर्दतेर्गतिकर्मणो रूपम्। असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वाज्जनार्दनः। अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वैर्जनैर्याच्यत इति वा। **भूयः** पूर्वमुक्तमपि **कथय तृप्तिर्हि** परितोषो यस्मा**न्नास्ति मे शृण्वत**स्त्वन्मुखनिःसृतवाक्या**मृतम्**॥१८॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

भगवान् ने कहा—हमारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं उन्हें मैं तुझे अभी बतलाऊँगा, किन्तु हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है। अतः प्रधान रूप से ही मैं कहूँगा॥१९॥

हन्त त इति। **हन्तेदानीं ते** तव **दिव्या** दिवि भवा **आत्मविभूतय** आत्मनो मम विभूतयो यास्ताः **कथयिष्यामीत्येतत्प्राधान्यतो** यत्र यत्र प्रधाना या या विभूतिस्तां तां प्रधानां प्राधान्यतः कथयिष्याम्यहं **कुरुश्रेष्ठ**। अशेषतस्तु वर्षशतेनापि न शक्या वक्तुं यतो **नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे** मम विभूतीनामित्यर्थः॥१९॥

तत्र प्रथममेव तावच्छृणु—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥२०॥

हे गुडाकेश! सभी भूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ। भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ॥२०॥

अहमात्मा प्रत्यगात्मा **गुडाकेश** गुडाका निद्रा तस्या ईशो गुडाकेशो जितनिद्र इत्यर्थः। घनकेश इति वा। सर्वेषां भूतानामाशयेऽन्तर्हृदि **स्थितो**ऽहमात्मा प्रत्यगात्मा नित्यं ध्येयः। तदशक्तेन चोत्तरेषु भावेषु चिन्त्योऽहं चिन्तयितुं शक्यो यस्मा**दहमेवाऽऽदिर्भूतानां** कारणं तथा **मध्यं च** स्थिति**रन्तः** प्रलय**श्च**॥२०॥

एवं च ध्येयोऽहम्—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥२१॥

अदिति के द्वादश पुत्रों में विष्णु (वामन) नामक आदित्य मैं हूँ, प्रकाश करने वाली ज्योतियों में रश्मियुक्त सूर्य मैं हूँ और मरुद्गणों में मरीचि मैं हूँ एवं नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ॥२१॥

आदित्यानां द्वादशानां **विष्णु**र्नामाऽऽदित्यो**ऽहं ज्योतिषां रविः** प्रकाशयितॄणा**मंशुमा**न्रश्मिमा**न्मरीचि**र्नाम **मरुतां** मरुद्देवताभेदाना**मस्मि नक्षत्राणामहं शशी** चन्द्रमाः॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

वेदों में सामवेद मैं हूँ, रुद्र-आदित्यादि देवताओं में इन्द्र मैं हूँ, और चक्षुरादि एकादश इन्द्रियों में मन मैं हूँ (तथा) भूतों में चेतना मैं हूँ॥२२॥

वेदानामिति। **वेदानां** मध्ये **सामवेदोऽस्मि, देवानां** रुद्रादित्यादीनां **वासव** इन्द्रो**ऽस्मि, इन्द्रियाणा**मेकादशानां चक्षुरादीनां **मनश्चास्मि** संकल्पविकल्पात्मकं मनश्चास्मि। **भूतानामस्मि चेतना** कार्यकरणसंघाते नित्याभिव्यक्ता बुद्धिवृत्तिश्चेतना॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

एकादश रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष और राक्षसों में धनाध्यक्ष कुबेर मैं हूँ, वसुओं में पावक मैं हूँ और शिखर वाले पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ॥२३॥

रुद्राणामिति। **रुद्राणामेकादशानां शङ्करश्चास्मि**। **वित्तेशः** कुबेरो **यक्षरक्षसां** यक्षाणां रक्षसां च। **वसूनामष्टानां पावकश्चास्म्यग्निर्मेरुः शिखरिणां** शिखरवतामहम्॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥२४॥

हे पार्थ! पुरोहितों में प्रधान पुरोहित बृहस्पति मुझे जानो। सेनापतियों में स्कन्द मैं हूँ और जलाशयों में सागर मैं हूँ॥२४॥

पुरोधसामिति। **पुरोधसां** राजपुरोहितानां **मुख्यं** प्रधानं **मां विद्धि** जानीहि हे **पार्थ बृहस्पतिम्**। स हीन्द्रस्येति मुख्यः स्यात्पुरोधाः। **सेनानीनां** सेनापतीनाम**हं स्कन्दो** देवसेनापतिः। **सरसां** यानि देवखातानि सरांसि तेषां सरसां **सागरोऽस्मि** भवामि॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

महर्षियों में भृगु मैं हूँ, पदरूप सार्थक शब्दों में एकाक्षर ओंकार मैं हूँ। यज्ञों में जप यज्ञ मैं हूँ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ॥२५॥

महर्षीणामिति। **महर्षीणां भृगुरहं गिरां** वाचां पदलक्षणाना**मेकमक्षरमों**कारोऽस्मि। **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि, स्थावराणां** स्थितिमतां **हिमालयः**॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

सभी वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ॥२६॥

अश्वत्थ इति। **अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदो** देवा एव सन्त ऋषित्वं प्राप्ता मन्त्रदर्शित्वात्ते देवर्षयस्तेषां नारदोऽस्मि। **गन्धर्वाणां चित्ररथो** नाम गन्धर्वोऽस्मि। **सिद्धानां** जन्मनैव धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानां **कपिलो मुनिः**॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

अश्वों में अमृत के साथ उत्पन्न होने के कारण उच्चैःश्रवा मुझे जानो। ऐसे ही गजेन्द्रों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मुझे समझो॥२७॥

उच्चैरिति। **उच्चैःश्रवसमश्वानामुच्चैः**श्रवा नामाश्वस्तं **मां विद्धि** जानीह्य**मृतोद्भवम**मृतनिमित्तमथनोद्भवम्। **ऐरावत**मिरावत्या अपत्यं **गजेन्द्राणां** हस्तीश्वराणां तं मां विद्धीत्यनुवर्तते। **नराणां** मनुष्याणां **च नराधिपं** राजानं **मां विद्धि** जानीहि॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥

आयुधों में वज्र, दूध देने वाली गायों में कामधेनु मैं हूँ। सन्तति उत्पत्ति द्वारा सृष्टि परम्परा को चलाने वाला काम मैं हूँ और सर्पों में सर्पराज वासुकि मैं हूँ॥२८॥

आयुधानामिति। **आयुधानामहं वज्रं** दधीच्यस्थिसंभवं **धेनूनां** दोग्ध्रीणा**मस्मि कामधुक्**, वसिष्ठस्य सर्वकामानां

दोग्ध्री सामान्या वा कामधुक्। **प्रजनः** प्रजनयिताऽ**स्मि कंदर्पः** कामः **सर्पाणां** सर्पभेदानाम**स्मि वासुकिः** सर्पराजः॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥२९॥

नागों में नागराज अनन्त मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में नित्यपितर अर्यमा और संयमन करने वालों में यमराज मैं हूँ॥२९॥

अनन्त इति। **अनन्तश्चास्मि नागानां** नागविशेषाणां नागराजश्चास्मि। **वरुणो यादसामहम**ब्देवतानां राजाऽहम्। **पितॄणामर्यमा** नाम पितृराज**श्चास्मि, यमः संयमतां** संयमनं कुर्वता**महम्**॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

दैत्यों में (भक्तशिरोमणि) प्रह्लाद और गणना करने वालों में काल मैं हूँ। मृगों (वन्यपशुओं) में सिंह और पक्षियों में गरुड़ भी मैं हूँ॥३०॥

प्रह्लाद इति। **प्रह्लादो** नाम **चास्मि दैत्यानां** दितिवंश्यानां, **कालः कलयतां** कलनं गणनं कुर्वता**महं, मृगाणां च मृगेन्द्रः** सिंहो व्याघ्रो वाऽ**हं, वैनतेयश्च** गरुत्मान्विनतासुतः **पक्षिणां** पतत्रिणाम्॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

पवित्र करने वालों में पवन मैं हूँ। शस्त्रधारियों में श्रीराम, जलचरों में मकर और सदा बहने वाली नदियों में जाह्नवी (गंगा) मैं हूँ॥३१॥

क्रोध किया और इन्द्र को मारने के लिए यज्ञ किया उन्होंने इन्द्र वध के लिए संकल्प किया "इन्द्र शत्रो वर्धस्व" इसका अर्थ होगया जो इन्द्र का शत्रु है वह बढ़े, सामान्य [illegible] होना चाहिए था तत्पुरुष "इन्द्रस्य शत्रो [illegible] वर्धस्व" इस लिए वह वृत्रासुर इन्द्र को मार नहीं सका उस वृत्रासुर के वध के लिए देवताओं ने दधीचि की अस्थियों से वज्र बनाया उससे इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया।

पवन इति। **पवनो** वायुः **पवतां** पावयितृणामस्मि, **रामः शस्त्रभृतामहं** शस्त्राणां धारयितृणां दाशरथी रामोऽहं **झषाणां** मत्स्यादीनां **मकरो** नाम जातिविशेषोऽहं **स्रोतसां** स्रवन्तीनामस्मि **जाह्नवी** गङ्गा॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। हे अर्जुन! विद्याओं में अध्यात्म विद्या और प्रवादों (वाद, जल्प और वितण्डा) में वाद मैं हूँ॥३२॥

सर्गाणामिति। सृष्टीनाम**ादिरन्तश्च मध्यं चैवा**हमुत्पत्तिस्थितिलया अह**मर्जुन**। भूतानां जीवाधिष्ठितानामेवाऽऽदिरन्तश्चेत्याद्युक्तमुपक्रम इह तु सर्वस्यैव सर्गमात्रस्येति विशेषः। **अध्यात्मविद्या विद्यानां** मोक्षार्थत्वात्प्रधानमस्मि। **वादो**ऽर्थनिर्णयहेतुत्वात्**प्रवदतां** प्रधानमतः सोऽहमस्मि प्रवक्तृद्वारेण वदनभेदानामेव वादजल्पवितण्डानामिह ग्रहणं प्रवदतामिति॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः॥३३॥

अक्षरों में अकार और समास समूहों में द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षय काल भी मैं ही हूँ और सम्पूर्ण जगत् के कर्मफल का विधाता, सभी ओर मुखवाला मैं हूँ॥३३॥

अक्षराणामिति। **अक्षराणां** वर्णानाम**कारो** वर्णोऽस्मि, **द्वंद्वः** समासोऽस्मि **सामासिकस्य** समाससमूहस्य। किंचाह**मेवाक्षयो**ऽक्षीणः **कालः** प्रसिद्धः क्षणाद्याख्यः, अथवा

परमेश्वरः कालस्यापि कालोऽस्मि, **धाताऽहं** कर्मफलस्य विधाता सर्वजगतो **विश्वतोमुखः** सर्वतोमुखः ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबका नाशक मृत्यु एवं उत्कर्ष प्राप्ति के योग्य वस्तुओं का उत्कर्ष मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ॥३४॥

मृत्युर्द्विविधो धनादिहरः प्राणहरश्च **सर्वहर** उच्यते **सोऽहमित्यर्थः।** अथवा पर ईश्वरः प्रलये सर्वहरणात्सर्वहरः सोऽहम्। **उद्भव** उत्कर्षोऽभ्युदयस्तत्प्राप्तिहेतुश्चाहं, केषां **भविष्यतां** भाविकल्याणानामुत्कर्षप्राप्तियोग्यानामित्यर्थः। **कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेत्येता** उत्तमाः स्त्रीणामहमस्मि। यासामाभासमात्रसंबन्धेनापि लोकः कृतार्थमात्मानं मन्यते ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामों में बृहत्साम तथा छन्दों में गायत्री मैं हूँ। मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ॥३५॥

बृहत्सामेति। **बृहत्साम तथा साम्नां** प्रधानमस्मि। **गायत्री छन्दसामहं** गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टानामृचां गायत्र्यृगहमित्यर्थः। **मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरो** वसन्तः ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करने वालों में द्यूत और तेजस्वियों में तेज मैं हूँ। विजय करने वाले का जय, उद्यम करने वालों को फल का कारण व्यवसाय मैं हूँ और सात्त्विक पुरुषों का सत्त्व (धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि) मैं हूँ॥३६॥

द्यूतमिति। **द्यूतमक्षदेवनादिलक्षणं छलयतां छलस्य कर्तॄणामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहं, जयोऽस्मि** जेतॄणां, **व्यवसायोऽस्मि** व्यवसायिनां, **सत्त्वं सत्त्ववतां** **सात्त्विकानामहम्**॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

वृष्णिवंशियों में (वसुदेव के पुत्र) वासुदेव (तुम्हारा सखा) और पाण्डुपुत्रों में धनंजय (तुम स्वयं) मैं हूँ। मननशीलों में व्यास एवं क्रान्तदर्शी कवियों में शुक्राचार्य मैं हूँ॥३७॥

वृष्णीनामिति। **वृष्णीनां वासुदेवोऽस्म्ययमेवाहं** त्वत्सखः, **पाण्डवानां धनंजयस्त्वमेव, मुनीनां** मनन-शीलानां सर्वपदार्थज्ञानिना**मप्यहं व्यासः, कवीनां** क्रान्तदर्शिना**मुशना कविरस्मि**॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

दमन करने वालों के दमन का कारण दण्ड मैं हूँ। जीतने की इच्छा वालों में नीति मैं हूँ, गोपनीयों में मौन और ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ॥३८॥

दण्ड इति। **दण्डो दमयतां** दमयितॄणामस्म्यदान्तानां दमनकारणं, **नीतिरस्मि जिगीषतां** जेतुमिच्छतां, **मौनं चैवास्मि गुह्यानां** गोप्यानां, **ज्ञानं ज्ञानवतामहम्**॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

हे अर्जुन! सभी भूतों के प्ररोहण का कारण बीज मैं हूँ। ऐसी चराचर कोई वस्तु नहीं, जो मेरे बिना अस्तित्व प्राप्त करती हो॥३९॥

यच्चापीति। **यच्चापि सर्वभूतानां बीजं** प्ररोहकारणं **तदहमर्जुन**। प्रकरणोपसंहारार्थं विभूतिसंक्षेपमाह—**न तदस्ति भूतं चराचरं** चरमचरं वा **मया विना यत्स्याद्**भवेन्मयाऽपकृष्टं परित्यक्तं निरात्मकं शून्यं हि तत्स्यादतो मदात्मकं सर्वमित्यर्थः॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने तो अपने विभूतिविस्तार का एक देश मात्र ही कहा है॥४०॥

नान्तोऽस्तीति। **नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां** विस्तराणां **परंतप**। न हीश्वरस्य सर्वात्मनो दिव्यानां विभूतीनामियत्ता शक्या वक्तुं ज्ञातुं वा केनचित्। **एष तूद्देशत** एकदेशेन **प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया**॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥४१॥

लोक में जो कुछ विभूतियुक्त, कान्ति या समृद्धियुक्त और बलवान् वस्तु दीखती है उन सबको मेरे तेज के एक अंश से उत्पन्न हुआ समझो॥४१॥

यद्यदिति। **यद्य**ल्लोके **विभूतिम**द्विभूतियुक्तं **सत्त्वं** वस्तु **श्रीमदूर्जितमेव वा** श्रीर्लक्ष्मीस्तया सहितमुत्साहोपेतं

वा **तत्तदेवावगच्छ त्वं** जानीहि **ममेश्वरस्य तेजोंऽश-संभवं** तेजसोंऽश एकदेशः संभवो यस्य तत्तेजोंऽशसंभवमित्य-वगच्छ त्वम्॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

आदितः श्लो. ४१४

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥

हे अर्जुन! इस प्रकार सावशेष बहुत वस्तुओं को जानने से क्या लाभ, निःशेषरूप में बस इतना ही समझो कि इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से धारण कर मैं स्थित हूँ॥४२॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित विभूतियोगनामक दशम अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१०॥

अथवेति। **अथवा बहुनैतेन**वमादिना **किं ज्ञातेन तवार्जुन** स्यात्सावशेषेण। अशेषतस्त्वमिममुच्यमानमर्थं शृणु **विष्टभ्य** विशेषतः स्तम्भनं दृढं कृत्वेदं **कृत्स्नं जगदेकांशेन**ैकावयवेनैकपादेन सर्वभूतस्वरूपेणेत्येतत्। तथा च मन्त्रवर्णः—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (ऋ.सं. ८. ४. १७. ३) इति **स्थितो**ऽहमिति॥४२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ एकादशोऽध्यायः

भगवतो विभूतय उक्तास्तत्र च 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी. १०.४२) इति भगवताऽभिहितं श्रुत्वा यज्जगदात्मरूपमाद्यमैश्वरं, तत्साक्षात्कर्तुमिच्छन्—

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा कि— मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए आपने जो अत्यन्त गोपनीय अध्यात्म नामक वचन कहा है उससे मेरा यह अविवेक चला गया॥ १॥

मदनुग्रहाय ममानुग्रहार्थं **परमं** निरतिशयं **गुह्यं** गोप्य**मध्यात्मसंज्ञित**मात्मानात्मविवेकविषयं **यत्त्वयोक्तं वचो** वाक्यं, **तेन** ते वचसा **मोहोऽयं विगतो मम**ाविवेकबुद्धिरपगतेत्यर्थः ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २ ॥

भूतों की उत्पत्ति एवं प्रलय विस्तार से मैंने आपके द्वारा सुने। हे कमलनेत्र प्रभु! साथ ही, आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना॥२॥

भव उत्पत्तिरप्ययः प्रलयो **भूतानां** तौ **भवाप्ययौ श्रुतौ विस्तरशो मया** न संक्षेपतस्**त्वत्त**स्त्वत्सकाशा-

त्कमलपत्राक्ष कमलस्य पत्रं कमलपत्रं तद्वदक्षिणी यस्य तव स त्वं कमलपत्राक्षो हे कमलपत्राक्ष! **माहात्म्यमपि चाव्ययमक्षयं** श्रुतमित्यनुवर्तते॥२॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥

हे परमेश्वर! आपने अपने को जैसा बतलाया है मैं उसे वैसा ही मानता हूँ, किन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ऐश्वर रूप को देखना चाहता हूँ॥३॥

एवमिति। **एवमेतन्नान्यथा यथा** येन प्रकारेणाऽऽत्थ कथयसि **त्वमात्मानं परमेश्वर!** तथाऽपि **द्रष्टुमिच्छामि ते** तव ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः संपन्न**मैश्वरं** वैष्णवं **रूपं पुरुषोत्तम!**॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥४॥

हे प्रभो! यदि आप मानते हैं कि मेरे द्वारा वह रूप देखा जा सकता है तो हे योगेश्वर! आप अपने अव्यय रूप को मुझे अवश्य दिखलायें॥४॥

मन्यस इति। **मन्यसे** चिन्तयसि **यदि मयाऽ**र्जुनेन **तच्छक्यं द्रष्टुमिति प्रभो!** स्वामिन्**योगेश्वर** योगिनो योगास्तेषामीश्वरो योगेश्वरो हे **योगेश्वर!** यस्मादहमतीवार्थी द्रष्टुं **ततस्**तस्मान्**मे** मदर्थं **दर्शय त्वमात्मानमव्ययम्**॥४॥

एवं चोदितोऽर्जुनेन—

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

हे पृथा पुत्र अर्जन! तू मेरे शतशः और सहस्रशः रूपों को देख, जो अप्राकृत, नाना प्रकार के, नाना वर्ण एवं आकृति वाले हैं॥५॥

पश्य मे मम पार्थ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्र-शोऽनेकश इत्यर्थः। ता**नि** च **नानाविधान्य**नेकप्रकाराणि दिवि भवानि **दिव्यान्य**प्राकृतानि **नानावर्णाकृतीनि च** नाना विलक्षणा नीलपीतादिप्रकारा वर्णास्तथाऽऽकृतयोऽवयवसंस्थानविशेषा येषां रूपाणां तानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

पश्याऽऽदित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत॥६॥

हे भारत! द्वादश आदित्यों, अष्ट वसुओं, एकादश रुद्रों, दो अश्विनी कुमारों तथा उनचास मरुद्गणों को देखो और मनुष्यलोक में जिसे तूने अथवा तुझसे अन्य किसी ने नहीं देखा है ऐसे अदृष्टपूर्व अद्भुत रूपों को देखो जो नाना वर्ण एवं आकृतियों से युक्त हैं॥६॥

पश्याऽऽदित्यानिति। **पश्याऽऽदित्यान्**द्वादश **वसून**ष्टौ **रुद्रा**नेकादशा**श्विनौ** द्वौ। **मरुतः** सप्तसप्तगणा ये तां-स्**तथा बहून्य**न्यान्य**प्यदृष्टपूर्वाणि** मनुष्यलोके त्वया त्वत्तोऽन्येन वा केनचित्**पश्याऽऽश्चर्याण्य**द्भुतानि **भारत**॥६॥

न केवलमेतावदेव—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥७॥

केवल इतना ही नहीं बल्कि एक ही स्थान में स्थित मेरे इस शरीर में आज सम्पूर्ण चराचर जगत् को देखो। हे निद्राविजयी अर्जुन! और जिस अन्य जयादि को देखना चाहते हो, उसे भी देखो॥७॥

इहैकस्थमेकस्मिन्स्थितं **जगत्कृत्स्नं** समस्तं प-

श्याद्येदानीं सचराचरं सह चरेणाचरेण च वर्तते **मम देहे गुडाकेश! यच्चान्यज्जयपराजयादि** यच्छङ्कसे 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' (गी. २.६) इति यदवोच-स्तदपि **द्रष्टुं यदीच्छसि**॥७॥

किंतु—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥८॥

किन्तु अपनी इस आँख से तुम पूर्ववर्णित मेरे रूप को नहीं देख सकते हो। अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरे ऐश्वर योग को देखो॥८॥

न तु मां विश्वरूपधरं **शक्यसे द्रष्टुमनेन** प्राकृतेन **स्वचक्षुषा** स्वकीयेन चक्षुषा। येन तु शक्यसे द्रष्टुं दिव्येन त**द्दिव्यं ददामि ते** तुभ्यं **चक्षु**स्तेन **पश्य मे योगमैश्व-रमी**श्वरस्य ममैश्वरं योगं योगशक्त्यतिशयमित्यर्थः॥८॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥९॥

(संजय ने इस वृतान्त को धृतराष्ट्र के समक्ष निवेदित किया) कि हे राजन्! ऐसा कहने के बाद महायोगेश्वर नारायण ने अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान किया और उसे अपने परम विश्वरूप को दिखलाया॥९॥

एवं यथोक्तप्रकारेणो**क्त्वा ततो**ऽनन्तरं हे **राज-**न्धृतराष्ट्र **महायोगेश्वरो** महांश्चासौ योगेश्वरश्च **हरि**र्ना-रायणो **दर्शयामास** दर्शितवान्**पार्थाय** पृथासुताय **परमं रूपं** विश्वरूप**मैश्वरम्**॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अनेक मुख, अनेक नेत्र जिसमें हैं, अनेक दिव्य आभूषण तथा अनेक दिव्य आयुध उठाये हुए जिसमें दीखते हों ऐसा रूप (भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखलाया) ॥१०॥

अनेकेति। **अनेकवक्त्रनयनम**नेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे तदनेकवक्त्रनयनम्। **अनेकाद्भुतदर्शनम**नेकान्यद्भुतानि विस्मापकानि दर्शनानि यस्मिन्रूपे तदनेकाद्भुतदर्शनं तथाऽ**नेकदिव्याभरणम**नेकानि दिव्यान्याभरणानि यस्मिंस्तदनेकदिव्याभरणं तथा **दिव्यानेकोद्यतायुधं** दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि यस्मिंस्तद्दिव्यानेकोद्यतायुधं दर्शयामासेति पूर्वेण संबन्धः॥१०॥

किंच—

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

(ऐसे सर्वभूतात्मा ईश्वर रूप को भगवान् ने अर्जुन को दिखाया जो) दिव्य पुष्प माला एवं वस्त्रों को धारण किये हुये, दिव्य गंध के अनुलेपन से युक्त, जिसमें प्रायशः सभी कुछ अद्भुत हो और जिस का अन्त न हो॥११॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यानि माल्यानि पुष्पाण्यम्बराणि वस्त्राणि च ध्रियन्ते येनेश्वरेण तं दिव्यमाल्याम्बरधरं **दिव्यगन्धानुलेपनं** दिव्यं गन्धानुलेपनं यस्य तं दिव्यगन्धानुलेपनं **सर्वाश्चर्यमयं** सर्वाश्चर्यप्रायं **देवमनन्तं** नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तस्तं **विश्वतोमुखं** सर्वतोमुखं सर्वभूतात्मत्वात्तं दर्शयामासार्जुनो ददर्शेति वाऽध्याह्रियते॥११॥

या पुनर्भगवतो विश्वरूपस्य भास्तस्या उपमोच्यते—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

अन्तरिक्ष में एक सहस्र सूर्य का उदय एक साथ हो जाय, उससे कहीं जो प्रकाश प्रकट होगा वह प्रकाश कदाचित् ही उस महान् विश्वरूप के प्रकाश की समता कर सके॥१२॥

दिव्यन्तरिक्षे तृतीयस्यां वा **दिवि** सूर्याणां सहस्रं सूर्यसहस्रं तस्य युगपदुत्थितस्य या **युगपदुत्थिता भाः सा यदि सदृशी स्यात्तस्य महात्मनो** विश्वरूपस्यैव **भासो** यदि वा न स्यात्ततोऽपि विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्यत इत्यभिप्रायः॥१२॥

किंच—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥

उस विश्व रूप में एक ही स्थान पर स्थित अनेकधा प्रविभक्त सम्पूर्ण जगत् को पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव भगवान् के शरीर में देखा॥१३॥

तत्र तस्मिन्विश्वरूप एकस्मिन्स्थित**मेकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा** देवपितृमनुष्यादिभेदै**रपश्यद्**दृष्टवा**न्देवदेवस्य** हरेः **शरीरे पाण्डवो**ऽर्जुन**स्तदा**॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥१४॥

तत्पश्चात् आश्चर्यचकित हो रोमाञ्चित शरीर धनंजय ने अत्यन्त विनम्र हो भगवान् को शिरसा प्रणामकर हाथ जोड़कर कहा॥१४॥

तत इति। **ततस्तं** दृष्ट्वा **स** विस्मयेनाऽऽविष्टो

विस्मयाविष्टो हृष्टानि रोमाणि यस्य सोऽयं **हृष्टरोमा** चाभव**द्धनंजयः**। **प्रणम्य** प्रकर्षेण नमनं कृत्वा प्रह्वीभूतः **स्शिरसा देवं** विश्वरूपधरं **कृताञ्जलिर्**नमस्कारार्थं संपुटीकृतहस्तः **सन्नभाषतो**क्तवान्॥१४॥

कथं यत्त्वया दर्शितं विश्वरूपं, तदहं पश्यामीति स्वानुभवमाविष्कुर्वन्—

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥१५॥

हे देवों के देव! आप के शरीर में मैं सभी देवताओं को तथा भूतविशेष के समुदाय को, कमलासन में स्थित शासक ब्रह्मा को, सभी ऋषियों को और दिव्य उरगों (सर्पों) को भी देखता हूँ॥१५॥

पश्याम्युपलभे हे देव! तव देहे देवान्सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्भूतविशेषाणां स्थावरजङ्गमानां नानासंस्थानविशेषाणां संघा भूतविशेषसंघास्तान्। किंच **ब्रह्माणं** चतुर्मुखमीशितारं प्रजानां **कमलासनस्थं** पृथिवीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थमित्यर्थः। **ऋषींश्च** वसिष्ठादीन्, **सर्वानुरगांश्च** वासुकिप्रभृती**न्दिव्यान्**दिवि भवान्॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वा सर्वतोनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र वाले, सभी ओर से अनन्तरूप वाले आप को मैं देखता हूँ। हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! आप का न आदि, न मध्य और न अन्त ही देखता हूँ॥१६॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रमनेके बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्य तव स त्वमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रस्तमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं **पश्यामि त्वा** त्वां **सर्वतः सर्वत्रानन्तरूपमनन्तानि** रूपाण्यस्येत्यनन्तरूपस्तमनन्तरूपं **नान्तमन्तो**ऽवसानं **न मध्यं** मध्यं नाम द्वयोः कोट्योरन्तरं **न पुनस्तवाऽऽदिं** तव देवस्य नान्तं **पश्यामि** न मध्यं पश्यामि न पुनरादिं पश्यामि हे **विश्वेश्वर!** हे **विश्वरूप!**॥१६॥

किंच—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुटधारी, गदा एवं चक्रधारी, तेजपुञ्ज, सभी ओर से प्रकाशमान मैं आप को देखता हूँ जो दूसरों के लिए दुर्निरीक्ष्य है। यह रूप सभी ओर से प्रदीप्त अग्नि और सूर्य की कान्ति के समान है और वह किन्हीं प्रमाणों का विषय नहीं है॥१७॥

किरीटिनं किरीटं नाम शिरोभूषणविशेषस्तद्यस्यास्ति स किरीटी तं किरीटिनं तथा **गदिनं** गदा यस्य विद्यत इति गदी तं गदिनं तथा **चक्रिणं** चक्रमस्यास्तीति चक्री तं चक्रिणं च **तेजोराशिं** तेजपुञ्जं **सर्वतो दीप्तिमन्तं** सर्वतो दीप्तिर्यस्यास्ति स सर्वतोदीप्तिमांस्तं सर्वतोदीप्तिमन्तं **पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं** दुःखेन निरीक्ष्यो दुर्निरीक्ष्यस्तं

दुर्निरीक्ष्यं **समन्तात्**समन्ततः सर्वत्र **दीप्तानलार्कद्युति-मनलश्चार्कश्चानलार्कौ** दीप्तावनलार्कौ दीप्तानलार्कौ तयोर्दीप्तानलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिस्तेजो यस्य तव स त्वं दीप्तानलार्कद्युतिस्तं त्वां दीप्तानलार्कद्युतिम्। **अप्रमेयं** न प्रमेयमप्रमेयमशक्यपरिच्छेदमित्यर्थः ॥१७॥

इत एव ते योगशक्तिदर्शनादनुमिनोमि—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप परम अक्षर, जानने योग्य हैं। इस सम्पूर्ण जगत् के परमनिधान आप ही हैं। आप अविनाशी हैं और सनातन धर्म के रक्षक भी हैं। इसलिए मेरा मत है कि आप ही सनातन पुरुष हैं॥१८॥

त्वमक्षरं न क्षरतीति **परमं** ब्रह्म **वेदितव्यं** ज्ञातव्यं मुमुक्षुभि**स्त्वमस्य विश्वस्य** समस्तस्य जगतः **परं** प्रकृष्टं **निधानं** निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं पर आश्रय इत्यर्थः। किंच **त्वमव्ययो** न तव व्ययो विद्यत इत्यव्ययः **शाश्वतधर्मगोप्ता** शश्वद्भवः शाश्वतो नित्यो धर्मस्तस्य गोप्ता शाश्वतधर्मगोप्ता **सनातन**श्चिरंतन**स्त्वं पुरुषः** परो **मतो**ऽभिप्रेतो **मे** मम॥१८॥

किंच—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

आप का आदि, मध्य और अन्त नहीं है। आप की शक्ति अनन्त है, आप के बाहु अनन्त हैं, चन्द्र-सूर्य आप के नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि आप का मुख है और आप अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को संतप्त कर रहे हैं; इस रूप में मैं आप को देख रहा हूँ॥१९॥

अनादिमध्यान्तमादिश्च मध्यं चान्तश्च न विद्यते यस्य सोऽयमनादिमध्यान्तस्तं त्वामनादिमध्यान्त**मनन्तवीर्यं** न तव वीर्यस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तवीर्यस्तं त्वामनन्तवीर्यं तथाऽ-**नन्तबाहुम**नन्ता बाहवो यस्य तव स त्वमनन्तबाहुस्तं त्वामनन्तबाहुं **शशिसूर्यनेत्रं** शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तव स त्वं शशिसूर्यनेत्रस्तं त्वां शशिसूर्यनेत्रं चन्द्रादित्यनयनं **पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं** दीप्तश्चासौ हुताशश्च स वक्त्रं यस्य तव स त्वं दीप्तहुताशवक्त्रस्तं त्वां दीप्तहुता-शवक्त्रं **स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं** तापयन्तम्॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में जो अन्तरिक्ष है वह केवल आप से ही व्याप्त हो रहा है (क्योंकि आप विश्वरूप धारण किये हुए हैं), उसी विश्वरूप से ये दिशायें भी व्याप्त हो रही हैं। आपका यह अद्भुत रूप लोकों को भयभीत करने वाला है जिसे देखकर, हे महात्मन्! यह तीनों लोक भयभीत हो (भागते दिखाई पड़ रहे हैं)॥२०॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं ह्यन्तरिक्षं **व्याप्तं त्वयैकेन** विश्वरूपधरेण **दिशश्च सर्वा** व्याप्ता **दृष्ट्वो**पल-भ्याद्**भुतं** विस्मापकं **रूपमिदं तवोग्रं** क्रूरं लोकानां

त्रयं **लोकत्रयं प्रव्यथितं** भीतं प्रचलितं वा हे **महात्मन्**नक्षुद्रस्वभाव॥२०॥

अथाधुना पुरा 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' (गी. २.६) इत्यर्जुनस्य संशय आसीत्तन्निर्णयाय पाण्डवजयमैकान्तिकं दर्शयामीति प्रवृत्तो भगवांस्तं पश्यन्नाह, किंच—

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

(जिन्हें कभी मैंने स्वर्ग में देखा था) वे देव समुदाय आप में प्रवेश करते दिखायी दे रहे हैं, कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़ स्तुति कर रहे हैं। सबका कल्याण हो ऐसा कहकर महर्षियों एवं सिद्धों के संघ पुष्कल (सम्पूर्ण) स्तुतियों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं॥२१॥

अमी हि युध्यमाना योद्धारस्त्वा **त्वां सुरसंघा** येऽत्र भूभारावतारायावतीर्णा वस्वादिदेवसंघा मनुष्यसंस्थानास्त्वां **विशन्ति** प्रविशन्तो दृश्यन्ते। तत्र **केचिद्भीताः प्राञ्जलयः** सन्तो **गृणन्ति** स्तुवन्ति त्वामन्ये पलायनेऽप्यशक्ताः सन्तः। युद्धे प्रत्युपस्थित उत्पातादिनिमित्तान्युपलक्ष्य **स्वस्त्यस्तु** जगत **इत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा** महर्षीणां सिद्धानां च संघाः **स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः** संपूर्णाभिः॥२१॥

किंचान्यत्—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु और जो सभी साध्यगण हैं, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, पितर, हाहा-हूहू गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, विरोचनादि असुर, कपिलादि सिद्ध-इनके संघ जो भी हैं वे सबके सब आश्चर्यचकित हो आप को देख रहे हैं॥२२॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या रुद्रादयो गणा **विश्वेऽश्विनौ** च देवौ **मरुतश्च, ऊष्मपाश्च** पितरो **गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा** गन्धर्वा हाहाहुहूप्रभृतयो यक्षाः कुबेरप्रभृतयोऽसुरा विरोचनप्रभृतयः सिद्धाः कपिलादयस्तेषां संघा गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघास्ते **वीक्षन्ते** पश्यन्ति **त्वा** त्वां **विस्मिता** विस्मयमापन्नाः सन्तस्त **एव सर्वे**॥२२॥

यस्मात्—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्॥२३॥

हे महाबाहो! अनेक मुख और नेत्र वाले, अनेक बाहु, जंघा और पाद वाले, अनेक उदर वाले और अनेक विकराल दाढ़ों वाले आपके महान् रूप को देखकर यह सम्पूर्ण लोक व्यथित हो रहे हैं और मैं भी भय से विचलित हो रहा हूँ॥२३॥

रूपं महदतिप्रमाणं **ते** तव **बहुवक्त्रनेत्रं** बहूनि वक्त्राणि मुखानि नेत्राणि चक्षूंषि च यस्मिंस्तद्रूपं बहु-वक्त्रनेत्रं हे **महाबाहो! बहुबाहूरुपादं** बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिन्रूपे तद्बहुबाहूरुपादं, किंच **बहूदरं** बहून्युदराणि यस्मिन्निति बहूदरं **बहुदंष्ट्राकरालं** बह्वी-भिर्दंष्ट्राभिः करालं विकृतं तद्बहुदंष्ट्राकरालं **दृष्ट्वा** रूपमीदृशं

लोका लौकिकाः प्राणिनः **प्रव्यथिताः** प्रचलिता भयेन **तथाऽहमपि**॥२३॥

तत्रेदं कारणम्—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

आकाश को स्पर्श करने वाले, प्रदीप्त अनेक वर्णों वाले, खुले हुए मुख और विशाल प्रदीप्त नेत्र वाले आपको देखकर मेरा हृदय इतना व्यथित हो गया है कि हे विष्णु! मैं धैर्य एवं शान्ति को नहीं प्राप्त कर रहा हूँ॥२४॥

नभःस्पृशं द्युस्पर्शमित्यर्थः, **दीप्तं** प्रज्वलित**मनेकवर्ण**मनेके वर्णा भयंकरा नानासंस्थाना यस्मिंस्त्वयि तं त्वामनेकवर्णं **व्यात्ताननं** व्यात्तानि विवृतान्याननानि मुखानि यस्मिंस्त्वयि तं त्वां व्यात्ताननं **दीप्तविशालनेत्रं** दीप्तानि प्रज्वलितानि विशालानि विस्तीर्णानि नेत्राणि यस्मिंस्त्वयि तं त्वां दीप्तविशालनेत्रं **दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा** प्रव्यथितः प्रभीतोऽन्तरात्मा मनो यस्य मम सोऽहं प्रव्यथितान्तरात्मा सन्**धृतिं** धैर्यं **न विन्दामि** न लभे **शमं** चोपशमं मनस्तुष्टिं हे **विष्णो!**॥२४॥

कस्मात्—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

हे देवेश! हे जगन्निवास! विकराल दाढ़ों वाले एवं लोकों के दाहक कालाग्नि के समान आप के इन मुखों को देखते ही मैं दिग्भ्रान्त हो गया हूँ, अतः अब आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जायँ॥२५॥

दंष्ट्राकरालानि दंष्ट्राभिः करालानि विकृतानि **ते** तव **मुखानि दृष्ट्वैवोपलभ्य कालानलसंनिभानि** प्रलयकाले लोकानां दाहकोऽग्निः कालानलस्तत्संनिभानि कालानलसदृशानि दृष्ट्वेत्येतद्**दिशः** पूर्वापरविवेकेन **न जाने** दिङ्मूढो जातोऽस्म्यतो **न लभे च** नोपलभे च **शर्म** सुखमतः **प्रसीद** प्रसन्नो भव हे **देवेश! जगन्निवास!**॥२५॥

येभ्यो मम पराजयाशङ्काऽऽसीत्सा चापगता। यतः—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६ ॥

ये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि सभी राजाओं के सहित आप में प्रवेश कर रहे हैं जिनमें पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, सूतपुत्र कर्ण और हमारे प्रमुख वीर लोग भी सम्मिलित हैं॥२६॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयस्त्वरमाणा विशन्तीति व्यवहितेन संबन्धः। **सर्वे सहैव** संहता **अवनिपालसंघै**रवनिं पृथ्वीं पालयन्तीत्यवनिपालास्तेषां संघैः। किंच **भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः** कर्णस्त**थाऽसौ सहास्मदीयैरपि** धृष्टद्युम्नप्रभृतिभि**र्योधमुख्यै**र्योधानां मुख्यैः प्रधानैः सह॥२६॥

किंच—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

विकराल दाढ़ों वाले आपके भयानक मुख में प्रवेश करने वालों में से कुछ तो आप के दाँतों के मध्य उलझे हुए दिखाई पड़ रहे हैं जिनके मस्तक चूर-चूर हो गये हैं॥२७॥

वक्त्राणि मुखानि **ते** तव **त्वरमाणास्**त्वरायुक्ताः सन्तो **विशन्ति**। किंविशिष्टानि मुखानि। **दंष्ट्राकरालानि भयानकानि** भयंकराणि। किंच **केचिन्**मुखानि प्रविष्टानां मध्ये **विलग्ना दशनान्तरेषु** दन्तान्तरेषु मांसमिव भक्षितं **संदृश्यन्ते** उपलभ्यन्ते **चूर्णितैश्**चूर्णीकृतै**रुत्तमाङ्गैः** शिरोभिः॥२७॥

कथं प्रविशन्ति मुखानीत्याह—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

जैसे नदियों के अनेक जलवेग समुद्र की ओर ही भागते हैं वैसे ही मनुष्यलोक के शूरवीर वे भीष्मादि जाज्वल्यमान् मुखों में प्रवेश कर रहे हैं॥२८॥

यथा नदीनां स्रवन्तीनां **बहवो**ऽनेकेऽम्बूनां वेगा **अम्बुवेगास्**त्वराविशेषाः **समुद्रमेवाभिमुखाः** प्रतिमुखा **द्रवन्ति** प्रविशन्ति **तथा** तद्व**त्तवामी** भीष्मादयो **नरलोकवीरा** मनुष्यलोकशूरा **विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति** प्रकाशमानानि॥२८॥

ते किमर्थं प्रविशन्ति कथं चेत्याह—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

जैसे अतिवेग से युक्त हो पतङ्ग अपने नाश के लिए प्रदीप्त अग्नि पर कूदते हैं, ऐसे ही अपने नाश के लिए अत्यन्त वेग के साथ ये सभी सामान्य प्राणी भी आप के मुखों में प्रवेश कर रहे हैं॥२९॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनमग्निं पतङ्गाः पक्षिणो **विशन्ति नाशाय** विनाशाय **समृद्धवेगाः** समृद्ध उद्भूतो वेगो गतिर्येषां ते समृद्धवेगास्**तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः** प्राणिनस्**तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः**॥२९॥

त्वं पुनः—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

आप अपने मुख में सभी ओर से प्रवेश करने वालों को देदीप्यमान मुखों के द्वारा निगलते हुए चाट रहे हैं और अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रहे हैं। हे विष्णो! आपके भयावह प्रभाएं सम्पूर्ण लोकों को संतप्त कर रही हैं॥३०॥

लेलिह्यसे आस्वादयसि **ग्रसमानो**ऽन्तःप्रवेशयन्स**मन्ततो लोकान्समग्रान्**समस्तान्**वदनै**र्वक्त्रै**र्ज्वलद्भि**र्दीप्यमानैस्**तेजोभिरापूर्य** संव्याप्य **जगत्समग्रं** सहाग्रेण

समस्तमित्येतत्। किंच **भासो** दीप्तयस्त**वोग्राः** क्रूराः **प्रत-पन्ति** प्रतापं कुर्वन्ति हे **विष्णो!** व्यापनशील॥३०॥

यत एवमुग्रस्वभावोऽतः—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१॥

जबकि आप ऐसे उग्र स्वभाव हैं, इसलिए मुझे बतलायें कि आखिर आप क्रूराकार हैं क्या? हे देवताओं में प्रधान! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइये। मैं आप आदिदेव को विशेष रूप से जानना चाहता हूँ क्योंकि आपकी इस प्रवृत्ति को मैं नहीं समझ पा रहा हूँ॥३१॥

आख्याहि कथय **मे** मह्यं **को भवानुग्ररूपः** क्रूराकारः **नमोऽस्तु ते** तुभ्यं हे **देववर** देवानां प्रधान **प्रसीद** प्रसादं कुरु **विज्ञातुं** विशेषेण ज्ञातु**मिच्छामि भवन्तमाद्य**मादौ भवमाद्यम्। **न हि** यस्मात्**प्रजानामि तव** त्वदीयां **प्रवृत्तिं** चेष्टाम्॥३१॥

नवमाह्निकम्॥९॥

***

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥

मैं लोकों का क्षय करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ। इस समय लोकों के संहार के लिये मैं प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रतिपक्षी की सेनाओं में जो भीष्मादि खड़े हैं वे सब तुम्हारे बिना (युद्ध न करने पर) भी नहीं रहेंगे॥३२॥

कालोऽस्मीति। **कालोऽस्मि** लोकक्षयकृल्लोकानां क्षयं करोतीति **लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो** वृद्धिं गतो यदर्थं प्रवृद्ध-स्तच्छृणु **लोकान्समाहर्तुं** संहर्तु**मिहा**स्मिन्काले **प्रवृत्तः**। **ऋतेऽपि** विनाऽपि **त्वा** त्वां **न भविष्यन्ति** भीष्मद्रोण-कर्णप्रभृतयः **सर्वे** येभ्यस्तवाऽऽशङ्का **येऽवस्थिताः प्रत्यनी-केष्व**नीकमनीकं प्रति प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षभूतेष्वनीकेषु **योधा** योद्धारः॥३२॥

यस्मादेवम्—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

(जब कि ऐसी बात है) इसलिए तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ, यश प्राप्त करो और युद्ध में शत्रुओं को जीतकर समृद्ध निष्कण्टक राज्य का भोग करो। निश्चित ही मेरे द्वारा ये सब पहले ही मारे जा चुके हैं, हे सव्यसाचिन् (बायें हाथ से भी बानों को चलाने वाले)! तू तो निमित्तमात्र हो जा॥३३॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ भीष्मद्रोणप्रभृतयोऽतिरथा अजेया देवैरप्यर्जुनेन जिता इति **यशो लभस्व** केवलं पुण्यैर्हि तत्प्राप्यते **जित्वा शत्रून्**दुर्योधनप्रभृती**न्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्ध**मसपत्नमकण्टकम्। **मयैवैते निहता** निश्चयेन हताः प्राणैर्वियोजिताः **पूर्वमेव। निमित्तमात्रं भव** त्वं हे

काल ; परिणाम हेतु ।

सव्यसाचिन्सव्येन वामेनापि हस्तेन शराणां क्षेपात्सव्यसाचीत्युच्यतेऽर्जुनः ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण और अन्य सभी शूरवीर मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, तू इन्हें मार, डर मत। संग्राम में शत्रुओं को जीतोगे, इसलिए युद्ध करो॥३४॥

द्रोणं चेति। **द्रोणं च** येषु येषु योधेष्वर्जुनस्याऽऽशङ्का, तांस्तान्व्यपदिशति भगवान्मया हतानिति। तत्र द्रोणभीष्मयोस्तावत्प्रसिद्धमाशङ्काकारणं द्रोणो धनुर्वेदाचार्यो दिव्यास्त्रसंपन्न आत्मनश्च विशेषतो गुरुर्गरिष्ठो भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युर्दिव्यास्त्रसंपन्नश्च परशुरामेण द्वंद्वयुद्धमगमन्न च पराजितः। तथा जयद्रथो यस्य पिता तपश्चरति मम पुत्रस्य शिरो भूमौ पातयिष्यति यस्तस्यापि शिरः पतिष्यतीति। कर्णोऽपि वासवदत्तया शक्त्या त्वमोघया संपन्नः सूर्यपुत्रः कानीनो यतोऽतस्तन्नाम्नैव निर्देशः। **मया हतांस्त्वं जहि** निमित्तमात्रेण **मा व्यथिष्ठा**स्तेभ्यो भयं मा कार्षी**र्युध्यस्व जेतासि** दुर्योधनप्रभृतीन्**रणे** युद्धे **सपत्ना**ञ्शत्रून्॥३४॥

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

संजय कहते हैं कि— भगवान् की इस बात को सुनकर किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़े काँप रहा था और बार-बार नमस्कार कर भयभीत हो गद्गद कण्ठ से श्रीकृष्ण से बोला॥ ३५॥

एतच्छ्रुत्वेति। **एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य** पूर्वोक्तं **कृताञ्जलिः** **सन्वेपमानः** कम्पमानः **किरीटी नमस्कृत्वा भूयः** पुनरेवाऽऽहोक्तवान्कृष्णं **सगद्गदं** भयाविष्टस्य दुःखाभिघातात्स्नेहाविष्टस्य च हर्षोद्भवादश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति श्लेष्मणा कण्ठावरोधस्ततश्च वाचोऽपाटवं मन्दशब्दत्वं यत्स गद्गदस्तेन सह वर्तत इति सगद्गदं वचनमाहेति वचनक्रियाविशेषणमेतत्। **भीतभीतः** पुनः पुनर्भयाविष्टचेताः **सन्प्रणम्य** प्रह्वीभूत्वाऽऽहेति व्यवहितेन संबन्धः। अत्रावसरे संजयवचनं साभिप्रायम्। कथं द्रोणादिष्वर्जुनेन निहतेष्वजेयेषु चतुःषु निराश्रयो दुर्योधनो निहत एवेति मत्वा धृतराष्ट्रो जयं प्रति निराशः सन्संधिं करिष्यति ततः शान्तिरुभयेषां भविष्यतीति। तदपि नाश्रौषीद्धृतराष्ट्रो भवितव्यवशात्॥३५॥

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥३६॥

हे हृषीकेश! आपके माहात्म्यसंकीर्तन से जगत् प्रसन्न हो रहा है (यह उचित ही है।) साथ ही, आप में अनुराग भी कर रहा है (यह भी ठीक है।) राक्षस भयभीत हो दिशाओं में भाग रहे हैं, कपिलादि सिद्धों के सभी समुदाय आपको नमस्कार करते हैं (यह सब उचित ही है)॥३६॥

स्थान इति। **स्थाने** युक्तं किं तत्, **तव प्रकीर्त्या**

साधना मनोवृत्ति से अन्तःकरण उपाहित है।

त्वन्माहात्म्यकीर्तनेन श्रुतेन हे **हृषीकेश यज्जगत्प्रहृष्यति** प्रहर्षमुपैति तत्स्थाने युक्तमित्यर्थः। अथवा विषयविशेषणं स्थान इति। युक्तो हर्षादिविषयो भगवान्। यत ईश्वरः सर्वात्मा सर्वभूतसुहृच्चेति। तथाऽ**नुरज्यते**ऽनुरागं चोपैति तच्च विषय इति व्याख्येयम्। किंच **रक्षांसि भीतानि** भयाविष्टानि **दिशो द्रवन्ति** गच्छन्ति तच्च स्थाने विषये। **सर्वे नमस्यन्ति** नमस्कुर्वन्ति **च सिद्धसंघाः** सिद्धानां समुदायाः कपिलादीनां तच्च स्थाने॥३६॥

भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुं दर्शयति—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्-
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

जब हिरण्यगर्भादि के भी आदिकर्ता आप हैं (तो सबसे बड़े आप हुए, इसलिए हे) महात्मन्! आपको वे लोग नमस्कार क्यों न करें। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप परम अक्षर हैं, सत्-असत् और उससे भी पर जो कुछ भी है, वह आप ही हैं॥३७॥

कस्माच्च हेतोस्ते तुभ्यं **न नमेरन्** नमस्कुर्युर्हे **महात्मन्गरीयसे** गुरुतराय यतो **ब्रह्मणो** हिरण्यगर्भस्याप्यादिकर्ता कारणमतस्तस्मा**दादिकर्त्रे** कथमेते न नमस्कुर्युरतो हर्षादीनां नमस्कारस्य च स्थानं त्वमर्हो विषय इत्यर्थः। हे**ऽनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं तत्परं यद्वे**दान्तेषु श्रूयते किं तत्सदसद्यद्विद्यमानमसच्च यत्र नास्तीति बुद्धिस्ते उपधानभूते सदसती यस्याक्षरस्य यद्द्वारेण सदसदि-

त्युपचर्यते। परमार्थतस्तु सदसतः परं तत् 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' (गी. ८.११) तत्त्वमेव नान्यदित्यभिप्रायः॥३७॥

पुनरपि स्तौति—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

आप आदिदेव, (ब्रह्माण्डरूप पुरी में शयन करने से) पुरुष, पुराण और इस सम्पूर्ण जगत् के परम निधान हैं। आप ही वेत्ता, वेद्य एवं परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आप से समस्त विश्व व्याप्त हो रहा है॥३८॥

त्वमादिदेवो जगतः स्रष्टृत्वात्, **पुरुषः** पुरि शयनात्, **पुराणश्चि**रंतनस्**त्वमे**वास्**य विश्वस्य परं** प्रकृष्टं **निधानं** निधीयतेऽस्मिञ्जगत्सर्वं महाप्रलयादाविति। किंच **वेत्ताऽसि** वेदिताऽसि सर्वस्यैव वेद्यजातस्य। यच्च **वेद्यं** वेदनार्हं तच्चासि। **परं च धाम** परमं पदं वैष्णवम्। **त्वया ततं** व्याप्तं **विश्वं** समस्त**मनन्तरूप!** अन्तो न विद्यते तव रूपाणाम्॥३८॥

किंच—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति, (ब्रह्मा के भी पिता), प्रपितामह भी आप ही हैं। आप को नमस्कार है, पुनः नमस्कार है, सहस्रों बार नमस्कार है एवं बार-बार नमस्कार है॥३९॥

वायुस्त्वं यमश्चाग्निर्वरुणोऽपांपतिः शशाङ्कश्चन्द्रमाः प्रजापतिस्त्वं कश्यपादिः **प्रपितामहश्च** पितामहस्यापि पिता प्रपितामहो ब्रह्मणोऽपि पितेत्यर्थः। **नमो नमस्ते तुभ्यमस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।** बहुशो नमस्कारक्रियाभ्यासावृत्तिगणनं कृत्वसुचोच्यते। पुनश्च भूयोऽपीति श्रद्धाभक्त्यतिशयादपरितोषमात्मनो दर्शयति॥३९॥

तथा—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

पूर्व दिशा की ओर से नमस्कार है, पश्चिम दिशा की ओर से नमस्कार है, सभी दिशाओं की ओर से आप को नमस्कार है क्योंकि सर्वत्र आप ही स्थित हैं, इसलिए सर्वरूप भी आप ही हैं। हे सर्व! हे अनन्तवीर्य! आप के पराक्रम का अन्त नहीं है। आप सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुए हैं। इसलिए भी आप सर्वरूप हैं॥४०॥

नमः पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि तुभ्य**मथ पृष्ठतस्ते** पृष्ठतोऽपि च ते। **नमोऽस्तु ते सर्वत एव** सर्वासु दिक्षु सर्वत्र स्थिताय हे **सर्वानन्तवीर्यामितविक्रमो**ऽनन्तं वीर्यमस्यामितो विक्रमोऽस्य वीर्यं सामर्थ्यं विक्रमः पराक्रमः। वीर्यवानपि कश्चिच्छस्त्रादिविषये न पराक्रमते मन्दपराक्रमो वा। **त्वं** त्वनन्तवीर्योऽमितविक्रमश्चेत्यनन्तवीर्यामितविक्रमः **सर्वं** समस्तं जगत्**समाप्नोषि** सम्यगेकेनाऽऽत्मना व्याप्नोषि यतस्त-स्मा**दसि** भवसि **सर्व**स्त्वया विनाभूतं न किंचिदस्तीत्यर्थः॥४०॥

यतोऽहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानापराध्यतः—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि॥४१॥

'**सखा**' ऐसा मानकर हठात् हमने हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! ऐसे अनादर सूचक शब्द से जो कुछ भी कहा है वह आप की महिमा एवं इस रूप को न जानने के कारण ही कहा है। प्रमाद या प्रेम से मैंने जो कुछ भी कहा है (उसके लिए अग्रिम श्लोक से अर्जुन क्षमायाचना करते हैं)॥४१॥

सखा समानवया **इति मत्वा** ज्ञात्वा विपरीतबुद्ध्या **प्रसभम**भिभूय प्रसह्य **यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति चाजानता**ऽज्ञानिना मूढेन। किमजानतेत्याह— **महिमानं** माहात्म्यं **तवेद**मीश्वरस्य विश्वरूपम्। तवेदं महिमानमजानतेति वैयधिकरण्येन संबन्धः। तवेममिति पाठो यद्यस्ति, तदा सामानाधिकरण्यमेव। **मया प्रमादा**द्विक्षिप्तचित्ततया **प्रणयेन वाऽपि** प्रणयो नाम स्नेहनिमित्तो विश्रम्भस्तेनापि कारणेन यदुक्तवानस्मि॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥४२॥

जो भी परिहास के कारण आप मुझसे तिरस्कृत हुए हों; विहरण, शय्या, आसन और भोजन के समय एकान्त में अथवा बहुतों के मध्य

में भी आप का तिरस्कार मेरे द्वारा हुआ हो, हे अच्युत! प्रमाणों के अविषय आप से मैं उन सब अपराधों के लिए क्षमा याचना करता हूँ॥४२॥

यच्चेति। **यच्चावहासार्थं** परिहासप्रयोजनायास**त्कृतः** परिभूतो**ऽसि** भवसि, क्क **विहारशय्यासनभोजनेषु** विहरणं विहारः पादव्यायामः शयनं शय्याऽऽसनमास्थायिका भोजनमदन-मित्येतेषु विहारशय्यासनभोजनेष्वे**कः** परोक्षः सन्नसत्कृतोऽसि परिभूतोऽ**स्यथवाऽपि** हे **अच्युत! तत्समक्षं** तच्छब्दः क्रियाविशेषणार्थः प्रत्यक्षं वाऽसत्कृतोऽसि **तत्सर्वमपराधजातं क्षामये** क्षमां कारये **त्वामहमप्रमेयं** प्रमाणातीतम्॥४२॥

यतस्त्वम्—

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप स्थावर-जङ्गम इस लोक के पिता हैं, आप पूज्य गुरु और उनसे भी श्रेष्ठ हैं। जब आप के समान भी दूसरा नहीं है तो आप से श्रेष्ठ कोई कैसे हो सकता है। तीनों लोक में आप का प्रभाव अतुलनीय है॥४३॥

पिताऽसि जनयिताऽसि **लोकस्य** प्राणिजातस्य **चराचरस्य** स्थावरजङ्गमस्य न केवलं **त्वमस्य** जगतः पिता **पूज्यश्च** पूजार्हो यतो **गुरुर्गरीयान्**गुरुतरः। कस्माद् गुरुतरस्त्वमित्याह—**न च त्वत्समस्त्व**त्तुल्योऽन्यो**ऽस्ति**। न हीश्वरद्वयं संभवत्यनेकेश्वरत्वे व्यवहारानुपपत्तेः। त्वत्सम एव तावदन्यो न संभवति **कुत** एवान्यो**ऽभ्यधिकः** स्यात्। **लोकत्रयेऽपि** सर्वस्मिन्न**प्रतिमप्रभाव** प्रतिमीयते यया

सा प्रतिमा न विद्यते प्रतिमा यस्य तव प्रभावस्य स त्वमप्रतिमप्रभावो हे अप्रतिमप्रभाव! निरतिशयप्रभावेत्यर्थः ॥४३॥

यत एवम्—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायाऽर्हसि देव सोढुम्॥४४॥

इसलिए आपको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर स्तुति के योग्य आप ईश्वर को मैं प्रसन्न कर रहा हूँ। जैसे पुत्र के अपराध को पिता, मित्र के अपराध को मित्र और पत्नी के अपराध को पति क्षमा कर देता है ऐसे ही, हे देव! मेरे अपराध को आप क्षमा कर दें॥४४॥

तस्मात्प्रणम्य नमस्कृत्य **प्रणिधाय** प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा **कायं** शरीरं **प्रसादये** प्रसादं कारये **त्वामहमीशम्** ईशितारम**ीड्यं** स्तुत्यं त्वं पुनः **पुत्रस्या**पराधं **पिता** यथा क्षमते सर्वं **सखेव** च **सख्यु**रपराधं यथा वा **प्रियः प्रियाया** अपराधं क्षमत एव**मर्हसि** हे **देव सोढुं** प्रसहितुं क्षन्तुमित्यर्थः ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥४५॥

आपके अदृष्ट पूर्व रूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, साथ ही, भय के कारण मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है। हे देव! आप मुझे वही रूप दिखलाइये, आप देवेश हैं और आप जगन्निवास हैं॥४५॥

अदृष्टपूर्वमिति । **अदृष्टपूर्वं** न कदाचिदपि दृष्टपूर्वमिदं विश्वरूपं तव मयाऽन्यैर्वा, तदहं **दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि भयेन च प्रव्यथितं मनो मेऽतस्तदेव मे** मम **दर्शय** हे **देव! रूपं** यन्मत्सखं **प्रसीद देवेश जगन्निवास** जगतो निवासो जगन्निवासो हे जगन्निवास! ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥४६॥

किरीटधारी, गदाधारी एवं हाथ में चक्र लिए हुए आपको मैं पूर्व की भाँति देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप विश्व रूप का उपसंहारकर उसी चतुर्भुज रूप से युक्त हो जाइये॥४६॥

किरीटिनमिति। **किरीटिनं** किरीटवन्तं तथा **गदिनं** गदावन्तं **चक्रहस्तमिच्छामि त्वां** प्रार्थये त्वां **द्रष्टुमहं तथैव** पूर्ववदित्यर्थः। यत एवं तस्मा**त्तेनैव रूपेण** वसुदेवपुत्ररूपेण **चतुर्भुजेन सहस्रबाहो** वार्तमानिकेन विश्वरूपेण **भव विश्वमूर्ते** उपसंहृत्य विश्वरूपं तेनैव रूपेण वसुदेवपुत्ररूपेण भवेत्यर्थः॥४६॥

अर्जुनं भीतमुपलभ्योपसंहृत्य विश्वरूपं प्रियवचनेनाऽऽश्वासयन्—

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपने ऐश्वर्य के बल से तुझे इस परमरूप को दिखलाया, जो तेजोमय, विश्व, अन्तरहित और आद्य रूप है, मेरे जिस रूप का दर्शन तुझसे भिन्न किसी ने नहीं किया है॥४७॥

मया प्रसन्नेन प्रसादो नाम त्वय्यनुग्रहबुद्धिस्तद्वता प्रसन्नेन मया **तव** हे **अर्जुनेदं परं रूपं** विश्वरूपं **दर्शित-मात्मयोगादात्मन** ऐश्वर्यस्य सामर्थ्या**त्तेजोमयं** तेजःप्रायं **विश्वं** समस्त**मनन्त**मन्तरहितमादौ भव**माद्यं यद्रूपं मे** मम **त्वदन्येन** त्वत्तोऽन्येन केनचि**न्न दृष्टपूर्वम्**॥४७॥

आत्मनो मम रूपदर्शनेन कृतार्थ एव त्वं संवृत्त इति तत्स्तौति—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दाने-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

वेदों के अध्ययन, यज्ञों के विशेष विज्ञान के तुलापुरुषादि दान, अग्नि-होत्रादि श्रौत क्रिया और चान्द्रायणादि घोर तप से भी कोई मेरे इस रूप को नहीं देख सकता। हे कौरवों में सर्वश्रेष्ठ वीर अर्जुन! इस मनुष्यलोक में तेरे सिवा किसी अन्य से यह रूप नहीं देखा जा सकता॥४८॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैश्चतुर्णामपि वेदानामध्य-यनैर्यथावद्यज्ञाध्ययनैश्च, वेदाध्ययनैरेव यज्ञाध्ययनस्य सिद्ध-त्वात्पृथग्यज्ञाध्ययनग्रहणं यज्ञविज्ञानोपलक्षणार्थम्। तथा न दानैस्तुलापुरुषादिभि**र्न च क्रियाभि**रग्निहोत्रादिभिः श्रौता-दिभि**र्नापि तपोभिरुग्रै**श्चान्द्रायणादिभिरुग्रैर्घोरै**रेवंरूपो** यथा दर्शितं विश्वरूपं यस्य सोऽहमेवंरूपः **शक्यो** न

शक्योऽहं नृलोके मनुष्यलोके **द्रष्टुं त्वदन्येन** त्वत्तोऽन्येन **कुरुप्रवीर** ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

तुझे भय न हो और मेरे इस भयंकर रूप को देखकर विमूढ़चित्तता भी न हो, अतः पुनः तू निर्भय, प्रसन्नमन होकर मेरे उसी चतुर्भुज रूप को देख (जो तुझे इष्ट है)॥४९॥

मा ते व्यथेति। **मा ते व्यथा** मा भूत्ते भयं **मा च विमूढभावो** विमूढचित्तता **दृष्ट्वो**पलभ्य **रूपं घोरमीदृग्**यथादर्शितं **ममेदं व्यपेतभीर्**विगतभयः **प्रीतमनाश्च** सन्**पुनर्**भूयस्**त्वं तदेव** चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदाधरं तवेष्टं **रूपमिदं प्रपश्य**॥४९॥

संजय उवाच—
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥५०॥

(ग्रन्थकर्ता भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि यह सब वृत्तान्त धृतराष्ट्र को सुना) संजय बोला— इस प्रकार वासुदेव श्रीकृष्ण ने (पिछले तीन श्लोकों में कही गयी बातें) अर्जुन से कहकर पुनः अपने रूप को दिखलाया और अक्षुद्रस्वभाव महात्मा श्रीकृष्ण ने पुनः सौम्यवपु होकर उस डरे हुए अर्जुन को आश्वासन दिया॥५०॥

इत्यर्जुनमिति। **इत्येवमर्जुनं वासुदेवस्तथा**भूतं वचन-**मुक्त्वा स्वकं** वसुदेवगृहे जातं **रूपं दर्शयामास** दर्शितवान्। **भूयः** पुनरा**श्वासयामास** चाऽऽश्वासितवांश्च **भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुः** प्रसन्नदेहो **महात्मा**॥५०॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

हे जनार्दन! आप के इस सौम्य मानुष रूप को देखकर इस समय मैं प्रसन्नचित्त हूँ, अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ॥५१॥

दृष्ट्वेदमिति। **दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं** मत्सखं प्रसन्नं **तव सौम्यं जनार्दनेदानी**मधुनाऽ**स्मि संवृत्तः** संजातः किं **सचेताः** प्रसन्नचित्तः **प्रकृतिं** स्वभावं **गत**श्चास्मि॥५१॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

जिसे अत्यन्त कठिनाई से देखा जाय उस रूप को 'सुदुर्दर्श' कहते हैं, तुमसे भिन्न किसी व्यक्ति के लिए इस रूप का दर्शन अशक्य है। और की क्या बात है, देवता भी मेरे इस रूप के दर्शन की आकांक्षा सदा रखते हैं फिर भी जैसा तूने देखा है वैसा वे नहीं देख पाते॥५२॥

सुदुर्दर्शमिति। **सुदुर्दर्शं** सुष्ठु दुःखेन दर्शनमस्येति सुदुर्दर्श-**मिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम देवा अप्यस्य** मम **रूपस्य नित्यं** सर्वदा **दर्शनकाङ्क्षिणो** दर्शनेप्सवोऽपि न त्वमिव दृष्टवन्तो न द्रक्ष्यन्ति चेत्यभिप्रायः॥५२॥

कस्मात्—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

उसका कारण यह है कि मैं वेदों के अध्ययन से, चान्द्रायणादि कठोर व्रत के अनुष्ठान से, गो-भूमि-हिरण्यादि के दान से और पूजा से इस प्रकार का नहीं देखा जाता जैसा कि तूने मुझे देखा है॥४३॥

नाहं वेदैर्ऋग्यजुःसामाथर्ववेदैश्चतुर्भिरपि **न तपसो**ग्रेण चान्द्रायणादिना **न दानेन** गोभूहिरण्यादिना **न चेज्यया** यज्ञेन पूजया वा **शक्य एवंविध**स्तथादर्शितप्रकारो **द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा** त्वम्॥५३॥

कथं पुनः शक्य इत्युच्यते—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥५४॥

हे अर्जुन! हे परंतप! अनन्यभक्ति के द्वारा मैं विश्वरूप से जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और तत्त्वतः प्रवेश भी किया जा सकता हूँ॥५४॥

भक्त्या तु किंविशिष्टयेत्याह—**अनन्यया**ऽपृथग्भूतया भगवतोऽन्यत्र पृथङ्न कदाचिदपि या भवति सा त्वनन्या भक्तिः, सर्वैरपि करणैर्वासुदेवादन्यन्नोपलभ्यते यया साऽनन्या भक्तिस्तया भक्त्या **शक्योऽहमेवंविधो** विश्वरूपप्रकारो हे **अर्जुन! ज्ञातुं** शास्त्रतो न केवलं ज्ञातुं शास्त्रतो **द्रष्टुं च** साक्षात्कर्तुं **तत्त्वेन** तत्त्वतः **प्रवेष्टुं च** मोक्षं च गन्तुं **परंतप**॥५४॥

अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थोऽनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्योच्यते—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

आदितः श्लो. ४६९

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥११॥

हे पाण्डुनन्दन! जो मेरे लिए कर्म करता है, मुझे सर्वोत्कृष्ट समझता है, मेरा भक्त है, धन-पुत्रादि में आसक्ति से रहित है और सभी प्राणियों में निर्वैर है वह मुझे प्राप्त करता है॥५५॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित विश्वरूपदर्शनयोग नामक एकादश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥११॥

मत्कर्मकृन्मदर्थं कर्म मत्कर्म तत्करोतीति मत्कर्मकृन्**मत्परमः** करोति भृत्यः स्वामिकर्म न त्वात्मनः परमा प्रेत्य गन्तव्या गतिरिति स्वामिनं प्रतिपद्यते, अयं तु मत्कर्मकृन्मामेव परमां गतिं प्रतिपद्यत इति मत्परमोऽहं परमः परा गतिर्यस्य सोऽयं मत्परमस्तथा **मद्भक्तो** मामेव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजत इति मद्भक्तः **सङ्गवर्जितो** धनपुत्रमित्रकलत्रबन्धुवर्गेषु सङ्गवर्जितःसङ्गः प्रीतिः स्नेहस्तद्वर्जितो **निर्वैरो** निर्गतवैरः **सर्वभूतेषु** शत्रुभावरहित आत्मनोऽत्यन्तापकारप्रवृत्तेष्वपि **य** ईदृशो मद्भक्तः **स मामेत्य**हमेव तस्य परा गतिर्नान्या गतिः काचिद्भवत्ययं तवोपदेश इष्टो मयोपदिष्टो हे **पाण्डवेति**॥५५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥११॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ द्वादशोऽध्यायः

द्वितीयप्रभृतिष्वध्यायेषु विभूत्यन्तेषु परमात्मनो ब्रह्मणोऽक्षरस्य विध्वस्तसर्वविशेषणस्योपासनमुक्तं, सर्वयोगैश्वर्यसर्वज्ञानशक्तिमत्सत्त्वोपाधेरीश्वरस्य तव चोपासनं तत्र तत्रोक्तं, विश्वरूपाध्याये त्वैश्वरमाद्यं समस्तजगदात्मरूपं विश्वरूपं त्वदीयं दर्शितमुपासनार्थमेव त्वया, तच्च दर्शयित्वोक्तवानसि 'मत्कर्मकृत्' (गी. ११.५५) इत्यादि। अतोऽहमनयोरुभयोः पक्षयोर्विशिष्टतरबुभुत्सया त्वां पृच्छामीति—

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन ने कहा कि— जो भक्त पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में वर्णित प्रकार से सतत युक्त हो आपकी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं उनमें से कौन अतिशय योगवित् हैं॥ १॥

एवमित्यतीतानन्तरश्लोकेनोक्तमर्थं परामृशति—मत्कर्मकृदित्यादिना। **एवं सततयुक्ता** नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ यथोक्तेऽर्थे समाहिताः सन्तः प्रवृत्ता इत्यर्थः। **ये भक्ता** अनन्यशरणाः सन्तस्त्वां यथादर्शितं विश्वरूपं **पर्युपासते** ध्यायन्ति, **ये चान्येऽपि** त्यक्तसर्वैषणाः संन्यस्तसर्वकर्माणो यथाविशेषितं ब्रह्माक्षरं निरस्तसर्वोपाधित्वादव्यक्तमकरणगोचरं, यद्धि लोके करणगोचरं तद्व्यक्तमुच्यतेऽञ्जेर्धातोस्तत्कर्मकत्वादिदं

त्वक्षरं तद्विपरीतं शिष्टैश्चोच्यमानैर्विशेषणैर्विशिष्टं तद्ये चापि पर्युपासते **तेषामुभयेषां** मध्ये **के योगवित्तमाः** केऽतिशयेन योगविद इत्यर्थः ॥१॥

ये त्वक्षरोपासकाः सम्यग्दर्शिनो निवृत्तैषणास्ते तावत्तिष्ठन्तु, तान्प्रति यद्वक्तव्यं, तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः। ये त्वितरे—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

जो मुझ विश्वरूप में मन को समाहितकर नित्ययुक्त पराश्रद्धा से संयुक्त हो मेरे विश्वरूप की उपासना करते हैं वे मुझे युक्ततम मान्य हैं ॥२॥

मयि विश्वरूपे परमेश्वर **आवेश्य** समाधाय **मनो ये** भक्ताः सन्तो **मां** सर्वयोगेश्वराणामधीश्वरं सर्वज्ञं विमुक्तरागादिक्लेशतिमिरदृष्टिं **नित्ययुक्ता** अतीतानन्तराध्यायान्तोक्तश्लोकार्थन्यायेन सततयुक्ताः सन्त **उपासते श्रद्धया परया** प्रकृष्टयोपेता**स्ते मे** मम **मता** अभिप्रेता **युक्ततमा** इति। नैरन्तर्येण हि ते मच्चित्ततयाऽहोरात्रमतिवाहयन्त्यतो युक्तं तान्प्रति युक्ततमा इति वक्तुम् ॥२॥

किमितरे युक्ततमा न भवन्ति? न; किंतु तान्प्रति यद्वक्तव्यं तच्छृणु—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव की उपासना करते हैं (वे मुझे ही प्राप्त करते हैं ऐसा अग्रिम श्लोक के साथ सम्बन्ध बतलायेंगे) ॥३॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तत्वादशब्दगोचरमिति न निर्देष्टुं शक्यतेऽतोऽनिर्देश्यमव्यक्तं न केनापि प्रमाणेन व्यज्यत इत्यव्यक्तं **पर्युपासते** परि समन्तादुपासते। उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते। अक्षरस्य विशेषणमाह — **सर्वत्रगं** व्योमवद्व्याप्य-**चिन्त्यं** चाव्यक्तत्वादचिन्त्यम्। यद्धि करणगोचरं तन्मनसाऽपि चिन्त्यं तद्विपरीतत्वादचिन्त्यमक्षरं **कूटस्थं** दृश्यमानगुणमन्तर्दोषं वस्तु कूटं कूटरूपं कूटसाक्ष्यमित्यादौ कूटशब्दः प्रसिद्धो लोके। तथा चाविद्याद्यनेकसंसारबीजमन्तर्दोषवन्मायाऽव्याकृतादिशब्द-वाच्यतया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे. ४.१०) 'मम माया दुरत्यया' (गी. ७.१४) इत्यादौ प्रसिद्धं यत्तत्कूटं, तस्मिन्कूटे स्थितं कूटस्थं तदध्यक्षतयाऽथवा राशिरिव स्थितं कूटस्थमत **एवाचलं** यस्मादचलं तस्माद्**ध्रुवं** नित्यमित्यर्थः ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

इन्द्रिय समुदाय को अच्छी प्रकार स्वाधीनकर सभी काल में समबुद्धि वाले सभी भूतों के हित में रत हैं, वे अव्यक्त के उपासक मुझे ही प्राप्त करते हैं ॥४॥

संनियम्येति। **संनियम्य** सम्यङ्नियम्य संहृत्ये**न्द्रियग्राममि**न्द्रियसमुदायं **सर्वत्र** सर्वस्मिन्काले **समबुद्धयः** समा तुल्या बुद्धिर्येषामिष्टानिष्टप्राप्तौ ते समबुद्धयस्ते य एवंविधास्ते **प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते**

रताः। न तु तेषां वक्तव्यं किंचिन्मां ते प्राप्नुवन्तीति। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी. ७.१८) इति ह्युक्तम्। न हि भगवत्स्वरूपाणां सतां युक्ततमत्वमयुक्ततमत्वं वा वाच्यम्॥४॥

किंतु—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

(द्वैतदर्शी कामी पुरुषों के लिए) अक्षर ब्रह्म की उपासना अधिकतर क्लेशकारक है। उन अव्यक्त में आसक्तचित्त वालों को अव्यक्त की प्राप्ति कष्टकारक है, उसमें देहाभिमान ही कारण है। (यद्यपि मत्कर्मादिपरायण व्यक्ति को भी क्लेश अधिक ही होता है किन्तु अक्षर स्वरूप परमार्थदर्शी को देहाभिमान परित्याग निमित्तक अधिकतर क्लेश होता है)॥५॥

क्लेशोऽधिकतरो यद्यपि मत्कर्मादिपराणां क्लेशोऽधिक एव, क्लेशोऽधिकतरस्त्वक्षरात्मनां परमार्थदर्शिनां देहाभिमानपरित्यागनिमित्तो**ऽव्यक्तासक्तचेतसामव्यक्त** आसक्तं चेतो येषां तेऽव्यक्तासक्तचेतस**स्तेषामव्यक्तासक्तचे**तसाम्। **अव्यक्ता हि** यस्माद्या **गतिर**क्षरात्मिका **दुःखं** सा **देहवद्भि**र्देहाभिमानवद्भि**रवाप्यते**, अतः क्लेशोऽधिकतरः। अक्षरोपासकानां यद्वर्तनं तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥

जो सगुण उपासक अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझ परमेश्वर में समर्पितकर मेरे परायण हुए अनन्ययोग के द्वारा मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं॥६॥

ये त्विति। **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयीश्वरे**

संन्यस्य मत्परा अहं परो येषां ते मत्पराः सन्तोऽ**नन्ये**-नैवाविद्यमानमन्यदालम्बनं विश्वरूपं देवमात्मानं मुक्त्वा यस्य सोऽनन्यस्तेनानन्येनैव केवलेन **योगेन** समाधिना **मां ध्यायन्त**श्चिन्तयन्त **उपासते**॥६॥

तेषां किम्—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥७॥

हे पार्थ! मुझ विश्वरूप में जिनका चित्त आवेशित हो चुका है ऐसे मुझ ईश्वर के उपासना परायण भक्तों का मृत्यु रूप संसार सागर से मैं शीघ्र ही अच्छी प्रकार उद्धार करने वाला हो जाता हूँ॥७॥

तेषां मदुपासनैकपराणाम**हमी**श्वरः **समुद्धर्ता**। कुत इत्याह — **मृत्युसंसारसागरात्**, मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारः स एव सागर इव सागरो दुरुत्तरत्वात्तस्मान्मृत्युसंसारसागरादहं तेषां समुद्धर्ता **भवामि न चिरात्**किं तर्हि? क्षिप्रमेव, हे **पार्थ! मय्यावेशितचेतसां** मयि विश्वरूप आवेशितं प्रवेशितं समाहितं चेतो येषां ते मय्यावेशितचेतसस्तेषाम्॥७॥

यत एवं तस्मात्—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

मुझमें ही मन को स्थापितकर मुझमें ही निश्चयरूपा बुद्धि को भी प्रविष्ट कराओ। इसके बाद तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे, इसमें संशय नहीं है॥८॥

मय्येव विश्वरूप ईश्वरे **मनः** संकल्पविकल्पात्म-

कमाधत्स्व स्थापय मय्येवाध्यवसायं कुर्वतीं बुद्धिमाधत्स्व निवेशय। ततस्ते किं स्यादिति शृणु—निवसिष्यसि निवत्स्यसि निश्चयेन मदात्मना मयि निवासं करिष्यस्येवातः शरीरपातादूर्ध्वं न संशयः संशयोऽत्र न कर्त्तव्यः ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनंजय॥९॥

हे धनंजय! यदि इस प्रकार मुझ विश्वरूप में अपने चित्त को समाहित नहीं कर सकते हो तो अभ्यासयोग के द्वारा मुझ विश्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा करो॥९॥

अथेति। अथैवं यथाऽवोचाम तथा मयि चित्तं समाधातुं स्थापयितुं स्थिरमचलं न शक्नोषि चेत्ततः पश्चादभ्यासयोगेन चित्तस्यैकस्मिन्नालम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षण-स्तेनाभ्यासयोगेन मां विश्वरूपमिच्छ प्रार्थयस्वाऽऽप्तुं प्राप्तुं हे धनंजय॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

पूर्वोक्त अभ्यास करने में भी यदि असमर्थ हो, तो मदर्थ कर्मपर (परमेश्वरार्थ कार्य को सर्वाधिक महत्त्व देने वाला) बन जाओ। अभ्यास के बिना भी मेरे लिए कर्म करने वाला तू परम्परा से ब्रह्मभावापत्ति रूप सिद्धि को प्राप्त कर जायेगा॥१०॥

अभ्यासेऽपीति। अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽस्यशक्तोऽसि तर्हि मत्कर्मपरमो भव मदर्थं कर्म मत्कर्म तत्परमो मत्कर्मप्रधान इत्यर्थः। अभ्यासेन विना मदर्थमपि कर्माणि

केवल **कुर्वन्सिद्धिं** सत्त्वशुद्धियोगज्ञानप्राप्तिद्वारेणा-**वाप्स्यसि**॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

और यदि ऐसा करने में भी अशक्त हो तो मुझमें कर्मों का समर्पणकर मेरे आश्रित संयतचित्त होकर सम्पूर्ण कर्मफलों का परित्याग करो॥११॥

अथैतदिति। **अथ** पुनर**ेतदपि** यदुक्तं मत्कर्मपरमत्वं तत्**कर्तुमशक्तोऽसि मद्योगमाश्रितो** मयि क्रियमाणानि कर्माणि संन्यस्य यत्करणं तेषामनुष्ठानं स मद्योगस्त-माश्रितः सन्**सर्वकर्मफलत्यागं** सर्वेषां कर्मणां फलसंन्यासं सर्वकर्मफलत्यागं **ततो**ऽनन्तरं **कुरु यतात्मवान्**संयतचित्तः सन्नित्यर्थः॥११॥

इदानीं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

अविवेकपूर्वक किये गये अभ्यास से ज्ञान (युक्तिपूर्वक शब्दज्ञान) श्रेष्ठ है, उस ज्ञान से ज्ञानपूर्वक किया गया ध्यान श्रेष्ठ है और ज्ञानयुक्त ध्यान से भी कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है जिससे उसे तत्काल शान्ति मिलती है, (कालान्तर की अपेक्षा उसे नहीं होती)॥१२॥

श्रेयो हि प्रशस्यतरं **ज्ञानं** कस्मादविवेकपूर्व-**कादभ्यासा**त्तस्मादपि **ज्ञाना**ज्ज्ञानपूर्वकं **ध्यानं वि-शिष्यते**। ज्ञानवतो **ध्यानादपि कर्मफलत्यागो** वि-शिष्यत इत्यनुषज्यते। एवं कर्म**फलत्यागा**त्पूर्वविशेषणवतः **शान्ति**रुपशमः सहेतुकस्य संसारस्या**नन्तरमेव** स्यान्न तु

खूबसूरती भी यदि मर्यादा में बंधी है तो सभी को अच्छी लगती है प्रिय होती है।

कालान्तरमपेक्षते। अज्ञस्य कर्मणि प्रवृत्तस्य पूर्वोपदिष्टोपायानुष्ठानाशक्तौ सर्वकर्मणां फलत्यागः श्रेयःसाधनमुपदिष्टं न प्रथममेव। अतश्च श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासादित्युत्तरोत्तरविशिष्टत्वोपदेशेन सर्वकर्मफलत्यागः स्तूयते, संपन्नसाधनानुष्ठानाशक्तावनुष्ठेयत्वेन श्रुतत्वात्। केन साधर्म्येण स्तुतित्वं "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" (कठ. २.६.१४) इति सर्वकामप्रहाणादमृतत्वमुक्तं तत्प्रसिद्धम्। कामाश्च सर्वे श्रौतस्मार्तसर्वकर्मणां फलानि। तत्त्यागे च विदुषो ज्ञाननिष्ठस्यानन्तरैव शान्तिरिति सर्वकामत्यागसामान्यमज्ञकर्मफलत्यागस्यास्तीति तत्सामान्यात्सर्वकर्मफलत्यागस्तुतिरियं प्ररोचनार्था। यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इतीदानींतना अपि ब्राह्मणा ब्राह्मणत्वसामान्यात्स्तूयन्ते। एवं कर्मफलत्यागात्कर्मयोगस्य श्रेयःसाधनत्वमभिहितम्॥१२॥

अत्र चाऽऽत्मेश्वरभेदमाश्रित्य विश्वरूप ईश्वरे चेतःसमाधानलक्षणो योग उक्त ईश्वरार्थं कर्मानुष्ठानादि च। 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' (गी. १२.१२) इत्यज्ञानकार्यसूचनान्नाभेददर्शिनोऽक्षरोपासकस्य कर्मयोग उपपद्यत इति दर्शयति। तथा कर्मयोगिनोऽक्षरोपासनानुपपत्तिं दर्शयति भगवान् 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' (गी. १२.४) इति। अक्षरोपासकानां कैवल्यप्राप्तौ स्वातन्त्र्यमुक्त्वेतरेषां पारतन्त्र्यमीश्वराधीनतां दर्शितवान् 'तेषामहं समुद्धर्ता' (गी. १२.७) इति। यदि हीश्वरस्याऽऽत्मभूतास्ते मता अभेददर्शित्वादक्षररूपा एव त इति समुद्धरणकर्मवचनं तान्प्रत्यपेशलं स्यात्। यस्माच्चार्जुनस्यात्यन्तमेव हितैषी भगवांस्तस्य सम्यग्दर्शनानन्वितं कर्मयोगं भेददृष्टिमन्तमेवोपदिशति। न चाऽऽत्मानमीश्वरं प्रमाणतो बुद्ध्वा कस्यचिद्गुणभावं जिगमिषति कश्चिद्, विरोधात्। तस्मादक्षरोपासकानां सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां त्यक्तसर्वैषणानाम्

फल त्याग माने भोक्तृत्व का त्याग, यह भोक्तृत्व का त्याग ध्यान से श्रेष्ठ है। क्योंकि भोक्तृत्व का त्याग ध्यान का फल है अतः भोक्तृत्व का त्याग श्रेष्ठ है। श्रौत स्मार्त सर्व कर्म फल का त्याग ज्ञानी निष्ठ संन्यासी द्वारा एवं सर्व कर्म फल त्याग अज्ञानी द्वारा ...

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादिधर्मपूगं साक्षादमृतत्वकारणं वक्ष्यामीति प्रवर्तते—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

जो सभी प्राणियों में द्वेषभाव से रहित है, सबके साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करता है, दुःखियों पर दया करता है, जिसमें ममता और अहंकार नहीं है, जो सुख और दुःख में समान है और क्षमाशील है (वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है) ॥१३॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां न द्वेष्टाऽऽत्मनो दुःखहेतुमपि न किंचिद्द्वेष्टि सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेन हि पश्यति। **मैत्रो** मित्रभावो मैत्री मित्रतया वर्तत इति मैत्रः। **करुण एव च** करुणा कृपा दुःखितेषु दया तद्वान्करुणः सर्वभूताभयप्रदः संन्यासीत्यर्थः। **निर्ममो** ममप्रत्ययवर्जितो **निरहंकारो** निर्गताहंप्रत्ययः। **समदुःखसुखः** समे दुःखसुखे द्वेषराग-योरप्रवर्तके यस्य स समदुःखसुखः **क्षमी** क्षमावाना-क्रुष्टोऽभिहतो वाऽविक्रिय एवाऽऽस्ते ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

('सततम्' पद का अन्वय आगे-पीछे कहे गये सभी विशेषणों के साथ करना चाहिए।) (देहस्थिति के साधनों के मिलने और न मिलने पर) जो सदा संतुष्ट रहता है, समाहितचित्त है, जिसका स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर संयत है और आत्मतत्त्व के विषय में जिसका निश्चय स्थिर है जिसने मन और बुद्धि को परमेश्वर में समर्पित कर रखा है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है ॥१४॥

संतुष्ट इति। संतुष्टः सततं नित्यं देहस्थितिकारणस्य

लाभेऽलाभे चोत्पन्नालंप्रत्ययस्तथा गुणवल्लाभे विपर्यये च संतुष्टः सततं **योगी** समाहितचित्तो **यतात्मा** संयतस्वभावो **दृढनिश्चयो** दृढः स्थिरो निश्चयोऽध्यवसायो यस्याऽऽत्मतत्त्व-विषये स दृढनिश्चयो **मय्यर्पितमनोबुद्धिः** संकल्पात्मकं मनोऽध्यवसायलक्षणा बुद्धिस्ते मय्येवार्पिते स्थापिते यस्य संन्यासिनः स मय्यर्पितमनोबुद्धिर्य ईदृशो **मद्भक्तः स मे प्रियः** 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गी.७. १७) इति सप्तमेऽध्याये सूचितं तदिह प्रपञ्च्यते॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥

जिस संन्यासी से लोक उद्विग्न नहीं होता और जो (खलसमुदाय) लोक से उद्विग्न नहीं होता एवं हर्ष–अमर्ष, भय और उद्वेग से जो मुक्त है, वह मुझे प्रिय है॥१५॥

यस्मादिति। **यस्मात्संन्यासिनो नोद्विजते** नोद्वेगं गच्छति न संतप्यते न संक्षुभ्यते **लोकः**। तथा **लोकान्नो-द्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगै**र्हर्षश्चामर्षश्च भयं चोद्वेगश्च तैर्हर्षामर्षभयोद्वगैर्मुक्तः। हर्षः प्रियलाभेऽन्तःकरण-स्योत्कर्षो रोमाञ्चनाश्रुपातादिलिङ्गः। अमर्षोऽसहिष्णुता भयं त्रास उद्वेग उद्विग्नता तै**र्मुक्तो यः स च मे प्रियः**॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

जो अपेक्षारहित, बाहर–भीतर की शुद्धि से युक्त, (अनेक कार्य एक साथ उपस्थित होने पर) यथार्थ कर्तव्य के निर्णय में समर्थ, किसी मित्रादि का पक्ष ग्रहण न करने वाला एवं भय से मुक्त, सम्पूर्ण आरम्भों को त्यागने के स्वभाव वाला जो होता है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है॥१६॥

अनपेक्ष इति। देहेन्द्रियविषयसंबन्धादिष्वपेक्षाविषयेष्व-**नपेक्षो** **निःस्पृहः** **शुचिर्बाह्येनाभ्यन्तरेण** च शौचेन संपन्नो **दक्षः** प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यो यथावत्प्रतिपत्तुं समर्थः। **उदासीनो** न कस्यचिन्मित्रादेः पक्षं भजते यः स उदासीनो **यतिर्गतव्यथो** गतभयः। **सर्वारम्भपरित्यागी,** आरभ्यन्त इत्यारम्भा इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वा-रम्भास्तान्परित्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**॥१६॥

किंच—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

जो इष्ट की प्राप्ति में प्रसन्न नहीं होता, अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता, प्रिय के वियोग में शोक नहीं करता, अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा नहीं करता तथा शुभाशुभ सभी कर्मों को त्याग देने के स्वभाव वाला भक्तिमान् पुरुष है; वह मुझे प्रिय है॥१७॥

यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ न द्वेष्ट्यनिष्टप्राप्तौ न शोचति प्रियवियोगे **न** चाप्राप्तं **काङ्क्षति** शुभाशुभे कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति **शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः**॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१८॥

जो शत्रु-मित्र में मानापमान में समान है, शीत-उष्ण एवं सुख-दुःख में समभाव रहता है और सर्वत्र आसक्ति से शून्य है॥१८॥

सम इति। **समः शत्रौ च मित्रे च तथा माना-**

पमानयोः पूजापरिभवयोः **शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सर्वत्र च सङ्गवर्जितः** ॥१८॥

किंच—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

निन्दा-स्तुति जिसके लिए समान हैं, जिसकी वाणी संयमित है और शरीर का निर्वाह जैसे भी हो जाय उसी में सन्तुष्ट है तथा जिसका निवास स्थान नियत नहीं है और परमार्थविषयक जिसकी बुद्धि स्थिर है; ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय लगता है ॥१९॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः, निन्दा च स्तुतिश्च निन्दास्तुती ते तुल्ये यस्य स **तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी** मौनवान्संयतवाक्**संतुष्टो येन केनचि**च्छरीरस्थितिमात्रेण। तथा चोक्तम्—

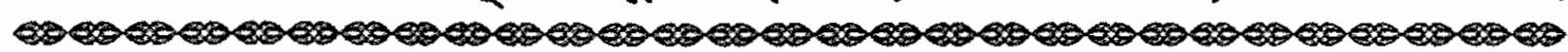
'येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥'
(महा० शान्ति० २४५.१२) इति।

किंचा**निकेतो** निकेत आश्रयो निवासो नियतो न विद्यते यस्य सोऽनिकेतो 'अनागारः' इत्यादिस्मृत्यन्तरात्। **स्थिरमतिः** स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिर्यस्य स स्थिरमति**र्भक्तिमान्मे प्रियो नरः** ॥१९॥

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (गी. १२.१३) इत्यादिनाऽक्षरस्योपासकानां निवृत्तसर्वैषणानां संन्यासिनां परमार्थज्ञाननिष्ठानां धर्मजातं प्रक्रान्तमुपसंह्रियते—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

आदितः श्लो. ४८९



इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

धर्म से युक्त, अमृतत्व प्रदान करने वाले यथोक्त लक्षणों की जो श्रद्धायुक्त मेरे परायण हो अच्छी प्रकार उपासना करते हैं वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं॥२०॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित भक्तियोगनामक बारहवें अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१२॥

ये तु संन्यासिनो **धर्म्यामृतं** धर्मादनपेतं धर्म्यं च तदमृतं च तदमृतत्वहेतुत्वादिदं **यथोक्तमद्वेष्टा** सर्वभूताना-मित्यादिना **पर्युपासतेऽ**नुतिष्ठन्ति **श्रद्दधानाः** सन्तो **मत्प-रमा** यथोक्तोऽहमक्षरात्मा परमो निरतिशया गतिर्येषां ते मत्परमा मद्**भक्ताश्चो**त्तमां परमार्थज्ञानलक्षणां भक्तिमा-श्रिता**स्तेऽतीव मे प्रियाः**। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमिति यत्सूचितं तद्व्याख्यायेहोपसंहृतं भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया इति। यस्माद्धर्म्यामृतमिदं यथोक्तमनुतिष्ठन् भगवतो विष्णोः परमेश्वर-स्यातीव मे प्रियो भवति। तस्मादिदं धर्म्यामृतं मुमुक्षुणा यत्नतो-ऽनुष्ठेयं, विष्णोः प्रियं परं धाम जिगमिषुणेति वाक्यार्थः॥२०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

दशमाह्निकम्॥ १० ॥

॥इति द्वितीयषट्कम्॥ २॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

॥ तृतीयषट्कम् ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

सप्तमेऽध्याये सूचिते द्वे प्रकृती ईश्वरस्य। त्रिगुणात्मिकाऽष्टधा भिन्नाऽपरा संसारहेतुत्वात्परा चान्या जीवभूता क्षेत्रज्ञलक्षणेश्वरात्मिका। याभ्यां प्रकृतिभ्यामीश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं प्रतिपद्यते। तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणप्रकृतिद्वयनिरूपणद्वारेण तद्वत ईश्वरस्य तत्त्वनिर्धारणार्थं क्षेत्राध्याय आरभ्यते। अतीतानन्तराध्याये च 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (गी. १२.१३) इत्यादिना यावदध्यायपरिसमाप्तिस्तावत्तत्त्वज्ञानिनां संन्यासिनां निष्ठा यथा ते वर्तन्त इत्येतदुक्तं, केन पुनस्ते तत्त्वज्ञानेन युक्ता यथोक्तधर्माचरणाद्भगवतः प्रिया भवन्तीत्येवमर्थश्चायमध्याय आरभ्यते। प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते सोऽयं संघात इदं शरीरं तदेतत्—

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥

हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र नाम से कहा जाता है और इसे जो जानता है उसको, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का रहस्य जानने वाले विद्वान्, क्षेत्रज्ञ कहते हैं॥१॥

इदमिति सर्वनाम्नोक्तं विशिनष्टि शरीरमिति। हे

कौन्तेय क्षतत्राणात्क्षयात्क्षरणात्क्षेत्रवद्वाऽस्मिन्कर्मफल-निर्वृत्तेः **क्षेत्रमिति**। इतिशब्द एवंशब्दपदार्थकः क्षेत्रमित्येवम-**भिधीयते** कथ्यते। **एतच्छरीरं** क्षेत्रं **यो वेत्ति** विजाना-त्यापादतलमस्तकं ज्ञानेन विषयीकरोति स्वाभाविकेनौपदेशिकेन वा वेदनेन विषयीकरोति विभागशस्तं **वेदितारं प्राहुः** कथयन्ति **क्षेत्रज्ञ इति**। इतिशब्द एवंशब्दपदार्थक एव पूर्ववत्क्षेत्रज्ञ इत्येवमाहुः। के; **तद्विदस्तौ** क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ ये विदन्ति ते तद्विदः॥१॥

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञावुक्तौ किमेतावन्मात्रेण ज्ञानेन ज्ञातव्याविति नेत्युच्यते—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥२॥

हे भारत! सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है उसी को मेरे मत में ज्ञान माना गया है॥२॥

क्षेत्रज्ञं यथोक्तलक्षणं **चापि मां** परमेश्वरमसंसारिणं **विद्धि** जानीहि। **सर्वक्षेत्रेषु** यः क्षेत्रज्ञो ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्तानेकक्षेत्रोपाधिप्रविभक्तस्तं निरस्तसर्वोपाधिभेदं सदसदा-दिशब्दप्रत्ययागोचरं विद्धीत्यभिप्रायः। हे **भारत** यस्मात्क्षे-त्रक्षेत्रज्ञेश्वरयाथात्म्यव्यतिरेकेण न ज्ञानगोचरमन्यदवशिष्टमस्ति, तस्मात्**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्**ज्ञेयभूतयोर्**यज्ज्ञानं** क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ येन ज्ञानेन विषयीक्रियेते **तज्ज्ञानं** सम्यग्ज्ञानमिति **मतमभिप्रायो ममे**श्वरस्य विष्णोः।

ननु सर्वक्षेत्रेष्वेक एवेश्वरो नान्यस्तद्व्यतिरिक्तो भोक्ता विद्यते चेत्तत ईश्वरस्य संसारित्वं प्राप्तमीश्वरव्यतिरेकेण वा सं-

सारिणोऽन्यस्याभावात्संसाराभावप्रसङ्गस्तच्चोभयमनिष्टं, बन्धमोक्षतद्धेतुशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाच्च। प्रत्यक्षेण तावत्सुखदुःखतद्धेतुलक्षणः संसार उपलभ्यते। जगद्वैचित्र्योपलब्धेश्च धर्माधर्मनिमित्तः संसारोऽनुमीयते। सर्वमेतदनुपपन्नमात्मेश्वरैकत्वे। न, ज्ञानाज्ञानयोरन्यत्वेनोपपत्तेः। 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता' (कठ. १.२.४)। तथा च तयोर्विद्याविद्याविषययोः फलभेदोऽपि विरुद्धो निर्दिष्टः 'श्रेयश्च प्रेयश्च' (कठ. १.२.२) इति। विद्याविषयः श्रेयः, प्रेयस्त्वविद्याकार्यमिति। तथा च व्यासः— 'द्वाविमावथ पन्थानौ' (महा. शान्ति. २४१.६) इत्यादि। 'इमौ द्वावेव पन्थानौ' इत्यादि च। इह च द्वे निष्ठे उक्ते। अविद्या च सह कार्येण विद्यया हातव्येति श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्योऽवगम्यते। श्रुतयस्तावत्—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (केन. २.५), 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ. पू. १.६), 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. ३.८), 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै. २.९), अविदुषस्तु 'अथ तस्य भयं भवति' (तै. २.७), 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (कठ. १.२.५), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु. ३.२.९), 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ. १.४.१०), 'आत्मविद्यः स इदं सर्वं भवति' (बृ. १.४.१०), "यदा चर्मवत्" (श्वे. ६. २०) इत्याद्याः सहस्रशः। स्मृतयश्च—'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी. ५.१५), 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' (गी. ५.१९), 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' (गी. १३.२८), इत्याद्याः। न्यायतश्च— सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति। अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥ (महा. शान्ति. २०१.१७) तथा च देहादिष्वात्मबुद्धिर-

विद्वान्रागद्वेषादिप्रयुक्तो धर्माधर्मानुष्ठानकृज्जायते म्रियते चेत्यवगम्यते, देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शिनो रागद्वेषादिप्रहाणापेक्षया धर्माधर्मप्रवृत्त्युपशमान्मुच्यन्त इति न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यं न्यायतः। तत्रैवं सति क्षेत्रज्ञस्येश्वरस्यैव सतोऽविद्याकृतोपाधिभेदतः संसारित्वमिव भवति। यथा देहाद्यात्मत्वमात्मनः। सर्वजन्तूनां हि प्रसिद्धो देहादिष्वनात्मस्वात्मभावो निश्चितोऽविद्याकृतः, यथा स्थाणौ पुरुषनिश्चयो, न चैतावता पुरुषधर्मः स्थाणोर्भवति स्थाणुधर्मो वा पुरुषस्य, तथा न चैतन्यं धर्मो देहस्य देहधर्मो वा चेतनस्य। सुखदुःखमोहात्मकत्वादिरात्मनो न युक्तोऽविद्याकृतत्वाविशेषाज्जरामृत्युवत्।

नातुल्यत्वादिति चेत्, स्थाणुपुरुषौ ज्ञेयावेव सन्तौ ज्ञात्राऽन्योन्यस्मिन्नध्यस्तावविद्यया देहात्मनोस्तु ज्ञेयज्ञात्रोरेवेतरेतराध्यास इति, न समो दृष्टान्तोऽतो देहधर्मो ज्ञेयोऽपि ज्ञातुरात्मनो भवतीति चेत्। न, अचैतन्यादिप्रसङ्गात्। यदि हि ज्ञेयस्य देहादेः क्षेत्रस्य धर्माः सुखदुःखमोहेच्छादयो ज्ञातुर्भवन्ति, तर्हि ज्ञेयस्य क्षेत्रस्य धर्माः केचनाऽऽत्मनो भवन्त्यविद्याध्यारोपिता जरामरणादयस्तु न भवन्तीति विशेषहेतुर्वक्तव्यः। न भवन्तीत्यस्त्यनुमानमविद्याध्यारोपितत्वाज्जरादिवदिति हेयत्वादुपादेयत्वाच्चेत्यादि। तत्रैवं सति कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो ज्ञेयस्थो ज्ञातर्यविद्ययाऽध्यारोपित इति न तेन ज्ञातुः किंचिद्दुष्यति। यथा बालैरध्यारोपितेनाऽऽकाशस्य तलमलवत्त्वादिना। एवं च सति सर्वक्षेत्रेष्वपि सतो भगवतः क्षेत्रज्ञस्येश्वरस्य संसारित्वगन्धमात्रमपि नाऽऽशङ्क्यम्। न हि क्वचिदपि लोकेऽविद्याध्यस्तेन धर्मेण कस्यचिदुपकारोऽपकारो वा दृष्टः।

यत्तूक्तं न समो दृष्टान्त इति। तदसत्। कथम्; अविद्याध्यासमात्रं हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं विवक्षितम्। तन्न व्यभिचरति। यत्तु ज्ञातरि व्यभिचरतीति मन्यसे तस्याप्यनैकान्तिकत्वं दर्शितं जरादिभिः। 'अविद्यावत्त्वात्क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वमिति चेत्। न, अविद्यायास्तामसत्वात्। तामसो हि प्रत्यय आवरणात्मकत्वादविद्या विपरीतग्राहकः संशयोपस्थापको वाऽग्रहणात्मको वा। विवेकप्रकाशभावे तदभावात्। तामसे चाऽऽवरणात्मके तिमिरादिदोषे सत्यग्रहणादेरविद्यात्रयस्योपलब्धेः।

अत्राऽऽहैवं तर्हि ज्ञातृधर्मोऽविद्या। न, करणे चक्षुषि तैमिरिकत्वादिदोषोपलब्धेः। यत्तु मन्यसे ज्ञातृधर्मोऽविद्या तदेव चाविद्याधर्मवत्त्वं क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वम्। तत्र यदुक्तमीश्वर एव क्षेत्रज्ञो, न संसारीत्येतदयुक्तमिति। तन्न। यथा करणे चक्षुषि विपरीतग्राहकादिदोषस्य दर्शनान्न विपरीतादिग्रहणं तन्निमित्तो वा तैमिरिकत्वादिदोषो ग्रहीतुः। चक्षुषः संस्कारेण तिमिरेऽपनीते ग्रहीतुरदर्शनान्न ग्रहीतुर्धर्मो यथा तथा सर्वत्रैवाग्रहणविपरीतसंशयप्रत्ययास्तन्निमित्ताः करणस्यैव कस्यचिद्भवितुमर्हन्ति न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य। संवेद्यत्वाच्च तेषां प्रदीपप्रकाशवन्न ज्ञातृधर्मत्वम्। संवेद्यत्वादेव स्वात्मव्यतिरिक्तसंवेद्यत्वम्। सर्वकरणवियोगे च कैवल्ये सर्ववादिभिरविद्यादिदोषवत्त्वानभ्युपगमात्। आत्मनो यदि क्षेत्रज्ञस्याग्न्युष्णवत्स्वो धर्मस्ततो न कदाचिदपि तेन वियोगः स्यात्। अविक्रियस्य च व्योमवत्सर्वगतस्यामूर्तस्याऽऽत्मनः केनचित्संयोगवियोगानुपपत्तेः। सिद्धं क्षेत्रज्ञस्य नित्यमेवेश्वरत्वम्। 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' (गी. १३. ३१.) इत्यादीश्वरवचनाच्च।

नन्वेवं सति संसारसंसारित्वाभावे शास्त्रानर्थक्यादिदोषः स्यादिति। न। सर्वैरभ्युपगतत्वात्। सर्वैर्ह्यात्मवादिभिरभ्युपगतो

दोषो नैकेन परिहर्तव्यो भवति। कथमभ्युपगत इति मुक्तात्मनां संसारसंसारित्वव्यवहाराभावः सर्वैरेवाऽऽत्मवादिभिरिष्यते। न च तेषां शास्त्रानर्थक्यादिदोषप्राप्तिरभ्युपगता। तथा नः क्षेत्रज्ञानामीश्वरैकत्वे सति शास्त्रानर्थक्यं भवतु। अविद्याविषये चार्थवत्त्वम्। यथा द्वैतिनां सर्वेषां बन्धावस्थायामेव शास्त्राद्यर्थवत्त्वं न मुक्तावस्थायामेवम्।

नन्वात्मनो बन्धमुक्तावस्थे परमार्थत एव वस्तुभूते द्वैतिनां नः सर्वेषामतो हेयोपादेयतत्साधनसद्भावे शास्त्राद्यर्थवत्त्वं स्यादद्वैतिनां पुनर्द्वैतस्यापरमार्थत्वादविद्याकृतत्वाद्बन्धावस्थायाश्चाऽऽत्मनोऽपरमार्थत्वे निर्विषयत्वाच्छास्त्राद्यानर्थक्यमिति चेत्। न। आत्मनोऽवस्थाभेदानुपपत्तेः। यदि तावदात्मनो बन्धमुक्तावस्थे युगपत्स्यातां क्रमेण वा। युगपत्तावद्विरोधान्न संभवतः स्थितिगती इवैकस्मिन्। क्रमभावित्वे च निर्निमित्तत्वेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गोऽन्यनिमित्तत्वे च स्वतोऽभावादपरमार्थत्वप्रसङ्गः। तथा च सत्यभ्युपगमहानिः। किंच बन्धमुक्तावस्थयोः पौर्वापर्यनिरूपणायां बन्धावस्था पूर्वं प्रकल्प्याऽनादिमत्यन्तवती च, तच्च प्रमाणविरुद्धं, तथा मोक्षावस्थाऽऽदिमत्यनन्ता च प्रमाणविरुद्धैवाभ्युपगम्यते। न चावस्थावतोऽवस्थान्तरं गच्छतो नित्यत्वमुपपादयितुं शक्यम्। अथानित्यत्वदोषपरिहाराय बन्धमुक्तावस्थाभेदो न कल्प्यतेऽतो द्वैतिनामपि शास्त्रानर्थक्यादिदोषोऽपरिहार्य एवेति समानत्वान्नाद्वैतवादिना परिहर्तव्यो दोषः।

न च शास्त्रानर्थक्यं, यथाप्रसिद्धाविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छास्त्रस्य। अविदुषां हि फलहेत्वोरनात्मनोरात्मदर्शनम्, न विदुषां। विदुषां हि फलहेतुभ्यामात्मनोऽन्यत्वदर्शने सति तयोरहमित्या-

त्मदर्शनानुपपत्तेः। न ह्यत्यन्तमूढ उन्मत्तादिरपि जलाग्न्योश्छाया-प्रकाशयोर्वैकात्म्यं पश्यति, किमुत विवेकी। तस्मान्न विधिप्रतिषेध-शास्त्रं तावत्फलहेतुभ्यामात्मनोऽन्यत्वदर्शिनो भवति। न हि देवदत्त त्वमिदं कुर्विति कस्मिंश्चित्कर्मणि नियुक्ते विष्णुमित्रोऽहं नियुक्त इति तत्रस्थो नियोगं शृण्वन्नपि प्रतिपद्यते। नियोगविषय-विवेकाग्रहणात्तूपपद्यते प्रतिपत्तिस्तथा फलहेत्वोरपि।

ननु प्राकृतसंबन्धापेक्षया युक्तैव प्रतिपत्तिः शास्त्रार्थविषया फलहेतुभ्यामन्यात्मत्वदर्शनेऽपि सतीष्टफलहेतौ प्रवर्तितोऽस्म्य-निष्टफलहेतोश्च निवर्तितोऽस्मीति। यथा पितृपुत्रादीनामितरेत-रात्मान्यत्वदर्शने सत्यप्यन्योन्यनियोगप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिः। न, व्यतिरिक्तात्मदर्शनप्रतिपत्तेः प्रागेव फलहेत्वोरात्माभिमानस्य सिद्ध-त्वात्। प्रतिपन्ननियोगप्रतिषेधार्थो हि फलहेतुभ्यामात्मनोऽन्यत्वं प्रतिपद्यते न पूर्वं, तस्माद्विधिप्रतिषेधशास्त्रमविद्वद्विषयमिति सिद्धम्।

ननु 'स्वर्गकामो यजेत' (आप. श्रौ. सू. १०.२.१) 'कलञ्जं न भक्षयेत्' इत्यादावात्मव्यतिरेकदर्शिनामप्रवृत्तिः केवलदेहाद्यात्म-दृष्टीनां च। अतः कर्तुरभावाच्छास्त्रानर्थक्यमिति चेत्। न, यथा-प्रसिद्धित एव प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेः। ईश्वरक्षेत्रज्ञैकत्वदर्शी ब्रह्म-वित्तावन्न प्रवर्तते। तथा नैरात्म्यवाद्यपि नास्ति परलोक इति न प्रवर्तते। यथाप्रसिद्धितस्तु विधिप्रतिषेधशास्त्रश्रवणान्यथानुप-पत्त्याऽनुमितात्मास्तित्व आत्मविशेषानभिज्ञः कर्मफलसंजाततृष्णः श्रद्दधानतया च प्रवर्तत इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमतो न शास्त्रा-नर्थक्यम्।

विवेकिनामप्रवृत्तिदर्शनात्तदनुगामिनामप्रवृत्तौ शास्त्रान-र्थक्यमिति चेत्। न। कस्यचिदेव विवेकोपपत्तेः। अनेकेषु

हि प्राणिषु कश्चिदेव विवेकी स्याद्यथेदानीम्। न च विवेकिनमनुवर्तन्ते मूढा रागादिदोषतन्त्रत्वात्प्रवृत्तेः। अभिचरणादौ च प्रवृत्तिदर्शनात्। स्वाभाव्याच्च प्रवृत्तेः। 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (गी. ५.१४) इति ह्युक्तम्। तस्मादविद्यामात्रं संसारो यथादृष्टविषय एव। न क्षेत्रज्ञस्य केवलस्याविद्या तत्कार्यं च। न च मिथ्याज्ञानं परमार्थवस्तु दूषयितुं समर्थम्। नह्यूषरदेशं स्नेहेन पङ्कीकर्तुं शक्नोति मरीच्युदकं, तथाऽविद्या क्षेत्रज्ञस्य न किंचित्कर्तुं शक्नोति। अतश्चेदमुक्तं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानम्' (गी. ५.१५) इति च।

अथ किमिदं संसारिणामिवाहमेवं ममैवेदमिति पण्डितानामपि। शृणिवदं तत्पाण्डित्यं यत्क्षेत्र एवाऽऽत्मदर्शनम्। यदि पुनः क्षेत्रज्ञमविक्रियं पश्येयुस्ततो न भोगं कर्म वाऽऽकाङ्क्षेयुर्मम स्यादिति। विक्रियैव भोगकर्मणी। अथैवं सति फलार्थित्वादविद्वान्प्रवर्तते। विदुषः पुनरविक्रियात्मदर्शिनः फलार्थित्वाभावात्प्रवृत्त्यनुपपत्तौ कार्यकरणसंघातव्यापारोपरमे निवृत्तिरुपचर्यते। इदं चान्यत्पाण्डित्यं कस्यचिदस्तु क्षेत्रज्ञ ईश्वर एव क्षेत्रं चान्यत्क्षेत्रज्ञस्य विषयः। अहं तु संसारी सुखी दुःखी च। संसारोपरमश्च मम कर्तव्यः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानेन ध्यानेन चेश्वरं क्षेत्रज्ञं साक्षात्कृत्वा तत्स्वरूपावस्थानेनेति। यश्चैवं बुध्यते यश्च बोधयति नासौ क्षेत्रज्ञ इति। एवं मन्वानो यः स पण्डितापसदः संसारमोक्षयोः शास्त्रस्य चार्थवत्त्वं करोमीति। आत्महा स्वयं मूढोऽन्यांश्च व्यामोहयति शास्त्रार्थसंप्रदायरहितत्वाच्छ्रुतहानिमश्रुतकल्पनां च कुर्वन्। तस्मादसंप्रदायवित्सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः। यत्तूक्तमीश्वरस्य क्षेत्रज्ञैकत्वे संसारित्वं प्राप्नोति क्षेत्रज्ञानां चेश्वरैकत्वे सं-

सारिणोऽभावात्संसाराभावप्रसङ्ग इति। एतौ दोषौ प्रत्युक्तौ विद्याविद्ययोर्वैलक्षण्याभ्युपगमादिति। कथम्? अविद्यापरिकल्पितदोषेण तद्विषयं वस्तु पारमार्थिकं न दुष्यतीति। तथा च दृष्टान्तो दर्शितो मरीच्यम्भसोषरदेशो न पङ्कीक्रियते इति। संसारिणोऽभावात्संसाराभावप्रसङ्गदोषोऽपि संसारसंसारिणोरविद्याकल्पितत्वोपपत्त्या प्रत्युक्तः।

नन्वविद्यावत्त्वमेव क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वदोषस्तत्कृतं च दुःखित्वादि प्रत्यक्षमुपलभ्यते। न, ज्ञेयस्य क्षेत्रधर्मत्वाज्ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य तत्कृतदोषानुपपत्तेः। यावत्किंचित्क्षेत्रज्ञस्य दोषजातमविद्यमानमासञ्जयसि तस्य ज्ञेयत्वोपपत्तेः क्षेत्रधर्मत्वमेव, न क्षेत्रज्ञधर्मत्वम्। न च तेन क्षेत्रज्ञो दुष्यति, ज्ञेयेन ज्ञातुः संसर्गानुपपत्तेः। यदि हि संसर्गः स्याज्ज्ञेयत्वमेव नोपपद्येत। यद्यात्मनो धर्मोऽविद्यावत्त्वं दुःखित्वादि च, कथं भोः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। कथं वा क्षेत्रज्ञधर्मः। ज्ञेयं च सर्वं क्षेत्रं ज्ञातैव क्षेत्रज्ञ इत्यवधारितेऽविद्यादुःखित्वादेः क्षेत्रज्ञविशेषणत्वं क्षेत्रज्ञधर्मत्वं, तस्य च प्रत्यक्षोपलभ्यत्वमिति विरुद्धमुच्यतेऽविद्यामात्रावष्टम्भात्केवलम्।

अत्राऽऽह साऽविद्या कस्येति? यस्य दृश्यते तस्यैव। कस्य दृश्यत इति? अत्रोच्यतेऽविद्या कस्य दृश्यत इति प्रश्नो निरर्थकः। कथं? दृश्यते चेदविद्या तद्वन्तमपि पश्यसि। न च तद्वत्युपलभ्यमाने सा कस्येति प्रश्नो युक्तः। न हि गोमत्युपलभ्यमाने गावः कस्येति प्रश्नोऽर्थवान्भवेत्।

ननु विषमो दृष्टान्तो गवां तद्वतश्च प्रत्यक्षत्वात्संबन्धोऽपि प्रत्यक्ष इति प्रश्नो निरर्थको, न तथाऽविद्या तद्वांश्च प्रत्यक्षौ, यतः प्रश्नो निरर्थकः स्यात्? अप्रत्यक्षेणाविद्यावताऽ-

विद्यासंबन्धे ज्ञाते किं तव स्यात्। अविद्याया अनर्थहेतुत्वात्परिहर्तव्या स्यात्। यस्याविद्या स तां परिहरिष्यति। ननु ममैवाविद्या। जानासि तर्ह्यविद्यां तद्वन्तं चाऽऽत्मानम्। जानामि न तु प्रत्यक्षेण। अनुमानेन चेज्जानासि कथं संबन्धग्रहणम्। न हि तव ज्ञातुर्ज्ञेयभूतयाऽविद्यया तत्काले संबन्धो ग्रहीतुं शक्यते। अविद्याया विषयत्वेनैव ज्ञातुरुपयुक्तत्वात्। न च ज्ञातुरविद्यायाश्च संबन्धस्य यो ग्रहीता ज्ञानं चान्यत्तद्विषयं संभवत्यनवस्थाप्राप्तेः। यदि ज्ञाताऽपि ज्ञेयसंबन्धो ज्ञायेतान्यो ज्ञाता कल्प्यः स्यात्तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्थाऽपरिहार्या। यदि पुनरविद्या ज्ञेयाऽन्यद्वा ज्ञेयं ज्ञेयमेव तथा ज्ञाताऽपि ज्ञातैव न ज्ञेयं भवति। यदा चैवमविद्यादुःखित्वाद्यैर्न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य किंचिद्दुष्यति।

नन्वयमेव दोषो यद्दोषवत्क्षेत्रविज्ञातृत्वम्। न विज्ञानस्वरूपस्यैवाविक्रियस्य विज्ञातृत्वोपचारात्। यथोष्णतामात्रेणाग्नेस्तप्तिक्रियोपचारस्तद्वत्। यथाऽत्र भगवता क्रियाकारकफलात्मत्वाभाव आत्मनि स्वत एव दर्शितोऽविद्याध्यारोपितैरेव क्रियाकारकाद्यात्मन्युपचर्यते तथा तत्र तत्र 'य एनं वेत्ति हन्तारं' (गी. २.१९) 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (गी. ३. २७) 'नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्' (गी. ५.१५) इत्यादिप्रकरणेषु दर्शितस्तथैव च व्याख्यातमस्माभिः। उत्तरेषु च प्रकरणेषु दर्शयिष्यामः। हन्त तर्ह्यात्मनि क्रियाकारकफलात्मतायाः स्वतोऽभावेऽविद्यया चाध्यारोपितत्वे कर्माण्यविद्वत्कर्तव्यान्येव न विदुषामिति प्राप्तम्। सत्यमेवं प्राप्तम्। एतदेव च 'न हि देहभृता शक्यम्' (गी. १८.११) इत्यत्र

परामर्शः- ① व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् । ② गुरुवाक्यतात्पर्यनिर्णयको विचारः।
परामर्श - पूर्व का ज्ञान

दर्शयिष्यामः। सर्वशास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे च 'समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा' (गी. १८.५०) इत्यत्र विशेषतो दर्शयिष्यामः। अलमिह बहुप्रपञ्चेनेत्युपसंह्रियते ॥२॥

'इदं शरीरम्' (गी. १३.१) इत्यादिश्लोकोपदिष्टस्य क्षेत्राध्यायार्थस्य संग्रहश्लोकोऽयमुपन्यस्यते 'तत्क्षेत्रं यच्च' (गी. १३.३) इत्यादि, व्याचिख्यासितस्य ह्यर्थस्य संग्रहोपन्यासो न्याय्य इति—

प्रतिज्ञा

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

वह शरीररूप क्षेत्र, जो है, जिस धर्म वाला है, जिस विकार वाला है और उसके अन्तर्वर्ती पदार्थों में से जो जिससे उत्पन्न हुआ है एवं क्षेत्रज्ञ जो भी है, जिस प्रभाव वाला है; इन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के यथार्थ स्वरूप को मुझसे तू संक्षेप में सुन ॥३॥

यन्निर्दिष्टमिदं शरीरमिति **तत्तच्छब्देन** परामृशति। **यच्चेदं** निर्दिष्टं **क्षेत्रं** तद्**यादृग्**यादृशं स्वकीयैर्धर्मैः। **च**शब्दः समुच्चयार्थः। **यद्विकारि** यो विकारोऽस्य तद्यद्विकारि **यतो** यस्माच्च **यत्**कार्यमुत्पद्यत इति वाक्यशेषः। **स च यः** क्षेत्रज्ञो निर्दिष्टः स **यत्प्रभावो** ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य स यत्प्रभावश्च **तत्**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं यथाविशेषितं **समासेन** संक्षेपेण **मे** मम वाक्यतः **शृणु** श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः ॥३॥

तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं विवक्षितं स्तौति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थम्—

प्रमाणसूचक श्लोक

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

प्रभाव यदि चेतन में आवेगा तो चेतन विकारी हो जावेगा इसलिए उस चेतन में प्रभाव उपाधिकृत है उपाधि के कारण शक्ति रहती है

वसिष्ठादि ऋषियों ने अनेक प्रकार से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के याथात्म्य को बतलाया है, ऋगादि वेदों द्वारा अनेक प्रकार से उसका पृथक्-पृथक् ज्ञान किया गया है, ब्रह्म के सूचक सुनिश्चित, युक्तियुक्त उपनिषद् वाक्यों द्वारा तथा बाह्य सूत्रों द्वारा जिसे बतलाया गया है (उसे आगे के ग्रन्थ से कहेंगे) ॥४॥

ऋषिभिर्वसिष्ठादिभि**र्बहुधा** बहुप्रकारं **गीतं** कथितं **छन्दोभि**श्छन्दांसि ऋगादीनि तैश्छन्दोभि**र्विविधै**र्नानाप्रकारैः **पृथग्**विवेकतो गीतम्। किंच **ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव** ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि, तैः पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्मेति तानि पदान्युच्यन्ते। तैरेव च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं गीतमित्यनुवर्तते। "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ. १.४.७) इत्यादिभिर्हि ब्रह्मसूत्रपदैरात्मा ज्ञायते। **हेतुमद्भि**र्युक्तियुक्तै**र्विनिश्चितै**र्न संशयरूपैर्निश्चितप्रत्ययोत्पादकैरित्यर्थः ॥४॥

स्तुत्याऽभिमुखीभूतायार्जुनायाऽऽह—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

सूक्ष्म महाभूत, उनका कारण अहंकार, उसका कारण बुद्धि, और उसका कारण ईश्वर की शक्ति अव्याकृत, दश इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय स्थूलभूत (इन चौबीस तत्त्वों को सांख्यों ने भी कहा है, बस यही क्षेत्र का स्वरूप है) ॥५॥

महाभूतानि महान्ति च तानि सर्वविकारव्यापकत्वाद्भूतानि च सूक्ष्माणि। स्थूलानि त्विन्द्रियगोचरशब्देनाभिधायिष्यन्ते। **अहंकारो** महाभूतकारणमहंप्रत्ययलक्षणः। अहंकारकारणं **बुद्धिर**ध्यवसायलक्षणा। तत्कारण**मव्यक्तमेव च** न व्यक्तमव्यक्तमव्याकृतमीश्वरशक्तिः 'मम माया

दुरत्यया' (गी. ७.१४) इत्युक्तम्। एवशब्दः प्रकृत्यवधारणार्थः। एतावत्येवाष्टधा भिन्ना प्रकृतिः। चशब्दो भेदसमुच्चयार्थः। **इन्द्रियाणि दश** श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्ध्युत्पादकत्वाद्-बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि पञ्च कर्मनिर्वर्तकत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तानि दश। **एकं च** किं तन्मन एकादशं संकल्पाद्यात्मकम्। **पञ्च चेन्द्रियगोचराः** शब्दादयो विषयाः तान्येतानि सांख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥५॥

अथेदानीमात्मगुणा इति यानाचक्षते वैशेषिकास्तेऽपि क्षेत्रधर्मा एव, न तु क्षेत्रज्ञस्येत्याह भगवान्—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख, देह–इन्द्रियों का संघात, अन्तःकरण की वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब और देह–इन्द्रियों को धारण करने वाली धृति; ये सब ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र ही हैं। इस प्रकार संक्षेपतः विकारों के सहित क्षेत्र का वर्णन हो गया ॥६॥

इच्छा यज्जातीयं सुखहेतुमर्थमुपलब्धवान्पूर्वं पुनस्तज्जातीयमुपलभमानस्तमादातुमिच्छति सुखहेतुरिति सेयमिच्छाऽन्तःकरणधर्मो ज्ञेयत्वात्क्षेत्रम्। तथा **द्वेषो** यज्जातीयमर्थं दुःखहेतुत्वेनानुभूतवान्पुनस्तज्जातीयमुपलभमानस्तं द्वेष्टि सोऽयं द्वेषो ज्ञेयत्वात्क्षेत्रमेव। तथा **सुखम**नुकूलं प्रसन्नं सत्त्वात्मकं ज्ञेयत्वात्क्षेत्रमेव। **दुःखं** प्रतिकूलात्मकं ज्ञेयत्वात्तदपि क्षेत्रम्। **संघातो** देहेन्द्रियाणां संहतिः। तस्यामभिव्यक्ताऽन्तःकरणवृत्तिस्तप्त इव लोहपिण्डेऽग्निरात्मचैतन्याभासरसविद्धा **चेतना** सा च क्षेत्रं ज्ञेयत्वात्। **धृति**र्ययाऽवसादप्राप्तानि देहेन्द्रियाणि ध्रियन्ते सा च ज्ञेयत्वात्क्षेत्रम्। सर्वान्तःकरणधर्मोपलक्षणार्थ-

मिच्छादिग्रहणं यत उक्तं तदुपसंहरति—**एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारं** सह विकारेण महदादिनोदाहृतमुक्तम्। यस्य क्षेत्रभेदजातस्य संहतिः 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' (गी. १३.१) इत्युक्तं तत्क्षेत्रं व्याख्यातं महाभूतादिभेदभिन्नं धृत्यन्तम्॥६॥

क्षेत्रज्ञो वक्ष्यमाणविशेषणो यस्य सप्रभावस्य क्षेत्रज्ञस्य परिज्ञानादमृतत्वं भवति, तं 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' (गी. १३.१२) इत्यादिना सविशेषणं स्वयमेव वक्ष्यति भगवानधुना तु तज्ज्ञानसाधनगणममानित्वादिलक्षणं यस्मिन्सति तज्ज्ञेयविज्ञाने योग्योऽधिकृतो भवति, यत्परः संन्यासी ज्ञाननिष्ठ उच्यते, तममानित्वादिगणं ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानशब्दवाच्यं विदधाति भगवान्—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥७॥

मान, दम्भ और हिंसा का अभाव, क्षमा, सरलता, मोक्षोपदेशक आचार्य की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, मोक्षमार्ग में स्थिरता और कार्यकरण संघात रूप आत्मा का विशेष रूप से निग्रह (ऐसे ज्ञान के साधन इस श्लोक में बतलाये गये)॥७॥

अमानित्वं मानिनो भावो मानित्वमात्मनः श्लाघनं तदभावोऽमानित्वम्। **अदम्भित्वं** स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं तदभावोऽदम्भित्वम्। **अहिंसा**ऽहिंसनं प्राणिनामपीडनम्। **क्षान्तिः** परापराधप्राप्तावविक्रिया। **आर्जवम्**ऋजुभावोऽवक्रत्वम्। **आचार्योपासनं** मोक्षसाधनोपदेष्टुराचार्यस्य शुश्रूषादिप्रयोगेण सेवनम्। **शौचं** कायमलानां मृज्जलाभ्यां प्रक्षालनमन्तश्च मनसः प्रतिपक्षभावनया रागादिमलानामपनयनं शौचम्। **स्थैर्यं** स्थिर-

भावो मोक्षमार्ग एव कृताध्यवसायत्वम्। **आत्मविनिग्रह** आत्मन उपकारकस्याऽऽत्मशब्दवाच्यस्य कार्यकरणसंघातस्य विनिग्रहः स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य सन्मार्ग एव निरोध आत्मविनिग्रहः ॥७॥

किंच—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

इन्द्रियों के विषय जो दृष्टादृष्ट शब्दादि भोग के साधन हैं उनमें वैराग्य का हो जाना, अहंकार का अभाव हो जाना, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि और दुःख में दोष का दर्शन (ज्ञान के साधन हैं इसलिए उन्हें ज्ञान कहा गया है)॥८॥

इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु विरागभावो **वैरागयम्**। **अनहंकारो**ऽहंकाराभाव **एव च**। **जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं** जन्म च मृत्युश्च जरा च व्याधयश्च दुःखानि च तेषु जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनं, जन्मनि गर्भवासयोनिद्वारा निःसरणं दोषस्तस्यानुदर्शनमालोचनं, तथा मृत्यौ दोषानुदर्शनं, तथा जरायां प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधदोषानुदर्शनं परिभूतता चेति। तथा व्याधिषु शिरोरोगादिषु दोषानुदर्शनं, तथा दुःखेष्वध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तेषु। अथवा दुःखान्येव दोषो दुःखदोषस्तस्य जन्मादिषु पूर्ववदनुदर्शनम्। दुःखं जन्मदुःखं मृत्युर्दुःखं जरादुःखं व्याधयः। दुःखनिमित्तत्वाज्जन्मादयो दुःखं न पुनः स्वरूपेणैव दुःखमिति। एवं जन्मादिषु दुःखदोषानुदर्शनाद्देहेन्द्रियविषयभोगेषु वैराग्यमुपजायते। ततः प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिः करणानामात्मदर्शनाय। एवं ज्ञानहेतुत्वाज्ज्ञानमुच्यते जन्मादिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

किंच—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

पुत्र, पत्नी, गृह, मित्रादि में आसक्ति और ममता का न रहना, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सदा समचित्त रहना भी ज्ञान का साधन है ॥९॥

असक्तिः सक्तिः सङ्गनिमित्तेषु विषयेषु प्रीतिमात्रं तदभावोऽसक्तिः। **अनभिष्वङ्गोऽ**भिष्वङ्गाभावोऽभिष्वङ्गो नाम सक्तिविशेष एवानन्यात्मभावनालक्षणः। यथाऽन्यस्मिन्सुखिनि दुःखिनि वाऽहमेव सुखी दुःखी च जीवति मृते वाऽहमेव जीवामि मरिष्यामि चेति। क्वेत्याह **पुत्रदारगृहादिषु**। पुत्रेषु दारेषु गृहेष्वादिग्रहणादन्येष्वप्यत्यन्तेष्टेषु दासवर्गादिषु। तच्चोभयं ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञानमुच्यते। **नित्यं च समचित्तत्वं** तुल्यचित्तता, क्व, **इष्टानिष्टोपपत्तिषु**, इष्टानामनिष्टानां चोपपत्तयः संप्राप्तयस्तास्विष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यमेव तुल्यचित्तता, इष्टोपपत्तिषु न हृष्यति, न कुप्यति चानिष्टोपपत्तिषु। तच्चैतन्नित्यं समचित्तत्वं ज्ञानम् ॥९॥

किंच—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मुझ परमेश्वर में अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति का होना, विविक्त देश सेवन का स्वभाव होना और संस्कारशून्य, अविनीत, प्राकृत पुरुषों की संसद में प्रेम का न होन भी ज्ञान का साधन है ॥१०॥

मयि चेश्वरेऽनन्ययोगेनापृथक्समाधिना नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्त्यतः स एव नो गतिरित्येवं

निश्चिताऽव्यभिचारिणी बुद्धिरनन्ययोगस्तेन भजनं **भक्तिर्न** व्यभिचरणशीलाऽ**व्यभिचारिणी** सा च ज्ञानम्। **विविक्तदेशसेवित्वं** विविक्तः स्वभावतः संस्कारेण वाऽशुच्यादिभिः सर्पव्याघ्रादिभिश्च रहितोऽरण्यनदीपुलिनदेवगृहादिभिर्विविक्तो देशस्तं सेवितुं शीलमस्येति विविक्तदेशसेवी तद्भावो विविक्तदेशसेवित्वम्। विविक्तेषु हि देशेषु चित्तं प्रसीदति यतस्तत आत्मादिभावना विविक्त उपजायतेऽतो विविक्तदेशसेवित्वं ज्ञानमुच्यते। **अरतिररमणं जनसंसदि** जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानामविनीतानां संसत्समवायो जनसंसन्न-संस्कारवतां विनीतानां संसत्तस्या ज्ञानोपकारकत्वादतः प्राकृतजनसंसद्यरतिर्ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञानम्॥१०॥

किंच—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञान के फलस्वरूप संसार से उपरामतारूप मोक्ष की आलोचना करना, ये सब ज्ञान कहे गये हैं और इनसे जो विपरीत है वे अज्ञान के पोषक एवं संवर्धक होने के कारण अज्ञान कहें गये हैं॥११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वमात्मादिविषयं ज्ञानमध्यात्मज्ञानं तस्मिन्नित्यभावो नित्यत्वममानित्वादीनां ज्ञानसाधनानां भावनापरिपाकनिमित्तं तत्त्वज्ञानं तस्यार्थो मोक्षः संसारोपरमस्तस्याऽऽलोचनं **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**। तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधनानुष्ठाने प्रवृत्तिः स्यादिति। **एतदमा**नित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तमुक्तं **ज्ञानमिति प्रोक्तं** ज्ञाना-

र्थत्वात्। **अज्ञानं यदतो**ऽस्माद्यथोक्ताद**न्यथा** विपर्ययेण मानित्वं दम्भित्वं हिंसाऽक्षान्तिरनार्जवमित्याद्यज्ञानं विज्ञेयं परिहरणाय संसारप्रवृत्तिकारणत्वादिति॥११॥

यथोक्तेन ज्ञानेन ज्ञातव्यं किमित्याकाङ्क्षायामाह—'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादि। ननु यमा नियमाश्चामानित्वादयो न तैर्ज्ञेयं ज्ञायते। न ह्यमानित्वादि कस्यचिद्वस्तुनः परिच्छेदकं दृष्टम्। सर्वत्रैव च यद्विषयं ज्ञानं तदेव तस्य ज्ञेयस्य परिच्छेदकं दृश्यते। न ह्यन्यविषयेण ज्ञानेनान्यदुपलभ्यते। यथा घटविषयेण ज्ञानेनाग्निः। नैष दोषो, ज्ञाननिमित्तत्वाज्ज्ञानमुच्यत इति ह्यवोचाम। ज्ञानसहकारिकारणत्वाच्च—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥१२॥

जो ज्ञेय वस्तु है उसे मैं अच्छी प्रकार बतलाऊँगा जिसे जानकर साधक अमरत्व प्राप्त कर लेता है, वह अनादिमत्पदार्थ परब्रह्म है, जिसे न सत् और न असत् शब्द से कहा जा सकता है॥१२॥

ज्ञेयं ज्ञातव्यं **यत्तत्प्रवक्ष्यामि** प्रकर्षेण यथावद्वक्ष्यामि। किं फलं तदिति प्ररोचनेन श्रोतुरभिमुखीकरणायाऽऽह—**यज्ज्ञेयं ज्ञात्वाऽमृतम**मृतत्व**मश्नुते** न पुनर्म्रियत इत्यर्थः। **अनादिमदा**दिरस्यास्तीत्यादिमन्नाऽऽदिमदनादिमत्। किं तत्**परं** निरतिशयं **ब्रह्म** ज्ञेयमिति प्रकृतम्।

अत्र केचिदनादि मत्परमिति पदं छिन्दन्ति बहुव्रीहिणोक्तेऽर्थे मतुप आनर्थक्यमनिष्टं स्यादिति। अर्थविशेषं च दर्शयन्ति—'अहं वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्य तन्मत्परमिति।

सत्यमेवमपुनरुक्तं स्यादर्थश्चेत्संभवति न त्वर्थः संभवति, ब्रह्मणः सर्वविशेषप्रतिषेधेनैव विजिज्ञापयिषितत्वान्न सत्तन्नासदुच्यत इति। विशिष्टशक्तिमत्त्वप्रदर्शनं विशेषप्रतिषेधश्चेति विप्रतिषिद्धम्। तस्मान्मतुपो बहुव्रीहिणा समानार्थत्वेऽपि प्रयोगः श्लोकपूरणार्थः। अमृतत्वफलं ज्ञेयं मयोच्यत इति प्ररोचनेनाभिमुखीकृत्याऽऽह न सत्तज्ज्ञेयमुच्यत इति नाप्यसत्तदुच्यते।

ननु महता परिकरबन्धेन कण्ठरवेणोद्घुष्य ज्ञेयं प्रवक्ष्यामीत्यननुरूपमुक्तं न सत्तन्नासदुच्यत इति। न, अनुरूपमेवोक्तम्। कथं सर्वासु ह्युपनिषत्सु ज्ञेयं ब्रह्म "नेति नेति" (बृ. २.३.६) अस्थूलमनणु (बृ. ३.८.८) इत्यादिविशेषप्रतिषेधेनैव निर्दिश्यते नेदं तदिति, वाचोऽगोचरत्वात्। ननु न तदस्ति यद्वस्त्वस्तिशब्देन नोच्यते। अथास्तिशब्देन नोच्यते नास्ति तज्ज्ञेयम्। विप्रतिषिद्धं च ज्ञेयं तदस्तिशब्देन नोच्यत इति च। न तावन्नास्ति, नास्तिबुद्ध्यविषयत्वात्।

ननु सर्वा बुद्धयोऽस्तिनास्तिबुद्ध्यनुगता एव। तत्रैवं सति ज्ञेयमप्यस्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यान्नास्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात्। न, अतीन्द्रियत्वेनोभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययाविषयत्वात्। यद्धीन्द्रियगम्यं वस्तु घटादिकं तदस्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यान्नास्तिबुद्ध्यनुगतविषयं वा स्यात्। इदं तु ज्ञेयमतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वान्न घटादिवदुभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयमित्यतो न सत्तन्नासदित्युच्यते।

यत्तूक्तं विरुद्धमुच्यते ज्ञेयं तन्न सत्तन्नासदुच्यत इति। न विरुद्धम्। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केन. १.३) इति श्रुतेः। श्रुतिरपि विरुद्धार्थेति चेद्यथा यज्ञाय शालामारभ्य 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा

न वा' (तै. सं. ६.१.१) इतीत्येवमिति चेत्। न, विदिताविदिताभ्यामन्यत्वश्रुतेरवश्यविज्ञेयार्थप्रतिपादनपरत्वात्। "यद्यमुष्मिन्नित्यादि" तु विधिशेषोऽर्थवादः। उपपत्तेश्च सदसदादिशब्दैर्ब्रह्म नोच्यत इति। सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणश्च श्रोतृभिर्जातिक्रियागुणसंबन्धद्वारेण संकेतग्रहणं प्रति सव्यपेक्षोऽर्थं प्रत्याययति, नान्यथा, अदृष्टत्वात्। तद्यथा गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी गोमानिति वा संबन्धतः, न तु ब्रह्म जातिमदतो न सदादिशब्दवाच्यं नापि गुणवद्येन गुणशब्देनोच्यते निर्गुणत्वान्नापि क्रियाशब्दवाच्यं निष्क्रियत्वात् "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वे. ६.१९) इति श्रुतेः। न च संबन्ध्येकत्वादद्वयत्वादविषयत्वादात्मत्वाच्च न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तं 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै. २.४) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च॥१२॥

सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वादसत्त्वाशङ्कायां ज्ञेयस्य सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण तदस्तित्वं प्रतिपादयंस्तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३॥

वह ज्ञेय ब्रह्म सभी ओर हाथ-पैर वाला है, सभी ओर आँख, शिर एवं मुख वाला और सभी ओर श्रोत्र वाला है। इतना ही नहीं, लोक में सबको ढककर स्थित है अर्थात् लोक में सभी वस्तुओं को आवृतकर स्थित है॥१३॥

सर्वतः पाणिपादं सर्वतः पाणयः पादाश्चास्येति सर्वतः पाणिपादं **तज्ज्ञेयम्**। सर्वप्राणिकरणोपाधिभिः क्षेत्रज्ञास्तित्वं विभाव्यते। क्षेत्रज्ञश्च क्षेत्रोपाधित उच्यते। क्षेत्रं च पाणिपादादिभिरनेकधा भिन्नम्। क्षेत्रोपाधिभेदकृतं विशेषजातं मिथ्यैव क्षेत्रज्ञस्येति

तदपनयनेन ज्ञेयत्वमुक्तं 'न सत्तन्नासदुच्यते' (गी. १३.१२) इति। उपाधिकृतं मिथ्यारूपमप्यस्तित्वाधिगमाय ज्ञेयधर्मवत्परिकल्प्योच्यते सर्वतः पाणिपादमित्यादि। तथा हि संप्रदायविदां वचनम्—'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति। सर्वत्र सर्वदेहावयवत्वेन गम्यमानाः पाणिपादादयो ज्ञेयशक्तिसद्भावनिमित्तस्वकार्या इति ज्ञेयसद्भावे लिङ्गानि ज्ञेयस्येत्युपचारत उच्यन्ते। तथा व्याख्येयमन्यत्सर्वतः पाणिपादं तज्ज्ञेयम्। **सर्वतोक्षिशिरोमुखं** सर्वत्राक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्। **सर्वतःश्रुतिमत्** श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तद्यस्य तच्छ्रुतिमत् **लोके** प्राणिनिकाये **सर्वमावृत्य** संव्याप्य **तिष्ठति** स्थितिं लभते॥१३॥

उपाधिभूतपाणिपादादीन्द्रियाध्यारोपणाज्ज्ञेयस्य तद्वत्ताशङ्का मा भूदित्येवमर्थः श्लोकारम्भः—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

बाह्य-आभ्यन्तर सभी इन्द्रियों से रहित वह ज्ञेय तत्त्व है फिर भी सभी इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक है, वह अनासक्त होता हुआ भी सबका भरण-पोषण करने वाला है और निर्गुण होता हुआ भी सत्त्व-रज-तमरूप गुणों का भोक्ता भी है॥१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाख्यान्यन्तःकरणे च बुद्धिमनसी ज्ञेयोपाधित्वस्य तुल्यत्वात्सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते। अपि चान्तःकरणोपाधिद्वारेणैव श्रोत्रादीनामप्युपाधित्वमित्यतोऽन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतैः सर्वेन्द्रियगुणैरध्यवसाय-

संकल्पश्रवणवचनादिभिरवभासत इति सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयमित्यर्थः। "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ. ४.३.७) इति श्रुतेः। कस्मात्पुनः कारणान्न व्यापृतमेवेति गृह्यत इत्यत आह **सर्वेन्द्रियविवर्जितं** सर्वकरणरहितमित्यर्थः। अतो न करणव्यापारैर्व्यापृतं तज्ज्ञेयम्। यस्त्वयं मन्त्रः—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे. ३.१९) इत्यादिः स सर्वेन्द्रियोपाधि-गुणानुगुण्यजनशक्तिमत्तज्ज्ञेयमित्येवंप्रदर्शनार्थो न तु साक्षादेव जवनादिक्रियावत्त्वप्रदर्शनार्थः। "अन्धो मणिमविन्दत्" (तै. आ. १.११) इत्यादिमन्त्रार्थवत्तस्य मन्त्रस्यार्थः। यस्मात्सर्व-करणवर्जितं ज्ञेयं तस्मा**दसक्तं** सर्वसंश्लेषवर्जितम्। यद्यप्येवं तथाऽपि **सर्वभृच्चैव**। सदास्पदं हि सर्वं सर्वत्र सद्बुद्ध्य-नुगमात्। न हि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति। अतः सर्वभृत्सर्वं बिभर्तीति। स्यादिदं चान्यज्ज्ञेयस्य सत्त्वाधि-गमद्वारं **निर्गुणं** सत्त्वरजस्तमांसि गुणास्तैर्वर्जित तज्ज्ञेयं तथाऽपि **गुणभोक्तृ** च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दा-दिद्वारेण सुखदुःखमोहाकारपरिणतानां भोक्तृ चोपलब्धृ तज्ज्ञेय-मित्यर्थः ॥१४॥

किंच—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह सभी भूतों के बाहर एवं भीतर है, मध्य में चर और अचर रूप भी वही है किन्तु सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है, वह भी अज्ञानियों के लिए। अज्ञानियों के लिए अविज्ञेय होने

के कारण दूरस्थ है, पर आत्मा होने के कारण ज्ञानियों की दृष्टि में अत्यन्त निकट है॥१५॥

बहिस्त्वक्पर्यन्तं देहमात्मत्वेनाविद्याकल्पितमपेक्ष्य तमेवावधिं कृत्वा बहिरुच्यते। तथा प्रत्यगात्मानमपेक्ष्य देहमेवावधिं कृत्वाऽ**न्तरुच्यते**। बहिरन्तश्चेत्युक्ते मध्येऽभावे प्राप्त इदमुच्यतेऽ**चरं चरमेव च** यच्चराचरं देहाभासमपि तदेव ज्ञेयं, यथा रज्जुसर्पाभासः। यद्यचरं चरमेव च व्यवहारविषयं सर्वं ज्ञेयं किमर्थमिदमिति सर्वैर्न विज्ञेयमिति उच्यते — सत्यं; सर्वाभासं तत्तथाऽपि व्योमवत्सूक्ष्ममतः **सूक्ष्मत्वात्**स्वेन रूपेण **तज्ज्ञेय**म्**अविज्ञेयम**विदुषाम्। विदुषां तु 'आत्मैवेदं सर्वं' (छा. ७. २५.२) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (बृ. २.५.२) इत्यादिप्रमाणतो नित्यं विज्ञातमविज्ञाततया **दूरस्थं** वर्षसहस्रकोट्याऽप्यविदुषामप्राप्यत्वाद**न्तिके च तद्**आत्मत्वाद्विदुषाम्॥१५॥

किंच—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१६॥

वह सभी भूतों में अविभक्त है फिर भी विभक्त जैसा स्थित भासता है। वह ज्ञेय ब्रह्म भूतों का भर्ता, उत्पादयिता और संहर्ता भी है॥१६॥

अविभक्तं च प्रतिदेहं व्योमवत्तदेकं **भूतेषु** सर्वप्राणिषु **विभक्तमिव च स्थितं** देहेष्वेव विभाव्यमानत्वाद्**भूतभर्तृ च** भूतानि बिभर्तीति **तज्ज्ञेयं** च स्थितिकाले। प्रलयकाले **ग्रसिष्णु** ग्रसनशीलम्। उत्पत्तिकाले **प्रभविष्णु च** प्रभवनशीलं यथा रज्ज्वादिः सर्पादेर्मिथ्याकल्पितस्य॥१६॥

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्, तद् दृश्यं दृक्तु मानसम्। दृश्या धीवृत्तयः साक्षी, दृगेव न तु दृश्यते॥
(दृग्दृश्य विवेक - श्लोक १.)

किंच सर्वत्र विद्यमानं सन्नोपलभ्यते चेज्ज्ञेयं तमस्तर्हि। न, किं तर्हि—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१७॥

वह आदित्यादि ज्योतियों की भी ज्योति है, अज्ञानरूप तम से उसका वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य भी है। इस रूप से सबके हृदय में विशेषेण स्थित है॥१७॥

ज्योतिषामादित्यादीनामपि तज्ज्ञेयं **ज्योतिः**। आत्मचैतन्यज्योतिषेद्धानि ह्यादित्यादीनि ज्योतींषि दीप्यन्ते "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (तै. ब्रा. ३.१२.९) "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मु. २.२.१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्मृतेश्चेहैव 'यदादित्यगतं तेजः' (गी. १५. १२) इत्यादेः। **तमसोऽज्ञानात्परमस्पृष्टमुच्यते**। ज्ञानादेर्दुःसंपादनबुद्ध्या प्राप्तावसादस्योत्तम्भनार्थमाह **ज्ञानममानित्वादि**। **ज्ञेयं** 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' (गी. १३. १२) इत्यादिनोक्तम्। **ज्ञानगम्यं** ज्ञेयमेव ज्ञातं सज्ज्ञानफलमिति ज्ञानगम्यमुच्यते। ज्ञायमानं तु ज्ञेयम्। तदेतत्त्रयमपि **हृदि** बुद्धौ **सर्वस्य** प्राणिजातस्य **विष्ठितं** विशेषेण स्थितम्। तत्रैव हि त्रयं विभाव्यते॥१७॥

यथोक्तार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोक आरभ्यते—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान एवं ज्ञेय वस्तु को समास रूप में कह दिया गया। मेरा भक्त इसे विशेष रूप से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है॥१८॥

इत्येवं क्षेत्रं महाभूतादि धृत्यन्तं, **तथा ज्ञानम**-मानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्तं, **ज्ञेयं च** 'ज्ञेयं यत्तत्' (गी. १३.१२) इत्यादि 'तमसः परमुच्यते' (गी. १३.१७) इत्येवमन्त**मुक्तं, समासतः** संक्षेपतः एतावान्सर्वो हि वेदार्थो गीतार्थश्चोपसंहृत्योक्तः। अस्मिन्सम्यग्दर्शने कोऽधिक्रियत इत्युच्यते **मद्भक्तो** मयीश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ वासुदेवे समर्पितसर्वात्मभावो यत्पश्यति शृणोति स्पृशति वा सर्वमेव भगवान्वासुदेव इत्येवंग्रहाविष्टबुद्धिर्मद्भक्तः स **एतद्यथोक्तं** सम्यग्दर्शनं **विज्ञाय मद्भावाय** मम भावो मद्भावः परमात्मभावस्तस्मै मद्भावायो**पपद्यते** मोक्षं गच्छति॥१८॥

तत्र सप्तम ईश्वरस्य द्वे प्रकृती उपन्यस्ते परापरे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञलक्षणे। 'एतद्योनीनि भूतानि' (गी. ७.६) इति चोक्तम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वययोनित्वं कथं भूतानामित्ययमर्थोऽधुनोच्यते—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाँश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि समझो एवं बुद्ध्यादि विकारों तथा सुख-दुःखादि गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जानो॥१९॥

प्रकृतिं पुरुषं चैवेश्वरस्य प्रकृती तौ प्रकृतिपुरुषा**वुभावप्यनादी विद्धि**। न विद्यत आदिर्ययोस्तावनादी। नित्यत्वादीश्वरस्य तत्प्रकृत्योरपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्त्वमेव हीश्वरस्येश्वरत्वम्। याभ्यां प्रकृतिभ्यामीश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुस्ते द्वे अनादी सत्यौ संसारस्य कारणम्। नाऽऽदी अनादी इति तत्पुरुषसमासं केचिद्वर्णयन्ति।

तेन हि किलेश्वरस्य कारणत्वं सिध्यति। यदि पुनः प्रकृतिपुरुषावेव नित्यौ स्यातां तत्कृतमेव जगन्नेश्वरस्य जगतः कर्तृत्वम्। तदसत्, प्राक्प्रकृतिपुरुषयोरुत्पत्तेरीशितव्याभावादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। संसारस्य निर्निमित्तत्वेऽनिर्मोक्षत्वप्रसङ्गाच्छास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गाद्बन्धमोक्षाभावप्रसङ्गाच्च। नित्यत्वे पुनरीश्वरस्य प्रकृत्योः सर्वमेतदुपपन्नं भवेत्। कथं, **विकारांश्च गुणांश्चैव** वक्ष्यमाणान्विकारान्बुद्ध्यादिदेहेन्द्रियान्तान्गुणांश्च सुखदुःखमोहप्रत्ययाकारपरिणतान्**विद्धि** जानीहि **प्रकृतिसंभवान्**प्रकृतिरीश्वरस्य विकारकारणशक्तिस्त्रिगुणात्मिका माया सा संभवो येषां विकाराणां गुणानां च तान्विकारान्गुणांश्च विद्धि प्रकृतिसंभवान्प्रकृतिपरिणामान्॥१९॥

के पुनस्ते विकारा गुणाश्च प्रकृतिसंभवाः—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२०॥

(स्थूल शरीर कार्य है और स्थूल शरीरस्थ सूक्ष्मशरीरान्तर्गत मन, बुद्धि, अहंकार एवं दस इन्द्रियाँ ये करण है) प्रकृति, कार्य एवं करण के कर्तृत्व (उत्पत्ति) में कारण कही जाती है और पुरुष सुख-दुःख के भोक्तृत्व में कारण कहा जाता है॥२०॥

कार्यकरणकर्तृत्वे कार्यं शरीरं करणानि तत्स्थानि त्रयोदश। देहस्याऽऽरम्भकाणि भूतानि विषयाश्च प्रकृतिसंभवा विकाराः पूर्वोक्ता इह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते गुणाश्च प्रकृतिसंभवाः सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात्करणग्रहणेन गृह्यन्ते। कार्यकरणानां कर्तृत्वमुत्पादकत्वं यत्तत्कार्यकरणकर्तृत्वं

तस्मिन्कार्यकरणकर्तृत्वे **हेतुः** कारणमारम्भकत्वेन **प्रकृतिरुच्यते**। एवं कार्यकरणकर्तृत्वेन संसारस्य कारणं प्रकृतिः।

कार्यकारणकर्तृत्व इत्यस्मिन्नपि पाठे कार्यं यद्यस्य विपरिणामस्तत्तस्य कार्यं विकारो विकारि कारणं तयोर्विकारविकारिणोः कार्यकारणयोः कर्तृत्व इति। अथवा षोडशविकाराः कार्यं सप्त प्रकृतिविकृतयः कारणं तान्येव कार्यकारणान्युच्यन्ते। तेषां कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यत आरम्भकत्वेनैव। पुरुषश्च संसारस्य कारणं यथा स्यात्तदुच्यते **पुरुषो** जीवः क्षेत्रज्ञो भोक्तेतिपर्यायः **सुखदुःखानां** भोग्यानां **भोक्तृत्व** उपलब्धृत्वे **हेतुरुच्यते**। कथं पुनरनेन कार्यकरणकर्तृत्वेन सुखदुःखानां भोग्यानां सुखदुःखभोक्तृत्वेन च प्रकृतिपुरुषयोः संसारकारणत्वमुच्यत इति। अत्रोच्यते। कार्यकरणसुखदुःखरूपेण हेतुफलात्मना प्रकृतेः परिणामाभावे पुरुषस्य चेतनस्यासति तदुपलब्धृत्वे कुतः संसारः स्यात्। यदा पुनः कार्यकरणरूपेण हेतुफलात्मना परिणतया प्रकृत्या भोग्यया पुरुषस्य तद्विपरीतस्य भोक्तृत्वेनाविद्यारूपः संयोगः स्यात्तदा संसारः स्यादिति। अतो यत्प्रकृतिपुरुषयोः कार्यकरणकर्तृत्वेन सुखदुःखभोक्तृत्वेन च संसारकारणत्वमुक्तं तद्युक्तम्। कः पुनरयं संसारो नाम, सुखदुःखसंभोगः संसारः पुरुषस्य च सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वमिति ॥२०॥

यत्पुरुषस्य सुखदुःखानां भोक्तृत्वं संसारित्वमित्युक्तं तस्य तत्किंनिमित्तमित्युच्यते—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न सुख-दुःखादि गुणों को भोगता है और इस पुरुष के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म का कारण है-गुणों का सङ्ग (आसक्ति) ॥२१॥

पुरुषो भोक्ता **प्रकृतिस्थः** प्रकृतावविद्यालक्षणायां कार्यकारणरूपेण परिणतायां स्थितः प्रकृतिस्थः प्रकृतिमात्मत्वेन गत इत्येतद्धि यस्मात्तस्माद्भुङ्क्ते उपलभत इत्यर्थः। **प्रकृतिजान्**प्रकृतितो जातान्सुखदुःखमोहाकाराभिव्यक्तान्**गुणान्**सुखी दुःखी मूढः पण्डितोऽहमित्येवम्। सत्यामप्यविद्यायां सुखदुःखमोहेषु गुणेषु भुज्यमानेषु यः सङ्ग आत्मभावः संसारस्य स प्रधानं **कारणं** जन्मनः "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति" (बृ ४.४.५) इत्यादिश्रुतेः। तदेतदाह कारणं हेतु**र्गुणसङ्गो** गुणेषु सङ्गोऽस्य पुरुषस्य भोक्तुः, **सदसद्योनिजन्मसु** सत्यश्चासत्यश्च योनयः सदसद्योनयस्तासु सदसद्योनिषु जन्मानि सदसद्योनिजन्मानि तेषु सदसद्योनिजन्मसु विषयभूतेषु कारणं गुणसङ्गः। अथवा सदसद्योनिजन्मस्वस्य संसारस्य कारणं गुणसङ्ग इति संसारपदमध्याहार्यम्। सद्योनयो देवादियोनयोऽसद्योनयः पश्वादियोनयः। सामर्थ्यात्सदसद्योनयो मनुष्ययोनयोऽप्यविरुद्धा द्रष्टव्याः। एतदुक्तं भवति। प्रकृतिस्थत्वाख्याऽविद्या गुणेषु च सङ्गः कामः संसारस्य कारणमिति। तच्च परिवर्जनायोच्यते। अस्य च निवृत्तिकारणं ज्ञानवैराग्ये ससंन्यासं गीताशास्त्रे प्रसिद्धम्। तच्च ज्ञानं पुरस्तादुपन्यस्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविषयम्। 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' (गी. १३. १२) इत्युक्तं चान्यापोहेनातद्धर्माध्यारोपेण च ॥२१॥

एकादशाह्निकम् ॥११॥

***

तस्यैव पुनः साक्षान्निर्देशः क्रियते—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

इस देह में विद्यमान् (होने पर भी वास्तव में) वह पुरुष (अव्यक्त से) पर है, जो उपद्रष्टा, अनुमन्ता, कर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा इन नामों से भी कहा गया है॥२२॥

उपद्रष्टा समीपस्थः सन्द्रष्टा स्वयमव्यापृतो यथर्त्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तटस्थोऽन्योऽव्यापृतो यज्ञविद्याकुशल ऋत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता तद्वत्कार्यकरणव्यापारेष्वव्यापृतोऽन्यो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां सामीप्येन द्रष्टोपद्रष्टा। अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मानो द्रष्टारस्तेषां बाह्यो द्रष्टा देहस्तत आरभ्यान्तरतमश्च प्रत्यक्समीप आत्मा द्रष्टा। यतः परोऽन्तरो नास्ति द्रष्टा सोऽतिशयसामीप्येन द्रष्टृत्वादुपद्रष्टा स्यात्। यज्ञोपद्रष्टृवद्वा सर्वविषयीकरणादुपद्रष्टा।

अनुमन्ता चानुमोदनमनुमननं कुर्वत्सु तत्क्रियासु परितोषस्तत्कर्ताऽनुमन्ता च। अथवाऽनुमन्ता कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव तदनुकूलो विभाव्यते तेनानुमन्ता। अथवा प्रवृत्तान्स्वव्यापारेषु तत्साक्षिभूतः कदाचिदपि न निवारयतीत्यनुमन्ता। **भर्ता** भरणं नाम देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्यात्मपारार्थ्येन निमित्तभूतेन चैतन्याभासानां यत्स्वरूपधारणं तच्चैतन्यात्मकृतमेवेति भर्ताऽऽत्मेत्युच्यते। **भोक्ता**ऽग्न्युष्णवन्नित्यचैतन्यस्वरूपेण बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकाः प्रत्ययाः सर्वविषयविषयाश्चैतन्यात्मग्रस्ता

इव जायमाना विभक्ता विभाव्यन्त इति भोक्ताऽऽत्मोच्यते। **महेश्वरः** सर्वात्मत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च महानीश्वरश्चेति महेश्वरः परमात्मा देहादीनां बुद्ध्यन्तानां प्रत्यगात्मत्वेन कल्पितानाम-विद्यया परम उपद्रष्टृत्वादिलक्षण आत्मेति परमात्मा 'सोऽन्तः परमात्मा' इत्यनेन शब्देन चाप्युक्तः कथितः श्रुतौ। क्वासाव-स्मिन्देहे पुरुषः परोऽव्यक्तात्। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मे-त्युदाहृतः' (गी. १५.१७) इति यो वक्ष्यमाणः॥२२॥

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी. १३.२) इत्युपन्यस्तो व्याख्यायोपसंहृतश्च। तमेतं यथोक्तलक्षणमात्मानम्—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२३॥

इस प्रकार उस यथोक्त लक्षण वाले आत्मा को जो यथोक्त रीति से जानता है, साथ ही गुणों के साथ प्रकृति को भी पहचानता है वह सभी प्रकार से वर्ताव करता हुआ भी इस देह को छोड़ने के बाद देहान्तर को ग्रहण नहीं करता॥२३॥

य एवं यथोक्तप्रकारेण **वेत्ति पुरुषं** साक्षादहमिति **प्रकृतिं च** यथोक्तामविद्यालक्षणां **गुणैः** स्वविकारैः **सह** निवर्तितामभावमापादितां विद्यया, **सर्वथा** सर्वप्रकारेण **वर्तमानोऽपि न स भूयः** पुनः पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे देहान्तराय **नाभिजायते** नोत्पद्यते। देहान्तरं न गृह्णाती-त्यर्थः। अपिशब्दात्किमु वक्तव्यं स्ववृत्तस्थो न जायत इत्यभिप्रायः।

ननु यद्यपि ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं पुनर्जन्माभाव उक्तस्तथाऽपि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतानां कर्मणामुत्तरकालभाविनां च यानि चातिक्रान्तानेकजन्मकृतानि तेषां च फलमदत्त्वा नाशो न युक्ता

अव्यक्त माने जो अज्ञात दशा में नहीं होता नित्य अपरोक्ष होने से।

इति स्युस्त्रीणि जन्मानि। कृतविप्रणाशो हि न युक्त इति। यथा फले प्रवृत्तानामारब्धजन्मनां कर्मणाम्। न च कर्मणां विशेषोऽवगम्यते। तस्मात्त्रिप्रकाराण्यपि कर्माणि त्रीणि जन्मान्यारभेरन्संहतानि वा सर्वाण्येकं जन्माऽऽरभेरन्। अन्यथा कृतविनाशे सति सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः शास्त्रानर्थक्यं च स्यादित्यत इदमयुक्तमुक्तं न स भूयोऽभिजायत इति। न, "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" (मु. २.२.८) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु. ३.२.९) "तस्य तावदेव चिरम्" (छा. ६.१४.२) "ईषीकातूलवत्सर्वकर्माणि प्रदूयन्ते" (छा. ५.२४.३) इत्यादि श्रुतिशतेभ्य उक्तो विदुषः सर्वकर्मदाहः। इहापि चोक्तो 'यथैधांसि' (गी. ४.३७) इत्यादिना सर्वकर्मदाहः वक्ष्यति चोपपत्तेश्च। अविद्याकामक्लेशबीजनिमित्तानि हि कर्माणि जन्मान्तराङ्कुरमारभन्ते। इहापि च साहंकाराभिसंधीनि कर्माणि फलारम्भकाणि नेतराणीति तत्र तत्र भगवतोक्तम्।

"बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नाऽऽत्मा संपद्यते पुनः ॥"
(महा. वन. २००.१०) इति च।

अस्तु तावज्ज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालकृतानां कर्मणां ज्ञानेन दाहो ज्ञानसहभावित्वात्। न त्विह जन्मनि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानामतीतानेकजन्मान्तरकृतानां च दाहो युक्तः। न, सर्वकर्माणीतिविशेषणात्। ज्ञानोत्तरकालभाविनामेव सर्वकर्मणामिति चेत्। न, संकोचे कारणानुपपत्तेः। यत्तूक्तं यथा वर्तमानजन्मारम्भकाणि कर्माणि न क्षीयन्ते फलदानाय प्रवृत्तान्येव सत्यपि ज्ञाने तथाऽनारब्धफलानामपि कर्मणां क्षयो न युक्त इति। तदसत्। कथं, तेषां मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्। यथा पूर्वं लक्ष्यवेधाय मुक्त इषुर्धनुषो

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते

लक्ष्यवेधोत्तरकालमप्यारब्धवेगक्षयात्पतनेनैव निवर्तत एवं शरीरारम्भकं कर्म शरीरस्थितिप्रयोजने निवृत्तेऽप्यासंस्कारवेगक्षयात्पूर्ववद्वर्तत एव। स एवेषुः प्रवृत्तिनिमित्तानारब्धवेगस्त्वमुक्तो धनुषि प्रयुक्तोऽप्युपसंह्रियते तथाऽनारब्धफलानि कर्माणि स्वाश्रयस्थान्येव ज्ञानेन निर्बीजीक्रियन्त इति पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे 'न स भूयोऽभिजायते' इति युक्तमेवोक्तमिति सिद्धम्॥२३॥

अत्राऽऽत्मदर्शन उपायविकल्पा इमे ध्यानादय उच्यन्ते—

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

कुछ लोग प्रत्यगात्मा में चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान से शुद्ध बुद्धि द्वारा आत्मा में आत्मा को देखते हैं। दूसरे साधक सांख्ययोग के द्वारा आत्मा में आत्मा को देखते हैं और कुछ लोग कर्मयोग द्वारा आत्मा में आत्मा को देखते हैं॥२४॥

ध्यानेन ध्यानं नाम शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः श्रोत्रादीनि करणानि मनस्युपसंहृत्य मनश्च प्रत्यक्चेतयितर्येकाग्रतया यच्चिन्तनं तद्ध्यानम्। तथा 'ध्यायतीव बको' 'ध्यायतीव पृथिवी ध्यायन्तीव पर्वताः' (छा. ७.६.१) इत्युपमोपादानात्तैलधारावत्संततोऽविच्छिन्नप्रत्ययो ध्यानं, तेन ध्यानेना**ऽऽत्मनि** बुद्धौ **पश्यन्त्यात्मानं** प्रत्यक्चेतन**मात्मना** ध्यानसंस्कृतेनान्तःकरणेन **केचिद्**योगिनः। **अन्ये सांख्येन योगेन** सांख्यं नाम—इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या अहं तेभ्योऽन्यस्तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनमेष सांख्यो योगस्तेन पश्यन्त्यात्मानमात्मनेति वर्तते। **कर्मयोगेन** कर्मैव योग ईश्वरा-

र्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं घटनरूपं योगार्थत्वाद्योग उच्यते। गुणतस्तेन सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण चापरे॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

किन्तु दूसरे निकृष्टतम अधिकारी इस प्रकार स्वयं न जानते हुए अन्य आचार्यों से सुनकर उपासना करते हैं। वे श्रुतिपरायण साधक भी मृत्यु को सर्वथा पार कर ही जाते हैं॥२५॥

अन्ये त्विति। **अन्ये त्वेषु** विकल्पेष्वन्यतमेनाप्येवं यथोक्तमात्मान**मजानन्तोऽन्येभ्य** आचार्येभ्यः **श्रुत्वे**दमेव चिन्तयतेत्युक्ता **उपासते** श्रद्दधानाः सन्तश्चिन्तयन्ति **तेऽपि चातितरन्त्येव**ातिक्रामन्त्येव **मृत्युं** मृत्युयुक्तं संसारमित्येतत्। **श्रुतिपरायणाः** श्रुतिः श्रवणं परमयनं गमनं मोक्षमार्गप्रवृत्तौ परं साधनं येषां ते श्रुतिपरायणाः केवलपरोपदेशप्रमाणाः स्वयं विवेकरहिता इत्यभिप्रायः। किमु वक्तव्यं प्रमाणं प्रति स्वतन्त्रा विवेकिनो मृत्युमतितरन्तीत्यभिप्रायः॥२५॥

क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वविषयं ज्ञानं मोक्षसाधनं 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' (गी. १३.१२) इत्युक्तं, तत्कस्माद्धेतोरिति तद्धेतुप्रदर्शनार्थं श्लोक आरभ्यते—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥२६॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर एवं जङ्गम जो कुछ भी वस्तु है उन्हें क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के (आध्यासिक) संयोग से ही उत्पन्न हुआ जानो॥२६॥

यावद् यत् **किंचित्संजायते** समुत्पद्यते **सत्त्वं** वस्तु किमविशेषेणेत्याह **स्थावरजङ्गमं** स्थावरं जङ्गमं च

क्षेत्रक्षेत्रसंयोगात्तज्जायत इत्येवं **विद्धि** जानीहि हे **भरतर्षभ!** कः पुनरयं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगोऽभिप्रेतः। न तावद्रज्ज्वेव घटस्यावयवसंश्लेषद्वारकः संबन्धविशेषः संयोगः क्षेत्रेण क्षेत्रज्ञस्य संभवत्याकाशवन्निरवयवत्वात्। नापि समवायलक्षणस्तन्तुपटयोरिव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितरेतरकार्यकारणभावानभ्युपगमादिति। उच्यते, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विषयविषयिणोर्भिन्नस्वभावयोरितरेतरतद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपविवेकाभावनिबन्धनो रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावादध्यारोपितसर्परजतादिसंयोगवत्। सोऽयमध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगो मिथ्याज्ञानलक्षणः। यथाशास्त्रं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणभेदपरिज्ञानपूर्वकं प्राग्दर्शितरूपात्क्षेत्रान्मुञ्जादिवेषीकां यथोक्तलक्षणं क्षेत्रज्ञं प्रविभज्य 'न सत्तन्नासदुच्यते' (गी. १३.१२) इत्यनेन निरस्तसर्वोपाधिविशेषं ज्ञेयं ब्रह्म स्वरूपेण यः पश्यति क्षेत्रं च मायानिर्मितहस्तिस्वप्नदृष्टवस्तुगन्धर्वनगरादिवदसदेव सदिवावभासत इत्येवं निश्चितविज्ञानो यस्तस्य यथोक्तसम्यग्दर्शनविरोधादपगच्छति मिथ्याज्ञानं, तस्य जन्महेतोरपगमात्। 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह' (गी. १३.२३) इत्यनेन विद्वान्भूयो नाभिजायत इति यदुक्तं तदुपपन्नमुक्तम्॥२६॥

'न स भूयोऽभिजायते' (गी. १३.२३) इति सम्यग्दर्शनफलमविद्यादिसंसारबीजनिवृत्तिद्वारेण जन्माभाव उक्तः। जन्मकारणं चाविद्यानिमित्तकः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग उक्तः। अतस्तस्या अविद्याया निवर्तकं सम्यग्दर्शनमुक्तमपि पुनः शब्दान्तरेणोच्यते—

सामान्य और विशेष दोनों आधार के हैं।

सामान्य को पृष्ट

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनशत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त विनाशी सभी भूतों में स्थित अविनाशी परमेश्वर को जो सम देखता है वह यथार्थदर्शी है॥२७॥

समं निर्विशेषं तिष्ठन्तं स्थितिं कुर्वन्तं क्व **सर्वेषु भूतेषु** ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्राणिषु कं **परमेश्वरं** देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यव्यक्तात्मनोऽपेक्ष्य परमेश्वरस्तं सर्वेषु भूतेषु समं **तिष्ठन्तम्**। तानि विशिनष्टि **विनश्यत्स्विति**। तं च परमेश्वर**मविनश्यन्तमि**ति भूतानां परमेश्वरस्य चात्यन्तवैलक्षण्यप्रदर्शनार्थम्। कथं? सर्वेषां हि भावविकाराणां जनिलक्षणो भावविकारो मूलं जन्मोत्तरभाविनोऽन्ये सर्वे भावविकारा विनाशान्ताः। विनाशात्परो न कश्चिदस्ति भावविकारो, भावाभावात्। सति हि धर्मिणि धर्मा भवन्त्यतोऽन्त्यभावविकाराभावानुवादेन पूर्वभाविनः सर्वे भावविकाराः प्रतिषिद्धा भवन्ति सह कार्यैः। तस्मात्सर्वभूतैर्वैलक्षण्यमत्यन्तमेव परमेश्वरस्य सिद्धं निर्विशेषत्वमेकत्वं च। **य** एवं यथोक्तं परमेश्वरं **पश्यति स पश्यति**।

ननु सर्वोऽपि लोकः पश्यति किं विशेषणेनेति; सत्यं पश्यति किंतु विपरीतं पश्यत्यतो विशिनष्टि स एव पश्यतीति। यथा तिमिरदृष्टिरनेकं चन्द्रं पश्यति तमपेक्ष्यैकचन्द्रदर्शी विशिष्यते स एव पश्यतीति, तथैवेहाप्येकमविभक्तं यथोक्तमात्मानं यः पश्यति, स विभक्तानेकात्मविपरीतदर्शिभ्यो विशिष्यते स एव पश्यतीति। इतरे पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति, विपरीतदर्शित्वादनेकचन्द्रदर्शिवदित्यर्थः॥२७॥

यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनस्य फलवचनेन स्तुतिः कर्तव्येति श्लोक आरभ्यते—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

जो सर्वत्र समभाव से स्थित ईश्वर को सम देखता है वह यथार्थदर्शी अपने से आप की हिंसा नहीं करता है, उसके फलस्वरूप वह परागति को प्राप्त करता है॥२८॥

समं पश्यन्नुपलभमानो **हि** यस्मात्**सर्वत्र** सर्वभूतेषु **समवस्थितं** तुल्यतयाऽवस्थित**मीश्वर**मतीतानन्तरश्लोकोक्त-लक्षणमित्यर्थः। समं पश्यन्किं, **न हिनस्ति** हिंसां न करो**त्यात्मना** स्वेनैव स्व**मात्मानं ततस्**तदहिंसना**द्याति परां** प्रकृष्टां **गतिं** मोक्षाख्याम्। ननु नैव कश्चित्प्राणी स्वयं स्वमात्मानं हिनस्ति कथमुच्यतेऽप्राप्तं न हिनस्तीति। यथा 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे' (तै. सं. ५. २.७.१) इत्यादि। नैष दोषः, अज्ञानामात्मतिरस्क-रणोपपत्तेः। सर्वो ह्यज्ञोऽत्यन्तप्रसिद्धं साक्षादपरोक्षादात्मानं तिरस्कृत्यानात्मानमात्मत्वेन परिगृह्य तमपि धर्माधर्मौ कृत्वो-पात्तमात्मानं हत्वाऽन्यमात्मानमुपादत्ते नवं, तं चैवं हत्वाऽन्यमेवं तमपि हत्वाऽन्यमित्येवमुपात्तमुपात्तमात्मानं हन्तीत्यात्महा सर्वोऽज्ञः। यस्तु परमार्थात्माऽसावपि सर्वदाऽविद्यया हत इव विद्यमानफलाभावादिति सर्व आत्महन एवाविद्वांसः। यस्त्वितरो यथोक्तात्मदर्शी स उभयथाऽप्यात्मनाऽऽत्मानं न हिनस्ति ततो याति परां गतिं यथोक्तं फलं तस्य भवतीत्यर्थः॥२८॥

सर्वभूतस्थमीशं समं पश्यन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानमित्युक्तं

तदनुपपन्नं स्वगुणकर्मवैलक्षण्यभेदभिन्नेष्वात्मस्वित्येतदाशङ्क्याऽऽह—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

सभी क्रियायें प्रकृति के द्वारा ही सभी प्रकार से की जा रही हैं तथा आत्मा अकर्ता है, ऐसा जो देखता है वह यथार्थ देखता है॥२९॥

प्रकृत्या प्रकृतिर्भगवतो माया त्रिगुणात्मिका, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे. ४.१०) इति मन्त्रवर्णात्तया **प्रकृत्यैव च** नान्येन महदादिकार्यकरणाकारपरिणतया **कर्माणि** वाङ्मनःकायारभ्याणि **क्रियमाणानि** निर्वर्त्यमानानि **सर्वशः** सर्वप्रकारैर्**यः पश्यत्युपलभते तथाऽऽत्मानं** क्षेत्रज्ञम**कर्तारं** सर्वोपाधिविवर्जितं, **स पश्यति,** स परमार्थदर्शीत्यभिप्रायः। निर्गुणस्याकर्तुर्निर्विशेषस्याऽऽकाशस्येव भेदे प्रमाणानुपपत्तिरित्यर्थः॥२९॥

पुनरपि तदेव सम्यग्दर्शनं शब्दान्तरेण प्रपञ्चयति—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३०॥

जिस समय भूतों के पृथग्भाव को शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से एक परमात्मा में स्थित देखता है और उसी आत्मा से जगत् के आविर्भाव एवं तिरोभाव विस्तार को देखता है, उस समय यथार्थदर्शी ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है॥३०॥

यदा यस्मिन्काले **भूतपृथग्भावं** भूतानां पृथग्भावं पृथक्त्वम**एकस्थम**एकस्मिन्नात्मनि स्थितमेकस्थम**नुपश्यति** शास्त्राचार्योपदेशतो मत्वाऽऽत्मप्रत्यक्षत्वेन पश्यति 'आत्मैवेदं

सर्वम्' (छा. ७.२५.२) इति। **तत एव च** तस्मादेव च **विस्तारमुत्पत्तिं** विकासम् 'आत्मतः प्राण आत्मत आशा आत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नम्' (छा. ७.२६.१) इत्येवमादिप्रकारैर्विस्तारं यदा पश्यति, **ब्रह्म संपद्यते** ब्रह्मैव भवति **तदा** तस्मिन्काल इत्यर्थः॥३०॥

एकस्याऽऽत्मनः सर्वदेहात्मत्वे तद्दोषसंबन्धे प्राप्त इदमुच्यते—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

यह परमात्मा अनादि एवं निर्गुण होने से अव्यय है। हे कौन्तेय! यह शरीर में रहता हुआ भी न करता है और न कर्मफल से लिप्त ही होता है॥३१॥

अनादित्वादनादेर्भावोऽनादित्वमादिः कारणं तद्यस्य नास्ति तदनादि। यद्ध्यादिमत्तत्स्वेनाऽऽत्मना व्येत्ययं त्वनादित्वान्निरवयव इति कृत्वा न व्येति। तथा **निर्गुणत्वा**त्सगुणो हि गुणव्ययाद्व्येत्ययं तु निर्गुणत्वान्न व्येतीति **परमात्माऽयमव्ययो** नास्य व्ययो विद्यत इत्यव्ययः। यत एवमतः **शरीरस्थोऽपि** शरीरेष्वात्मन उपलब्धिर्भवतीति शरीरस्थ उच्यते, तथाऽपि **न करोति**। तदकरणादेव तत्फलेन **न लिप्यते**। यो हि कर्ता स कर्मफलेन लिप्यतेऽयं त्वकर्ताऽतो न फलेन लिप्यत इत्यर्थः। कः पुनर्देहेषु करोति लिप्यते च यदि तावदन्यः परमात्मनो देही करोति लिप्यते च तत इदमनुपपन्नमुक्तं क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी. १३.२) इत्यादि।

अथ नास्तीश्वरादन्यो देही कः करोति लिप्यते चेति वाच्यं परो वा नास्तीति। सर्वथा दुर्विज्ञेयं दुर्वाच्यं चेति भगवत्प्रोक्तमौपनिषदं दर्शनं परित्यक्तं वैशेषिकैःसांख्यार्हतबौद्धैश्च। तत्रायं परिहारो भगवता स्वेनैवोक्तः 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (गी. ५.१४) इति। अविद्यामात्रस्वभावो हि करोति लिप्यत इति व्यवहारो भवति न तु परमार्थत एकस्मिन्परमात्मनि तदस्ति। अत एतस्मिन्परमार्थसांख्यदर्शने स्थितानां ज्ञाननिष्ठानां परमहंसपरिव्राजकानां तिरस्कृताविद्याव्यवहाराणां कर्माधिकारो नास्तीति तत्र तत्र दर्शितं भगवता॥३१॥

किमिव न करोति न लिप्यत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापक आकाश कहीं पर लिप्त नहीं होता, वैसे ही सर्वत्र स्थित होता हुआ भी आत्मा देह में उपलिप्त नहीं होता है॥३२॥

यथा सर्वगतं व्याप्यपि सत्**सौक्ष्म्या**त्सूक्ष्मभा**वादाकाशं** खं **नोपलिप्यते** न संबध्यते, **सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते**॥३२॥ किंच—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, हे भारत! वैसे ही एक ही क्षेत्री परमात्मा सभी क्षेत्रों को प्रकाशित करता है॥३३॥

यथा प्रकाशयत्यवभासय**त्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः** सविताऽऽदित्य**स्तथा** तद्वन्महाभूतादिधृत्यन्तं

क्षेत्रमेकः सन्प्रकाशयति, कः क्षेत्री परमात्मेत्यर्थः। रवि-दृष्टान्तोऽत्राऽऽत्मन उभयार्थोऽपि भवति रविवत्सर्वक्षेत्रेष्वेक आत्माऽलेपकश्चेति ॥३३॥

समस्ताध्यायार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

आदितः श्लो. ५२३

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

इस प्रकार जब कोई साधक ज्ञानचक्षु से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को एवं भूतों की प्रकृति से छूटने के उपाय को जान लेते हैं तो वे परमार्थ तत्त्व ब्रह्म को प्राप्त कर जाते हैं ॥३४॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगनामक त्रयोदश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई ॥१३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यथाव्याख्यातयोरेवं यथाप्रदर्शितप्रकारेणान्तरमितरेतरवैलक्षण्यविशेषं **ज्ञानचक्षुषा** शास्त्राचार्योपदेशजनितमात्मप्रत्ययिकं ज्ञानं चक्षुस्तेन ज्ञानचक्षुषा **भूतप्रकृतिमोक्षं च** भूतानां प्रकृतिरविद्यालक्षणाऽव्यक्ताख्या तस्या भूतप्रकृतेर्मोक्षणमभावगमनं **च ये विदुर्विजानन्ति, यान्ति** गच्छन्ति **ते परं** परमार्थतत्त्वं ब्रह्म न पुनर्देहमाददत इत्यर्थः ॥३४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

सर्वमुत्पद्यमानं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगादुत्पद्यत इत्युक्तं, तत्कथमिति तत्प्रदर्शनार्थं 'परं भूयः' इत्यादिरध्याय आरभ्यते, अथवेश्वर-परतन्त्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्जगत्कारणत्वं न तु सांख्यानामिव स्वतन्त्रयोरित्येवमर्थं प्रकृतिस्थत्वं गुणेषु सङ्गः संसारकारण-मित्युक्तं कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीति गुणेभ्यश्च मोक्षणं कथं स्यान्मुक्तस्य च लक्षणं वक्तव्यमित्येवमर्थं च—

श्रीभगवानुवाच,—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१॥

ज्ञानों में उत्तम एवं श्रेष्ठ ज्ञान को मैं पुनः अच्छी प्रकार से बतलाऊँगा, जिस ज्ञान को प्राप्त कर सभी मननशील संन्यासी मोक्षरूपा सर्वोत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं॥१॥

परं ज्ञानमिति व्यवहितेन संबन्धः। **भूयः** पुनः पूर्वेषु सर्वेष्वध्यायेष्वसकृदुक्तमपि **प्रवक्ष्यामि**। तच्च परं, परवस्तुविषयत्वात्। किं तत्, **ज्ञानं** सर्वेषां **ज्ञानानामुत्त-ममुत्तमफलत्वात्**। ज्ञानानामिति नामानित्वादीनां, किं तर्हि? यज्ञादिज्ञेयवस्तुविषयाणामिति। तानि न मोक्षायेदं तु मोक्षायेति परोत्तमशब्दाभ्यां स्तौति श्रोतृबुद्धिरुच्युत्पा-दनार्थम्। **यज्ज्ञात्वा** यज्ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य **मुनयः** संन्या-

सिनो मननशीलाः **सर्वे परां सिद्धिं** मोक्षाख्यामितोऽस्माद्देहबन्धनादूर्ध्वं **गताः** प्राप्ताः ॥१॥

अस्याश्च सिद्धेरैकान्तिकत्वं दर्शयति—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो तत्त्ववित् पुरुष मेरी स्वरूपता को प्राप्त कर चुके हैं वे महासर्ग में भी जन्म नहीं लेते हैं और न महाप्रलय में व्यथित ही होते हैं ॥२॥

इदं ज्ञानं यथोक्त**मुपाश्रित्य** ज्ञानसाधनमनुष्ठायेत्येतत्। **मम** परमेश्वरस्य **साधर्म्यं** मत्स्वरूपता**मागताः** प्राप्ता इत्यर्थो न तु समानधर्मतां साधर्म्यं क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भेदानभ्युपगमाद्गीताशास्त्रे। फलवादश्चायं स्तुत्यर्थमुच्यते। **सर्गेऽपि** सृष्टिकालेऽपि **नोपजायन्ते** नोत्पद्यन्ते **प्रलये** ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले **न व्यथन्ति च** व्यथां नाऽऽपद्यन्ते न च्यवन्तीत्यर्थः ॥२॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग ईदृशो भूतकारणमित्याह—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

महद्ब्रह्म (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) मेरी योनि है, उसी में मैं सृष्टि के लिए सङ्कल्परूप गर्भाधान करता हूँ। हे भारत! उसी से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है ॥३॥

मम स्वभूता मदीया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृति**र्योनिः** सर्वभूतानां सर्वकार्येभ्यो महत्त्वाद्भरणाच्च स्वविकाराणां **महद्ब्रह्मे**ति योनिरेव विशिष्यते। **तस्मिन्**महति ब्रह्मणि योनौ **गर्भं** हिरण्यगर्भस्य जन्मनो बीजं सर्वभूत-

जन्मकारणं बीजं **दधामि** निक्षिपामि क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वयशक्तिमानीश्वरोऽहमविद्याकामकर्मोपाधिस्वरूपानुविधायिनं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयोजयामीत्यर्थः। **संभव** उत्पत्तिः **सर्वभूतानां** हिरण्यगर्भोत्पत्तिद्वारेण **ततस्**तस्माद्गर्भाधानाद्**भवति हे भारत**॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥४॥

हे कौन्तेय! सभी योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनकी योनि (कारण) महद्ब्रह्म है और मैं बीजाधान करने वाला पिता हूँ॥४॥

सर्वयोनिष्विति। देवपितृमनुष्यपशुमृगादि**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयो** देहसंस्थानलक्षणा मूर्च्छिताङ्गावयवा मूर्तयः **संभवन्ति यास्तासां** मूर्तीनां **ब्रह्म महत्**सर्वावस्थं **योनिः** कारण**महम्**ईशो **बीजप्रदो** गर्भाधानस्य कर्ता **पिता**॥४॥

के **गुणाः** कथं **बध्नन्ती**त्युच्यते—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

हे महाबाहो! सत्त्व, रज एवं तम–ये तीनों ही गुण हैं जो प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और इस देह में उस अविनाशी देहाभिमानी जीव को अच्छी प्रकार से बाँध डालते हैं॥५॥

सत्त्वं रजस्तम इत्येवंनामानो, **गुणा इति** पारिभाषिकः शब्दो न रूपादिवद्द्रव्याश्रिताः। न च गुणगुणिनोरन्यत्वमत्र विवक्षितम्। तस्माद्गुणा इव नित्यपरतन्त्राः क्षेत्रज्ञं प्रत्यविद्यात्मकत्वात्क्षेत्रज्ञं **निबध्नन्तीव** तमास्पदी-

कृत्याऽऽत्मानं प्रतिलभन्त इति निबध्नन्तीत्युच्यते। ते च **प्रकृतिसंभवा** भगवन्मायासंभवा **निबध्नन्तीव हे महाबाहो!** महान्तौ समर्थतरावाजानुप्रलम्बौ बाहू यस्य स महाबाहुर्हे महाबाहो **देहे** शरीरे **देहिनं** देहवन्तमव्ययमव्ययत्वं चोक्तम् 'अनादित्वात्' (गी. १३.३१) इत्यादिश्लोके। ननु देही 'न लिप्यते' इत्युक्तं, तत्कथमिह निबध्नन्तीत्यन्यथोच्यते, परिहृतमस्माभिरिवशब्देन निबध्नन्तीवेति॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥६॥

उन सत्त्वादि गुणों में से निर्मल होने के कारण सत्त्वगुण प्रकाशक एवं निर्दोष है, हे अर्जुन! फिर भी वह सुख में और ज्ञान में आसक्ति कराकर देहाभिमानी जीव को बाँध डालता है॥६॥

तत्र सत्त्वमिति। **तत्र** सत्त्वादीनां मध्ये सत्त्वस्यैव तावल्लक्षणमुच्यते **निर्मलत्वात्**स्फटिकमणिरिव **प्रकाशकमनामयं** निरुपद्रवं **सत्त्वं** तन्निबध्नाति कथं **सुखसङ्गेन** सुख्यहमिति विषयभूतस्य सुखस्य विषयिण्यात्मनि संश्लेषापादनं मृषैव सुखे सञ्जनमिति। सैषाऽविद्या। न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति। इच्छादि च धृत्यन्तं क्षेत्रस्यैव विषयस्य धर्म इत्युक्तं भगवता। अतोऽविद्ययैव स्वकीयधर्मभूतया विषयविषय्यविवेकलक्षणयाऽस्वात्मभूते सुखे सञ्जयतीव सक्तमिव करोत्यसुखिनं सुखिनमिव। तथा **ज्ञानसङ्गेन च**। ज्ञानमिति सुखसाहचर्यात्क्षेत्रस्यैवान्तःकरणस्य धर्मो नाऽऽत्मनः आत्मधर्मत्वे सङ्गानुपपत्तेर्बन्धानुपपत्तेश्च। सुख इव ज्ञानादौ सङ्गो मन्तव्यो **हेऽनघा**व्यसन॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥७॥

तृष्णा एवं आसक्ति से उत्पन्न रजोगुण को रागात्मक समझो, हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! वह देहाभिमानी जीव को कर्म में आसक्ति कराकर बाँधता है॥७॥

रजो रागात्मकमिति। **रजो रागात्मकं** रञ्जनाद्रागो गैरिकादिवद्रागात्मकं **विद्धि** जानीहि **तृष्णासङ्गसमुद्भवं** तृष्णाऽप्राप्ताभिलाषः, आसङ्गः प्राप्ते विषये मनसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः, तृष्णासङ्गयोः समुद्भवं तृष्णासङ्गसमुद्भवं **तन्निबध्नाति** तद्रजः **कौन्तेय कर्मसङ्गेन** दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सञ्जनं तत्परता कर्मसङ्गस्तेन निबध्नाति रजो **देहिनम्**॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

किन्तु सभी देहाभिमानियों को मोह में डालने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो। हे ज्ञान में रत रहने वाले अर्जुन! वह भी देहाभिमानी जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से अच्छी प्रकार बाँध डालता है॥८॥

तमस्त्विति। **तमस्**तृतीयो गुणो**ऽज्ञानजम**ज्ञानाज्जात**मज्ञानजं विद्धि मोहनं** मोहकरमविवेककरं **सर्वदेहिनां** सर्वेषां देहवतां **प्रमादालस्यनिद्राभिः** प्रमादश्चाऽऽलस्यं च निद्रा च प्रमादालस्यनिद्रास्ताभिस्तत्तमो **निबध्नाति भारत**॥८॥

पुनर्गुणानां व्यापारः संक्षेपत उच्यते—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥९॥

हे भारत! सत्त्वगुण सुख में जोड़ता है, रजोगुण कर्म में जोड़ता है किन्तु तमोगुण ज्ञान पर परदा डालकर प्रमाद में भी लगा देता है॥९॥

सत्त्वं सुखे संजयति संश्लेषयति **रजः कर्मणि हे भारत** संजयतीति वर्तते। **ज्ञानं** सत्त्वकृतं विवेकमावृत्याच्छाद्य **तु तमः** स्वेनाऽऽवरणात्मना **प्रमादे संजयत्युत** प्रमादो नाम प्राप्तकर्तव्याकरणम्॥९॥

उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इत्युच्यते—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

हे भारत! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण बढ़ता है; वैसे ही, सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण जब बढ़ता है तभी अपना काम कर पाता है॥१०॥

रजस्तमश्चोभावप्य**भिभूय सत्त्वं भवत्**युद्भवति वर्धते यदा तदा लब्धात्मकं सत्त्वं स्वकार्यं ज्ञानसुखाद्यारभते **हे भारत!** तथा रजोगुणः **सत्त्वं तमश्चैवो**भावप्यभिभूय वर्धते यदा तदा कर्मतृष्णादि स्वकार्यमारभते। **तम** आख्यो गुणः **सत्त्वं रजश्चो**भावप्यभिभूय **तथैव** वर्धते यदा तदा ज्ञानावरणादि स्वकार्यमारभते॥१०॥

यदा यो गुण उद्भूतो भवति तदा तस्य किं लिङ्गमित्युच्यते—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

इस मानव शरीर के श्रोत्रादि द्वारों में जब यथार्थदर्शन रूप प्रकाश उत्पन्न होता है जिसे ज्ञान कहते हैं, उसी समय सत्त्वगुण को बढ़ा हुआ जानना चाहिए॥११॥

सर्वद्वारेष्वात्मन उपलब्धिद्वाराणि श्रोत्रादीनि सर्वाणि करणानि तेषु सर्वद्वारेष्वन्तःकरणस्य बुद्धेर्वृत्तिः **प्रकाशो देहेऽस्मिन्नुपजायते**। तदेव **ज्ञानम्**। **यदैवं** प्रकाशो ज्ञानाख्य उपजायते **तदा** ज्ञानप्रकाशेन लिङ्गेन **विद्या-द्विवृद्धमुद्भूतं सत्त्वमित्युतापि**॥११॥

रजस उद्भूतस्येदं चिह्नम्—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

हे अर्जुन! लोभ, प्रवृत्ति, सकाम कर्मों का आरम्भ, शान्ति का अभाव और स्पृहा—ये सब रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं॥१२॥

लोभः परद्रव्यादित्सा, **प्रवृत्तिः** प्रवर्तनं सामान्य-चेष्टा, **आरम्भः**, कस्य, **कर्मणाम्**। **अशमो**ऽनुपशमः, हर्षरागादिप्रवृत्तिः, **स्पृहा** सर्वसामान्यवस्तुविषया तृष्णा, **रजसि** गुणे **विवृद्ध एतानि** लिङ्गानि **जायन्ते** हे **भरतर्षभ**॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

हे कुरुनन्दन! विवेक का अभाव, प्रवृत्ति का अभाव एवं तमोगुण के कार्य प्रमाद एवं मोह भी तभी उत्पन्न होते हैं जब तमोगुण बढ़ जाता है॥१३॥

अप्रकाश इति। **अप्रकाशो**ऽविवेकोऽत्यन्तम**प्रवृत्तिश्च** प्रवृत्त्यभावस्तत्कार्यं **प्रमादो मोह एव** चाविवेको मूढ-

तेत्यर्थः। **तमसि** गुणे **विवृद्ध एतानि** लिङ्गानि **जायन्ते** हे **कुरुनन्दन**॥१३॥

मरणद्वारेणापि यत्फलं प्राप्यते, तदपि सङ्गरागहेतुकं सर्वं गौणमेवेति दर्शयन्नाह—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

किन्तु सत्त्वगुण के बढ़े रहने पर जब जीव मर जाता है तब उत्तम महदादि तत्त्वों की उपासना करने वालों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है॥१४॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्ध उद्भूते **तु प्रलयं** मरणं **याति** प्रतिपद्यते **देहभृदात्मा, तदोत्तमविदां** महदादितत्त्वविदामित्येतत्। **लोकानमलान्**मलरहितान्**प्रतिपद्यते** प्राप्नोतीत्येतत्॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

रजोगुण के बढ़े रहने पर मरकर जीव कर्मासक्त योनियों में जन्म लेता है और तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ व्यक्ति पश्वादि मूढ़योनियों में जन्म लेता है॥१५॥

रजसि गुणे विवृद्धे **प्रलयं** मरणं **गत्वा** प्राप्य **कर्मसङ्गिषु** कर्मासक्तियुक्तेषु मनुष्येषु **जायते**। **तथा** तद्वदेव **प्रलीनो** मृत**स्तमसि** विवृद्धे **मूढयोनिषु** पश्वादियोनिषु **जायते**॥१५॥

अतीतश्लोकार्थस्यैव संक्षेप उच्यते—

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

शिष्ट पुरुषों ने निष्काम भाव से किये गये शास्त्रविहित सात्त्विक कर्म (सुकृत) का फल निर्मल सात्त्विक कहा है किन्तु राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान बतलाया है॥१६॥

कर्मणः सुकृतस्य सात्त्विकस्येत्यर्थः। **आहुः** शिष्टाः **सात्त्विकमेव निर्मलं फलमिति। रजसस्तु फलं दुःखं** राजसस्य **कर्मण** इत्यर्थः। कर्माधिकारात्फलमपि दुःखमेव कारणानुरूप्याद्राजसमेव। तथा**ऽज्ञानं तमसस्तामसस्य** कर्मणोऽधर्मस्य पूर्ववत्॥१६॥

किंच गुणेभ्यो भवति—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होता है किन्तु तमोगुण से प्रमाद, मोह और विवेकाभाव रूप अज्ञान भी उत्पन्न होता है॥१७॥

सत्त्वाल्लब्धात्मकात्**संजायते** समुत्पद्यते **ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ** चोभौ **तमसो भवतोऽज्ञानमेव च** भवति॥१७॥

किंच—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

सदा सत्त्वगुण की वृत्ति में स्थित पुरुष ऊर्ध्व देवादि लोकों में जाते हैं, राजस पुरुष मध्यवर्ती मनुष्य लोक में ही रहते हैं और तमोगुण की वृत्ति में स्थित तामस पुरुष निम्न पश्वादि योनियों में जन्म लेते हैं॥१८॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति देवलोकादिषूत्पद्यन्ते **सत्त्वस्थाः** सत्त्वगुणवृत्तस्थाः। **मध्ये तिष्ठन्ति** मनुष्येषूत्पद्यन्ते **राजसाः**।

जघन्यगुणवृत्तस्था जघन्यश्चासौ गुणश्च जघन्यगुणस्तमस्तस्य वृत्तं निद्रालस्यादि तस्मिन्स्थिता जघन्यगुणवृत्तस्था मूढा **अधो गच्छन्ति** पशवादिषूत्पद्यन्ते **तामसाः** ॥१८॥

पुरुषस्य प्रकृतिस्थत्वरूपेण मिथ्याज्ञानेन युक्तस्य भोग्येषु गुणेषु सुखदुःखमोहात्मकेषु सुखी दुःखी मूढोऽहमस्मीत्येवंरूपो यः सङ्गस्तत्कारणं पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मप्राप्तिलक्षणस्य संसारस्येति समासेन पूर्वाध्याये यदुक्तं तदिह 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः' (गी. १४.५) इत्यत आरभ्य गुणस्वरूपं गुणवृत्तं स्ववृत्तं स्ववृत्तेन च गुणानां बन्धकत्वं गुणवृत्तनिबद्धस्य च पुरुषस्य या गतिरित्येतत्सर्वं मिथ्याज्ञानमज्ञानमज्ञानमूलं बन्धकारणं विस्तरेणोक्त्वाऽधुना सम्यग्दर्शनान्मोक्षो वक्तव्य इत्याह भगवान्—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

जब द्रष्टा ज्ञानी पुरुष गुणों से भिन्न को कर्ता नहीं देखता है और गुणों से विलक्षण परमात्मा को जान लेता है तब वह मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है॥१९॥

नान्यं कार्यकरणविषयाकारपरिणतेभ्यो **गुणेभ्यः कर्तारमन्यं यदा द्रष्टा** विद्वान्सन्नानुपश्यति। गुणा एव सर्वावस्थाः सर्वकर्मणां कर्तार इत्येवं पश्यति। **गुणेभ्यश्च परं** गुणव्यापारसाक्षिभूतं **वेत्ति मद्भावं** मम भावं स **द्रष्टाऽधिगच्छति** ॥१९॥

कथमधिगच्छतीत्युच्यते—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देही जीव जब देह के कारण इन तीनों गुणों को पारकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख से छूट जाता है तब वह अमरत्व को प्राप्त करता है॥२०॥

गुणानेतान्यथोक्तानतीत्य जीवन्नेवातिक्रम्य मायोपाधिभूतांस्**त्रीन्देही देहसमुद्भवान्**देहोत्पत्तिबीजभूतान्, **जन्ममृत्युजरादुःखैः**, जन्म च मृत्युश्च जरा च दुःखानि च तैर्जीवन्नेव **विमुक्तः** सन्विद्वान**मृतमश्नुते**। एवं मद्भावमधिगच्छतीत्यर्थः॥२०॥

जीवन्नेव गुणानतीत्यामृतमश्नुत इति प्रश्नबीजं प्रतिलभ्य—

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥२१॥

हे प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत ज्ञानी पुरुष किन लिङ्गों से युक्त होता है, उसका आचरण कैसा होता है और इन तीनों गुणों का किस प्रकार अतिक्रमण करता है॥२१॥

कैर्लिङ्गैश्चिह्नै**स्त्रीनेतान्**व्याख्यातान्**गुणानतीतो**ऽतिक्रान्तो **भवति प्रभो! किमाचारः** कोऽस्याऽऽचार इति किमाचार **कथं** केन च प्रकारे**णैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते**॥२१॥

गुणातीतस्य लक्षणं गुणातीतत्वोपायं चार्जुनेन पृष्टोऽस्मिञ्श्लोके प्रश्नद्वयार्थं प्रतिवचनम्— यत्तावत्कैर्लिङ्गैर्युक्तो गुणातीतो भवतीति तच्छृणु—

श्री भगवानुवाच —

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥२२॥

आत्मा वह है जिसका नाश नहीं हो सकता और संसार वह है जिसे किसी भी अवस्था नहीं रख सकते।

हे पाण्डव! सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति ओर तमोगुण का कार्य मोह—इन तीनों के प्रवृत्त होने पर गुणातीत पुरुष द्वेष नहीं करता और निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा भी नहीं करता॥२२॥

प्रकाशं च सत्त्वकार्यं **प्रवृत्तिं च** रजःकार्यं **मोहमेव च** तमःकार्यमित्येतानि **न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि** सम्यग्विषयभावेनोद्भूतानि। मम तामसः प्रत्ययो जातस्तेनाहं मूढस्तथा राजसी प्रवृत्तिर्ममोत्पन्ना दुःखात्मिका तेनाहं रजसा प्रवर्तितः प्रचलितः स्वरूपात्कष्टं मम वर्तते योऽयं मत्स्वरूपावस्थानाद्भ्रंशस्तथा सात्त्विको गुणः प्रकाशात्मा मां विवेकित्वमापादयन्सुखे च संजयन्बध्नातीति तानि द्वेष्ट्यसम्यग्दर्शित्वेन। तदेवं गुणातीतो न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि। यथा च सात्त्विकादिपुरुषः सात्त्विकादिकार्याण्यात्मानं प्रति प्रकाश्य निवृत्तानि काङ्क्षति **न** तथा गुणातीतो **निवृत्तानि काङ्क्षतीत्यर्थः**। एतन्न परप्रत्यक्षं लिङ्गं, किं तर्हि, स्वात्मप्रत्यक्षत्वादात्मविषयमेवैतल्लक्षणम्। न हि स्वात्मविषयं द्वेषमाकाङ्क्षां वा परः पश्यति॥२२॥

अथेदानीं गुणातीतः किमाचार इति प्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥२३॥

गुणातीत पुरुष उदासीन की भाँति (किसी का पक्ष न लेता हुआ) आसीन रहता है, जो गुणों से विचलित नहीं होता। गुण ही व्यवहार करते हैं, ऐसा मानकर जो स्थित रहता है और स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता है॥२३॥

उदासीनवद्यथोदासीनो न कस्यचित्पक्षं भजते तथाऽयं गुणातीतत्वोपायमार्गेऽवस्थित आसीन आत्मविद्**गुणैर्यः** संन्यासी **न विचाल्यते** विवेकदर्शनावस्थातः। तदेतत्स्फुटीकरोति

गुणाः कार्यकरणविषयाकारपरिणता अन्योन्यस्मिन्वर्तन्त इति योऽवतिष्ठति। छन्दोभङ्गभयात्परस्मैपदप्रयोगः। योऽनुतिष्ठतीति वा पाठान्तरम्। **नेङ्गते** न चलति स्वरूपावस्थ एव भवतीत्यर्थः ॥२३॥

किंच—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

जिसे सुख-दुःख समान हो; जो आत्मनिष्ठ प्रसन्न हो; ढेला, पत्थर और सोना जिसे एक से दीखते हों; प्रिय और अप्रिय जिसे तुल्य हैं और जो बुद्धिमान् है तथा आत्मनिन्दा एवं आत्मसंस्तुति में भी जो संन्यासी एकसम हो (ऐसा ज्ञानी गुणातीत कहा जाता है)॥२४॥

समदुःखसुखः समे दुःखसुखे यस्य स समदुःखसुखः। **स्वस्थः** स्व आत्मनि स्थितः प्रसन्नः। **समलोष्टाश्मकाञ्चनो** लोष्टं चाश्मा च काञ्चनं च समानि यस्य समलोष्टाश्मकाञ्चनः **तुल्यप्रियाप्रियः** प्रियं चाप्रियं च प्रियाप्रिये तुल्ये समे यस्य सोऽयं तुल्यप्रियाप्रियः। **धीरो** धीमान्। **तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिर्निन्दा** चाऽऽत्मसंस्तुतिश्च तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती यस्य यतेः स तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

किंच—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥२५॥

जो मान और अपमान में तुल्य हो, मित्र और शत्रु पक्ष में समान हो, देहधारणातिरिक्त सभी आरम्भों का परित्याग कर रखा हो; वह गुणातीत कहा जाता है॥२५॥

मानापमानयोस्तुल्यः समो निर्विकारः। **तुल्यो**

मित्रारिपक्षयोः, यद्यप्युदासीना भवन्ति केचित्स्वाभिप्रायेण, तथाऽपि पराभिप्रायेण मित्रारिपक्षयोरिव भवन्तीति तुल्यो मित्रारिपक्षयोरित्याह। **सर्वारम्भपरित्यागी** दृष्टादृष्टार्थानि कर्माण्यारभ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वानारम्भान्परित्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी देहाधारणमात्रनिमित्तव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः। **गुणातीतः स उच्यते।** उदासीनवदित्यादि गुणातीतः स उच्यत इत्येतदन्तमुक्तं यावद्यत्नसाध्यं तावत्संन्यासिनाऽनुष्ठेयं गुणातीतत्वसाधनं मुमुक्षोः स्थिरीभूतं तु स्वसंवेद्यं सद्गुणातीतस्य यतेर्लक्षणं भवतीति॥२५॥

अधुना कथं च त्रीन्गुणानतिवर्तत इति प्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥२६॥

जो अव्यभिचरित भक्तियोग के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में रहने वाले मुझ नारायण को भजता है, वह इन तीनों गुणों को भलीभाँति पारकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है॥२६॥

मां चेश्वरं नारायणं सर्वभूतहृदयाश्रितं **यो** यतिः कर्मी वा**ऽव्यभिचारेण** न कदाचिद्यो व्यभिचरति **भक्तियोगेन** भजनं भक्तिः सैव योगस्तेन भक्तियोगेन **सेवते स गुणान्समतीत्यैता**न्यथोक्ता**न्ब्रह्मभूयाय** भवनं भूयो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय मोक्षाय **कल्पते** समर्थो भवतीत्यर्थः॥२६॥

कुत एतदित्युच्यते—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

क्योंकि अविनाशी, निर्विकार ब्रह्म का आश्रय प्रत्यगात्मारूप मैं हूँ, शाश्वतधर्म और उससे प्राप्य आनन्द रूप ऐकान्तिक सुख का आश्रय भी मैं प्रत्यगात्मा ही हूँ, इसलिए विद्वान् ब्रह्मस्वरूप है॥२७॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित गुणत्रयविभागयोगनामक चतुर्दश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१४॥

ब्रह्मणः परमात्मनो **हि** यस्मात्**प्रतिष्ठाऽहं** प्रतितिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठाऽहं प्रत्यगात्मा। कीदृशस्य ब्रह्मणोऽ**मृतस्याविनाशिनोऽव्ययस्याविकारिणः शाश्वतस्य च** नित्यस्य **धर्मस्य** ज्ञानयोगधर्मप्राप्यस्य **सुखस्या**ऽऽनन्दरूपस्यै**कान्तिकस्या**व्यभिचारिणः। अमृतादिस्वभावस्य परमात्मनः प्रत्यगात्मा प्रतिष्ठा सम्यग्ज्ञानेन परमात्मतया निश्चीयते, तदेतद्ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्युक्तम्। यया चेश्वरशक्त्या भक्तानुग्रहादिप्रयोजनाय ब्रह्म प्रतिष्ठते प्रवर्तते सा शक्तिर्ब्रह्मैवाहं शक्तिशक्तिमतोरनन्यत्वादित्यभिप्रायः। अथवा ब्रह्मशब्दवाच्यत्वात्सविकल्पकं ब्रह्म तस्य ब्रह्मणो निर्विकल्पकोऽहमेव नान्यः प्रतिष्ठाऽऽश्रयः, किंविशिष्टस्यामृतस्यामरणधर्मकस्याव्ययस्य व्ययरहितस्य। किंच शाश्वतस्य च नित्यस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य सुखस्य तज्जनितस्यैकान्तिकस्यैकान्तनियतस्य च प्रतिष्ठाऽहमिति वर्तते॥२७॥

द्वादशाह्निकम्॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

यस्मान्मदधीनं कर्मिणां कर्मफलं, ज्ञानिनां च ज्ञानफलमतो भक्तियोगेन मां ये सेवन्ते, ते मत्प्रसादाज्ज्ञानप्राप्तिक्रमेण गुणातीता मोक्षं गच्छन्ति, किमु वक्तव्यमात्मनस्तत्त्वमेव सम्यग्विजानन्त इत्यतो भगवानर्जुनेनापृष्टमप्यात्मनस्तत्त्वं विवक्षुरुवाच—ऊर्ध्वमूलमित्यादि। तत्र तावद्वृक्षरूपककल्पनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति, विरक्तस्य हि संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारो नान्यस्येति—

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि— जिस संसारवृक्ष का मूलबीज परमात्मा ऊपर है और महदादिरूप शाखायें नीचे की ओर हैं, जिसे संसारवृक्ष के रहस्यवेत्ताओं ने अश्वत्थ एवं अव्यय कहा है। ऋगादि वेद जिस संसारवृक्ष के पत्ते के समान हैं, उस संसारवृक्ष को जो इस रूप में जानता है वही वेदार्थवित् है॥१॥

ऊर्ध्वमूलं कालतः सूक्ष्मत्वात्कारणत्वान्नित्यत्वान्महत्त्वाच्चोर्ध्वमुच्यते ब्रह्माव्यक्तमायाशक्तिमत्तन्मूलमस्येति सोऽयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। श्रुतेश्च—'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाखः' (कठ. २.६.१) इति। पुराणे च—

अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माऽऽचरति नित्यशः॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना।
ततश्चाऽऽत्मरतिं प्राप्य यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः॥
(महा. आश्व. १४.३५; २०.२२) इत्यादि।

तमूर्ध्वमूलं संसारमायामयं वृक्ष**मधःशाखं** महदहंकारतन्मात्रादयः शाखा इवास्याधो भवन्तीति सोऽयमधःशाखस्तमधःशाखं न श्वोऽपि स्थातेत्यश्वत्थस्तं क्षणप्रध्वंसिन**मश्वत्थं प्राहुः** कथयन्ति।

अव्ययं संसारमायामयमनादिकालप्रवृत्तत्वात्सोऽयं संसारवृक्षोऽव्ययोऽनाद्यनन्तदेहादिसंतानाश्रयो हि सुप्रसिद्धस्तमव्ययम्। तस्यैव संसारवृक्षस्येदमन्यद्विशेषणं **छन्दांसि** छादनादृग्यजुःसामलक्षणानि **यस्य** संसारवृक्षस्य **पर्णानीव** पर्णानि यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि तथा वेदाः संसारवृक्षपरिरक्षणार्था धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थत्वात्। यथाव्याख्यातं संसारवृक्षं समूलं **यस्तं वेद स वेदवि**द्वेदार्थविदित्यर्थः। नहि संसारवृक्षादस्मात्समूलाज्ज्ञेयोऽन्योऽणुमात्रोऽप्यवशिष्टोऽस्त्यतः सर्वज्ञः स यो वेदार्थविदिति समूलवृक्षज्ञानं स्तौति॥१॥

तस्यैव संसारवृक्षस्यापराऽवयवकल्पनोच्यते—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

जिस संसार वृक्ष की शाखायें नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं, जो सत्त्वादि गुणों के कारण अत्यन्त स्थूल हो गयी हैं, जिन शाखाओं में विषय रूप कोपलें हैं, उस संसार वृक्ष की जड़ें नीचे एवं ऊपर के सभी लोकों में फैली हुई हैं जो धर्माधर्म रूप कर्म से जुड़ी हुई मनुष्यलोक में विशेष रूप से हैं, क्योंकि मनुष्य का ही कर्म में अधिकार है॥२॥

अधो मनुष्यादिभ्यो यावत्स्थावर**मूर्ध्वं च** यावद्ब्रह्मा विश्वसृजो धर्म इत्येतदन्तं यथाकर्म यथाश्रुतं ज्ञानकर्मफलानि **तस्य** वृक्षस्य शाखा इव **शाखाः प्रसृताः** प्रगता **गुणप्रवृद्धा** गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रवृद्धाः स्थूलीकृता उपादानभूतै**र्विषयप्रवाला** विषयाः शब्दादयः प्रवाला इव देहादिकर्मफलेभ्यः शाखाभ्योऽङ्कुरीभवन्तीव तेन विषयप्रवालाः शाखाः। संसारवृक्षस्य परममूलमुपादानं कारणं पूर्वमुक्तमथेदानीं कर्मफलजनितरागद्वेषादिवासना मूलानीव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारणान्यवान्तरभावीनि तान्य**धश्च** देवाद्यपेक्षया **मूलान्यनुसंततान्य**नुप्रविष्टानि **कर्मानुबन्धीनि** कर्म धर्माधर्मलक्षणमनुबन्धः पश्चाद्भावी येषामुद्भूतिमनुभवतीति तानि कर्मानुबन्धीनि **मनुष्यलोके** विशेषतोऽत्र हि मनुष्याणां कर्माधिकारः प्रसिद्धः॥२॥

यस्त्वयं वर्णितः संसारवृक्षः—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥३॥

उपरोक्त वर्णित संसार वृक्ष का रूप विचार करते समय वैसा उपलब्ध नहीं होता; न इसका अन्त है, न आदि है और इसीलिए इसकी मध्यवर्ती स्थिति भी ठीक-ठीक नहीं जान पड़ती है। इस अत्यन्त दृढ़ मूल वाले संसारवृक्षरूप अश्वत्थ को दृढ़वैराग्य-रूप शस्त्र से काटकर (अग्रिम श्लोक में बतलायी गयी रीति से परमात्मतत्त्व का अन्वेषण करना चाहिए) ॥३॥

न रूपमस्येह यथा वर्णितं **तथा नैवोपलभ्यते** स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरसमत्वाद्दृष्टनष्टस्वरूपो हि स इत्यत एव **नान्तो** न **पर्यन्तो** निष्ठा समाप्तिर्वा विद्यते। तथा **न चाऽऽदिरित** आरभ्यायं प्रवृत्त इति न केनचिद्गम्यते। **न च संप्रतिष्ठा** स्थितिर्मध्यमस्य न केन-चिदुपलभ्यते। **अश्वत्थमेनं** यथोक्तं **सुविरूढमूलं** सुष्ठु विरूढानि विरोहं गतानि मूलानि यस्य तमेनं सुविरूढ-मूलम**सङ्गशस्त्रेणासङ्गः** पुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं तेनासङ्गशस्त्रेण **दृढेन** परमात्माभिमुख्यनिश्चयदृढीकृतेन पुनः पुन-र्विवेकाभ्यासाश्मनिशितेन **छित्त्वा** संसारवृक्षं सबीजमुद्धृत्य ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाऽऽद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

उसके बाद उस पद का अन्वेषण करना चाहिए जिसमें गये हुए जीव फिर संसार में लौटते नहीं हैं। मैं उसी आदिपुरुष परमात्मा की शरण में हूँ जिससे यह पुरानी संसारप्रवृत्ति फैली है ॥४॥

तत इति। **ततः** पश्चात्पदं वैष्णवं **तत्परिमार्गितव्यं** परिमार्गणमन्वेषणं ज्ञातव्यमित्यर्थः। **यस्मिन्पदे गताः**

प्रविष्टा **न निवर्तन्ति** नाऽऽवर्तन्ते **भूयः** पुनः संसाराय। कथं परिमार्गितव्यमित्याह— **तमेव च** यः पदशब्देनोक्त **आद्यमादौ** भवं **पुरुषं प्रपद्य** इत्येवं परिमार्गितव्यं तच्छरण-तयेत्यर्थः। कोऽसौ पुरुष इत्युच्यते। **यतो** यस्मात्पुरुषात्संसार-मायावृक्षप्रवृत्तिः **प्रसृता** निःसृतैन्द्रजालिकादिव माया **पुराणी** चिरंतनी ॥४॥

कथंभूतास्तत्पदं गच्छन्तीत्युच्यते—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिन्होंने अहंकार एवं अविवेक का परित्याग कर दिया है, आसक्तिरूप दोष को जिन्होंने ने जीत लिया है, जो अध्यात्म साधना में नित्यरत हैं और जिन्होंने सम्पूर्ण कामनाओं का सर्वथा परित्याग कर दिया है (ऐसे प्रिय एवं अप्रिय सुखदुःखनामक) द्वन्द्व से जो सर्वथा मुक्त हैं वे मोहरहित पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं॥५॥

निर्मानमोहा मानश्च मोहश्च मानमोहौ तौ निर्गतौ येभ्यस्ते निर्मानमोहा मानमोहवर्जिता **जितसङ्गदोषाः** सङ्ग एव दोषः सङ्गदोषो जितः सङ्गदोषो यैस्ते जितसङ्गदोषा **अध्यात्मनित्याः** परमात्मस्वरूपालोचननित्यास्तत्परा **विनिवृत्तकामा** विशेषतो निर्लेपेन निवृत्ताः कामा येषां ते विनिवृत्तकामा यतयः संन्यासिनो **द्वन्द्वैः** प्रियाप्रियादि-भिर्विमुक्ताः **सुखदुःखसंज्ञैः** परित्यक्ता **गच्छन्त्यमूढा** मोहवर्जिताः **पदमव्ययं तद्यथोक्तम्** ॥५॥

तदेव पदं पुनर्विशिष्यते—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥६॥

उस पद को सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चन्द्रमा और न पावक ही प्रकाशित करता है। जिसे प्राप्त कर पुनः संसार में लौटते नहीं हैं, वह मेरा परमधाम है॥६॥

तद्धामेति व्यवहितेन धाम्ना संबन्धः। धाम तेजोरूपं पदं **न भासयते सूर्य** आदित्यः सर्वावभासनशक्तिमत्त्वेऽपि सति। तथा **न शशाङ्क**श्चन्द्रो न **पावको** नाग्निरपि। **यद्धाम** वैष्णवं पदं **गत्वा** प्राप्य **न निवर्तन्ते** यच्च सूर्यादिर्न भासयते **तद्धाम** पदं **परमं मम** विष्णोः॥६॥

यद्गत्वा न निवर्तन्त इत्युक्तम्। ननु सर्वा हि गतिरागत्यन्ता 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' (महा. शान्ति. ३३०. २०) इति हि प्रसिद्धं कथमुच्यते तद्धामगतानां नास्ति निवृत्तिरिति? शृणु तत्र कारणम्—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

जीवलोकरूप इस शरीर में जीव मेरा ही सनातन अंश है जो सदा विषयोपभोग एवं गमनागमन के लिए षष्ठ मन के सहित गोलकस्थ इन्द्रियों को सदा आकर्षित करता रहता है॥७॥

ममैव परमात्मनोंऽशो भागोऽवयव एकदेश इत्यनर्थान्तरं जीवानां **लोके** संसारे **जीवभूतो** भोक्ता कर्तेति प्रसिद्धः **सनातनः**। यथा जलसूर्यकः सूर्यांशो जलनिमित्तापाये

सूर्यमेव गत्वा न निवर्तते तथाऽयमप्यंशस्तेनैवाऽऽत्मना संगच्छत्येवमेव यथा वा घटाद्युपाधिपरिच्छिन्नो घटाद्याकाश आकाशांशः सन्घटादिनिमित्तापाय आकाशं प्राप्य न निवर्तत इत्येवमत उपपन्नमुक्तं यद्गत्वा न निवर्तन्त इति। ननु निरवयवस्य परमात्मनः कुतोऽवयव एकदेशोंऽश इति। सावयवत्वे च विनाशप्रसङ्गोऽवयवविभागात्। नैष दोषोऽविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्न एकदेशोंऽश इव कल्पितो यतः। दर्शितश्चायमर्थः क्षेत्राध्याये विस्तरशः। स च जीवो मदंशत्वेन कल्पितः कथं संसरत्युत्क्रामति चेत्युच्यते—**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि** श्रोत्रादीनि **प्रकृतिस्थानि** स्वस्थाने कर्णशष्कुल्यादौ प्रकृतौ स्थितानि **कर्षत्याकर्षति**॥७॥

कस्मिन्काले—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात्॥ ८॥

जब देहस्वामी जिस शरीर को छोड़ता है और जिस दूसरे शरीर को ग्रहण करता है तब इस मन के सहित इन्द्रियों को ग्रहण कर वैसे ही जाता है जैसे पुष्प से गन्ध को लेकर पवन एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है॥८॥

यच्चापि यदा **चाप्युत्क्रामतीश्वरो** देहादिसंघातस्वामी जीवस्तदा कर्षतीति श्लोकस्य द्वितीयपादोऽर्थवशात्प्राथम्येन संबध्यते। यदा च पूर्वस्माच्छरीराच्छरीरान्तर**मवाप्नोति** तदा **गृहीत्वैतानि** मनःषष्ठानीन्द्रियाणि **संयाति** सम्यग्याति गच्छति। किमिवेत्याह—**वायुः** पवनो **गन्धानिवाऽऽशया**त्पुष्पादेः॥८॥

कानि पुनस्तानीति—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

श्रोत्र, चक्षु, त्वगिन्द्रिय, जिह्वा, घ्राण और छठा मन जो प्रत्येक इन्द्रियों के साथ इस देह में स्थित हो शब्दादि विषयों का उपभोग करता है॥९॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च त्वगिन्द्रियं **रसनं घ्राणमेव च मनश्च** षष्ठं प्रत्येकमिन्द्रियेण सह**अधिष्ठाय** देहस्थो **विषयाञ्**शब्दादी**नुपसेवते**॥९॥

एवं देहगतं देहात्—

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

पहले से गृहीत शरीर का परित्याग करते हुए, देह में रहते हुए, शब्दादि विषयों को भोगते हुए और सुख-दुःख एवं मोहाख्य गुणों से युक्त होते हुए भी इस आत्मा को विमूढ़ लोग नहीं देख पाते हैं, किन्तु ज्ञानचक्षु वाले लोग ही इसे देखते हैं॥१०॥

उत्क्रामन्तं परित्यजन्तं देहं पूर्वोपात्तं **स्थितं वा** देहे तिष्ठन्तं **भुञ्जानं वा** शब्दादींश्चोपलभमानं **गुणान्वितं** सुखदुःखमोहाख्यैर्गुणैरन्वितमनुगतं संयुक्तमित्यर्थः। एवंभूतमप्येनमत्यन्तदर्शनगोचरप्राप्तं **विमूढा** दृष्टादृष्टविषयभोगबलाकृष्टचेतस्तयाऽनेकधा मूढा **नानुपश्यन्त्य**हो कष्टं वर्तत इत्यनुक्रोशति च भगवान्। ये तु पुनः प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषस्त एनं **पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषो** विविक्तदृष्टय इत्यर्थः॥१०॥

केचित्तु—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

समाहितचित्त, यत्न करने वाले साधक अपने हृदय में स्थित इस प्रकृत आत्मा को देखते हैं किन्तु असंस्कृत अन्तःकरण वाले विवेक-हीन पुरुष यत्न करने पर भी इस आत्मा को नहीं देखते हैं ॥११॥

यतन्तः प्रयत्नं **कुर्वन्तो योगिनश्च** समाहितचित्ता **एनं** प्रकृतमात्मानं **पश्यन्त्ययमहमस्मीत्युपलभन्त आत्मनि** स्वस्यां बुद्धाववस्थितं **यतन्तोऽपि** शास्त्रादिप्रमाणै**रकृतात्मानो**ऽसंस्कृतात्मानस्तपसेन्द्रियजयेन च दुश्चरितादनुपरता अशान्तदर्पात्मानः प्रयत्नं कुर्वन्तोऽपि **नैनं पश्यन्त्यचेतसो**ऽविवेकिनः ॥११॥

यत्पदं सर्वस्यावभासकमप्यग्न्यादित्यादिकं ज्योतिर्नावभासयते यत्प्राप्ताश्च मुमुक्षवः पुनः संसाराभिमुखा न निवर्तन्ते यस्य च पदस्योपाधिभेदमनुविधीयमाना जीवा घटाकाशादय इवाऽऽकाशस्यांशास्तस्य पदस्य सर्वात्मत्वं सर्वव्यवहारास्पदत्वं च विवक्षुश्चतुर्भिः श्लोकैर्विभूतिसंक्षेपमाह भगवान्—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

आदित्यगत जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में है और जो तेज अग्नि में है उसे मेरा ही तेज समझो ॥१२॥

यदादित्यगतमादित्याश्रयं किं **तत्तेजो** दीप्तिः प्रकाशो **जगद्भासयते** प्रकाशयत्य**खिलं** समस्तं **यच्चन्द्रमसि** शशभृति तेजोऽवभासकं वर्तते **यच्चाग्नौ** हुतवहे **तत्तेजो विद्धि** विजानीहि **मामकं** मदीयं मम विष्णोस्तज्ज्योतिः। अथवा **यदादित्यगतं तेजश्चै**तन्यात्मकं ज्योतिर्य-

च्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकं मदीयं मम विष्णोस्तज्ज्योतिः। ननु स्थावरेषु जङ्गमेषु च तत्समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिस्तत्र कथमिदं विशेषणं यदादित्यगतमित्यादि। नैष दोषः। सत्त्वाधिक्यादाधिक्योपपत्तेः। आदित्यादिषु हि सत्त्वमत्यन्तप्रकाशमत्यन्तभास्वरमतस्तत्रैवाऽऽविस्तरां ज्योतिरिति तद्विशिष्यते, न तु तत्रैव तदधिकमिति। यथा हि लोके तुल्येऽपि मुखसंस्थाने न काष्ठकुड्यादौ मुखमाविर्भवत्यादर्शादौ तु स्वच्छे स्वच्छतरे च तारतम्येनाऽऽविर्भवति तद्वत्॥१२॥

किंच—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

मैं परमात्मा ही पृथ्वी में प्रवेश कर अपने बल से सम्पूर्ण जगत् को धारणा करता हूँ और रसात्मक सोम बनकर सभी औषधियों को पुष्ट करता हूँ॥१३॥

गां पृथिवीम**आविश्य** प्रविश्य **धारयामि भूतानि** जगद**हमोजसा** बलेन यद्बलं कामरागविवर्जितमैश्वरं जगद्विधारणाय पृथिव्यां प्रविष्टं येन गुर्वी पृथिवी नाधः पतति न विदीर्यते च। तथा च मन्त्रवर्णः—"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (तै. सं. ४.१.८) इति। "स दाधार पृथिवीम्" (ऋ.सं. ८.७.३.१) इत्यादिश्च। अतो गामाविश्य च भूतानि चराचराणि धारयामीति युक्तमुक्तम्। किंच पृथिव्यां जाता **ओषधीः सर्वाः** व्रीहियवाद्याः **पुष्णामि** पुष्टिमती रसस्वादुमतीश्च करोमि **सोमो भूत्वा रसात्मकः** सोमः सर्वरसात्मको रसस्वभावः सर्वरसानामाकरः सोमः स हि सर्वा ओषधीः स्वात्मरसानुप्रवेशेन पुष्णाति॥१३॥

किंच—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

मैं परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियों के देहाश्रित वैश्वानर अग्नि बनकर एवं प्राणापान से संयुक्त होकर चतुर्विध अन्न को पचाता हूँ॥१४॥

अहमेव वैश्वानर उदरस्थोऽग्निर्भूत्वा "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" (बृ. ५.९.१) इत्यादिश्रुतेर्वैश्वानरः सन्**प्राणिनां** प्राणवतां **देहमाश्रितः** प्रविष्टः **प्राणापानसमायुक्तः** प्राणापानाभ्यां समायुक्तः संयुक्तः **पचामि** पक्तिं करोमि **चतुर्विधं** चतुष्प्रकारम**न्नम**शनं भोज्यं भक्ष्यं चोष्यं लेह्यं च, भोक्ता वैश्वानरोऽग्निर्भोज्यमन्नं सोमस्तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति पश्यतोऽन्नदोषलेपो न भवति॥१४॥

किंच—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

मैं परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट हूँ; अतः मुझ परमात्मा से ही सबको स्मृति होती है, ज्ञान होता है एवं इन दोनों का अपोहन (लोप) भी होता है। सभी वेदों के द्वारा जानने योग्य वेद्य पदार्थ मैं ही हूँ, वेदान्त का कर्ता तथा वेदार्थ ज्ञाता भी मैं हूँ॥१५॥

सर्वस्य प्राणिजातस्या**ह**मात्मा सन्**हृदि** बुद्धौ **संनिविष्टो**ऽतो **मत्त** आत्मनः सर्वप्राणिनां **स्मृतिर्ज्ञानं** तद**पोहनं च**। येषां पुण्यकर्मिणां पुण्यकर्मानुरोधेन ज्ञानस्मृती

भवतस्तथा पापकर्मिणां पापकर्मानुरूपेण स्मृतिज्ञानयोरपोहनं चापायनमपगमनं च। **वेदैश्च सर्वैरहमेव** परमात्मा **वेद्यो** वेदितव्यो **वेदान्तकृद्** वेदान्तार्थसंप्रदायकृदित्यर्थः। **वेदविद्वेदार्थविदेव चाहम्** ॥१५॥

भगवत ईश्वरस्य नारायणाख्यस्य विभूतिसंक्षेप उक्तो विशिष्टोपाधिकृतो 'यदादित्यगतं तेजः' (गी. १५.१२) इत्यादिना। अथाधुना तस्यैव क्षराक्षरोपाधिप्रविभक्ततया निरुपाधिकस्य केवलस्य स्वरूपनिर्दिधारयिषयोत्तरश्लोका आरभ्यन्ते। तत्र सर्वमेवातीतानागतानन्तराध्यायार्थजातं त्रिधा राशीकृत्याऽऽह—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

लोक में क्षर एवं अक्षर, ऐसे दो पुरुष कहे गये हैं; उनमें समस्त विकार भूत समुदाय क्षर पुरुष कहा जाता है और कूटस्थ को अक्षर कहते हैं॥१६॥

द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ **पुरुषावित्युच्येते लोके** संसारे। **क्षरश्च** क्षरतीति क्षरो विनाश्येको राशिरपरः पुरुषोऽक्षरस्तद्विपरीतो भगवतो मायाशक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजमनेकसंसारिजन्तुकामकर्मादिसंस्काराश्रयोऽ**क्षरः** पुरुष उच्यते। कौ तौ पुरुषावित्याह स्वयमेव भगवान्**क्षरः सर्वाणि भूतानि** समस्तं विकारजातमित्यर्थः। **कूटस्थः** कूटो राशी राशिरिव स्थितः। अथवा कूटो माया वञ्चना जिह्मता कुटिलतेति पर्यायाः। अनेकमायादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीत्यक्षर **उच्यते** ॥१६॥

आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

किन्तु उत्तम पुरुष इनसे भिन्न ही है जो परमात्मा–इस नाम से कहा गया है और जो अविनाशी, नियन्ता, तीनों लोकों में प्रवेश कर सबका पोषण करता है॥१७॥

उत्तम उत्कृष्टतमः **पुरुषस्त्वन्यो**ऽत्यन्तविलक्षण आभ्यां **परमात्मेति** परमश्चासौ देहाद्यविद्याकृतात्मभ्य आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्यु**दाहृत** उक्तो वेदान्तेषु। स एव विशेष्यते **यो लोकत्रयं** भूर्भुवः स्वराख्यं स्वकीयया चैतन्यबलशक्त्याऽऽ**विश्य** प्रविश्य **बिभर्ति** स्वरूपसद्भावमात्रेण बिभर्ति धारयत्य**व्ययो** नास्य व्ययो विद्यत इत्यव्यय **ईश्वरः** सर्वज्ञो नारायणाख्य ईशनशीलः॥१७॥

यथाव्याख्यातस्येश्वरस्य पुरुषोत्तम इत्येतन्नाम प्रसिद्धं तस्य नामनिर्वचनप्रसिद्धार्थवत्त्वं नाम्नो दर्शयन्निरतिशयोऽहमीश्वर इत्यात्मानं दर्शयति भगवान्—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

क्योंकि क्षर से मैं अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ। इसीलिए मैं लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ॥१८॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहं संसारमायावृक्षमश्वत्था- ख्यमतिक्रान्तोऽह**मक्षरादपि** संसारवृक्षबीजभूतादपि **चोत्तम** उत्कृष्टतम ऊर्ध्वतमो वा**ऽतः** क्षराक्षराभ्यामुत्तमत्वा**दस्मि** भवामि **लोके वेदे च प्रथितः** प्रख्यातः **पुरुषोत्तम** इत्येवं मां

भक्तजना विदुः कवयः काव्यादिषु चेदं नाम निबध्नन्ति पुरुषोत्तम इत्यनेनाभिधानेनाभिगृणन्ति ॥१८॥

अथेदानीं यथानिरुक्तमात्मानं यो वेद तस्येदं फलमुच्यते—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

जो सम्मोह रहित पुरुष पूर्वोक्त रीति से मुझे पुरुषोत्तम जानता है, हे भारत! वह सर्ववित् पुरुष सर्वात्मचित्त हो मेरा भजन करता है॥१९॥

यो **मामीश्वरं** यथोक्तविशेषण**मेवं** यथोक्तेन प्रकारेणा**संमूढः** संमोहवर्जितः स**ञ्जानात्य**यमहमस्मीति **पुरुषोत्तमं स सर्ववित्**सर्वात्मना सर्वं वेत्तीति सर्वज्ञः सर्वभूतस्थं **भजति मां सर्वभावेन** सर्वात्मचित्ततया हे **भारत**॥१९॥

अस्मिन्नध्याये भगवत्तत्त्वज्ञानं मोक्षफलमुक्त्वाऽथेदानीं तत्स्तौति—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

आदितः श्लो. ५७०

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस अत्यन्त गोपनीय शास्त्र को मैंने कहा है, हे भारत! इसे जानकर ज्ञानी पुरुष कृतकृत्य हो जाता है॥२०॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित पुरुषोत्तमयोगनामक पञ्चदश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१५॥

इत्येतद्गुह्यतमं गोप्यतममत्यन्तरहस्यमित्येतत्। किं तच्छास्त्रम्। यद्यपि गीताख्यं समस्तं शास्त्रमुच्यते तथाऽप्ययमेवाध्याय इह **शास्त्रमित्युच्यते** स्तुत्यर्थं, प्रकरणात्। सर्वो हि गीताशास्त्रार्थोऽस्मिन्नध्याये समासेनोक्तो न केवलं, सर्वश्च वेदार्थ इह परिसमाप्तो 'यस्तं वेद स वेदवित्' (गी. १५.१) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गी. १५.१५) इति चोक्तम्। **इदमुक्तं** कथितं **मया** हेऽनघापाप। **एतच्छास्त्रं** यथादर्शितार्थं **बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्याद्**भवेन्नान्यथा **कृतकृत्यश्च भारत** कृतं कृत्यं कर्तव्यं येन स कृतकृत्यो विशिष्टजन्मप्रसूतेन ब्राह्मणेन यत्कर्तव्यं तत्सर्वं भगवत्तत्त्वे विदिते कृतं भवेदित्यर्थः। न चान्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिदित्यभिप्रायः।

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गी. ४.३३) इति चोक्तम्।

एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥
(मनु. १२.९३)

इति च मानवं वचनम्। यत एतत्परमार्थतत्त्वं मत्तः श्रुतवानसि ततः कृतार्थस्त्वं भारतेति॥२०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

दैव्यासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो नवमेऽध्याये सूचितास्तासां विस्तरेण प्रदर्शनायाभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादिरध्याय आरभ्यते, तत्र संसारमोक्षाय दैवी प्रकृतिर्निबन्धनायाऽऽसुरी राक्षसी चेति दैव्या आदानाय प्रदर्शनं क्रियत इतरयोः परिवर्जनाय—

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अभीरुता, व्यवहार में अन्तःकरण की संशुद्धि, ज्ञान और योग में पूर्णनिष्ठा, अन्नादि का यथाशक्ति दान, बाह्य इन्द्रियों का उपशम रूप दम, अग्निहोत्रादि श्रौत यज्ञ और देवयज्ञादि स्मार्त यज्ञ का अनुष्ठान, अदृष्ट के लिए ऋग्वेदादि का अध्ययन, शारीरादि त्रिविध तप और सदा सरलता (ये दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुणों में से नौ गुण इस में बतलाये गये)॥ १॥

अभयमभीरुता **सत्त्वसंशुद्धिः** सत्त्वस्यान्तःकरणस्य संव्यवहारेषु परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं शुद्धभावेन व्यवहार इत्यर्थः। **ज्ञानयोगव्यवस्थिति**र्ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्चाऽऽत्मादिपदार्थानामवगमोऽवगतानामिन्द्रियाद्युपसंहारेणैकाग्रतया स्वात्मसंवेद्यतापादनं योगस्तयोर्ज्ञानयोगयोर्व्यवस्थितिर्व्यवस्थानं तन्निष्ठतैषा प्रधाना दैवी सात्त्विकी संपत्। यत्र च येषामधिकृतानां या प्रकृतिः संभवति सात्त्विकी सोच्यते। **दानं** यथाशक्ति संविभागोऽन्नादीनां, **दमश्च** बाह्यकरणानामुपशमोऽन्तःकरणस्योपशमं शान्तिं वक्ष्यति, **यज्ञश्च** श्रौतोऽग्नि-

होत्रादिः, स्मार्तश्च देवयज्ञादिः, **स्वाध्याय** ऋग्वेदाद्यध्ययनम-दृष्टार्थं, **तपो** वक्ष्यमाणं शारीरादि, **आर्जवमृजुत्वं** सर्वदा ॥१॥

किंच—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥२॥

तथा— अहिंसा, सत्य, क्रोध का न होना, संन्यास, मन की शान्ति, पैशुन (पर दोष कहने) का अभाव, दुःखी प्राणियों पर दया, इन्द्रियों में लोलुप्ता का अभाव, कोमलता, शास्त्रनिषिद्ध आचरण में लज्जा का होना और निष्प्रयोजन व्यापार न करना (११ गुण)॥२॥

अहिंसाऽहिंसनं प्राणिनां पीडावर्जनं **सत्यमप्रिया-**नृतवर्जितं यथाभूतार्थवचनम्, **अक्रोधः** परैराक्रुष्टस्याभिहतस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्योपशमनं, **त्यागः** संन्यासः पूर्वं दान-स्योक्तत्वात्, **शान्तिरन्तः**करणस्योपशमः, **अपैशुनमपिशुनता** परस्मै पररन्ध्रप्रकटीकरणं पैशुनं तदभावोऽपैशुनं, **दया** कृपा **भूतेषु** दुःखितेषु, **अलोलुप्त्वमिन्द्रियाणां** विषयसंनिधा-वविक्रिया, **मार्दवं** मृदुताऽक्रौर्यं **ह्रीर्लज्जा, अचापलमसति** प्रयोजने वाक्पाणिपादादीनामव्यापारयितृत्वम्॥२॥

किंच—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥३॥

प्रागल्भ्य (बुद्धि की प्रखरता), किसी भी विपरीत स्थिति में विकार का न होना रूप क्षमा, देह इन्द्रियों में शिथिलता का न आना रूप धैर्य, बाह्याभ्यन्तर शौच, द्रोह का अभाव, अतिमानिता का न होना, हे भारत! दैवीसम्पत्ति को लेकर उत्पन्न हुए मनुष्य में ये सब गुण होते हैं (६ गुण हैं)॥३॥

तेजः प्रागल्भ्यं न त्वग्गता दीप्तिः **क्षमा**ऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वाऽन्तर्विक्रियानुत्पत्तिरुत्पन्नायां विक्रियायां प्रशमनमक्रोध इत्यवोचाम, इत्थं क्षमाया अक्रोधस्य च विशेषः, **धृति**र्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषो येनोत्तम्भितानि करणानि देहश्च नावसीदन्ति, **शौचं** द्विविधं मृज्जलकृतं बाह्यमाभ्यन्तरं च मनोबुद्ध्योर्नैर्मल्यं मायारागादिकालुष्याभाव एवं द्विविधं शौचम्, **अद्रोहः** परजिघांसाभावोऽहिंसनं, **नातिमानिता**ऽत्यर्थं मानोऽतिमानः स यस्य विद्यते सोऽतिमानी तद्भावोऽतिमानिता तदभावो नातिमानिताऽऽत्मनः पूज्यतातिशयभावनाभाव इत्यर्थः। **भवन्त्य**भयादीन्येतदन्तानि **संपदमभिजातस्य।** किंविशिष्टां संपदं? **दैवीं** देवानां संपदमभिलक्ष्य जातस्य दैवविभूत्यर्हस्य भाविकल्याणस्येत्यर्थो हे **भारत**॥३॥

अथेदानीमासुरी संपदुच्यते—

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥४॥

दम्भ, दर्प (धन-परिवार का घमण्ड), अतिमान, क्रोध, कठोर भाषण और अज्ञान-ये सब अवगुण आसुरी सम्पत्ति को लेकर उत्पन्न हुए व्यक्ति में माने गये हैं॥४॥

दम्भो धर्मध्वजित्वम्, **दर्पो** धनं स्वजनादिनिमित्त उत्सेको**ऽतिमानः** पूर्वोक्तः **क्रोधश्च, पारुष्यमेव च** परुषवचनं यथा काणं चक्षुष्मान्, विरूपं रूपवान्, हीनाभिजनमुत्तमाभिजन इत्यादि। **अज्ञानं** चाविवेकज्ञानं मिथ्याप्रत्ययः कर्तव्याकर्तव्यादिविषयम**भिजातस्य पार्थ।** किमभिजातस्येत्याह—असुराणां संपदासुरी तामभिजातस्येत्यर्थः॥४॥

अनयोः संपदोः कार्यमुच्यते—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिए और आसुरीसम्पत्ति बन्धन के लिये मानी गयी है। हे पाण्डुनन्दन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पत्ति को लेकर उत्पन्न हुआ है॥५॥

दैवी संपद्या सा विमोक्षाय संसारबन्धनात्, **निबन्धाय** नियतो बन्धो निबन्धस्तदर्थ**मासुरी संपन्मता**ऽभिप्रेता तथा राक्षसी। तत्रैवमुक्तेऽर्जुनस्यान्तर्गतं भावं किमहमासुरसंपद्युक्तः किंवा दैवसंपद्युक्त इत्येवमालोचनारूपमालक्ष्याऽऽह भगवान्**मा शुचः** शोकं मा कार्षीः **संपदं दैवीमभिजातो**ऽस्यभिलक्ष्य जातोऽसि भाविकल्याणस्त्वमसीत्यर्थो हे **पाण्डव**॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६ ॥

इस लोक में भूतों (मनुष्यों) का सर्ग (सृष्टि) दो प्रकार का है, एक दैव और दूसरा आसुर। इनमें से दैव सर्ग विस्तार से कहा जा चुका। हे पार्थ! अब तू मुझसे आसुर सर्ग को सुन॥६॥

द्वौ भूतेति। **द्वौ** द्विसंख्याकौ **भूतसर्गौ** भूतानां मनुष्याणां सर्गौ सृष्टी भूतसर्गौ सृज्येते इति सर्गौ भूतान्येव सृज्यमानानि दैवासुरसंपद्युक्तानि द्वौ भूतसर्गावित्युच्येते। "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" (बृ. १.३.१) इति श्रुतेः। **लोकेऽस्मिन्**संसार इत्यर्थः। सर्वेषां द्वैविध्योपपत्तेः। कौ तौ भूतसर्गावित्युच्येते— प्रकृतावेव **दैव आसुर एव च**। उक्तयोरेव पुनरनुवादे प्रयोजनमाह — **दैवो** भूतसर्गोऽभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादिना **विस्त-**

रशो विस्तरप्रकारैः **प्रोक्तः** कथितो न त्वासुरो विस्तरशोऽतस्तत्परिवर्जनार्थमासुरं **पार्थ मे** मम वचनादुच्यमानं विस्तरशः **शृण्व**वधारय॥६॥

आऽध्यायपरिसमाप्तेरासुरी संपत्प्राणिविशेषणत्वेन प्रदर्श्यते प्रत्यक्षीकरणेन च शक्यतेऽस्याः परिवर्जनं कर्तुमिति—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥७॥

आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्य प्रवृत्ति (पारमार्थिक कर्त्तव्य) और (अनर्थकारण से) निवृत्ति को नहीं जानते हैं; उनमें न शौच होता है, न आचार और न सत्य ही होता है॥७॥

प्रवृत्तिं च प्रवर्तनं यस्मिन्पुरुषार्थसाधने कर्तव्ये प्रवृत्तिस्तां **निवृत्तिं च** तद्विपरीतां यस्मादनर्थहेतोर्निवर्तितव्यं सा निवृत्तिस्तां च **जना आसुरा न विदुर्न** जानन्ति। न केवलं प्रवृत्तिनिवृत्ती एव न विदुर्न **शौचं नापिचाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते।** अशौचा अनाचारा मायाविनोऽनृतवादिनो ह्यासुराः॥७॥

किंच—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥८॥

वे जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठ और अनीश्वर कहते हैं (उनके अनुसार जगत् की उत्पत्ति में धर्माधर्म और ईश्वर निमित्त नहीं है)। काम से प्रेरित स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है; इसलिए जीवन का चरमलक्ष्य कामोपभोग ही है, दूसरा क्या हो सकता है॥८॥

असत्यं यथा वयमनृतप्रायास्तथेदं जगत्सर्वमसत्यम-

प्रतिष्ठं च नास्य धर्माधर्मौ प्रतिष्ठाऽतोऽप्रतिष्ठं चेति **त** आसुरा जना **जगदाहुरनीश्वरं** न च धर्माधर्मसव्यपेक्षकोऽस्य शासितेश्वरो विद्यत इत्यतोऽनीश्वरं जगदाहुः। **किंचापरस्परसंभूतं** कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यसंयोगाज्जगत्सर्वं संभूतम्। **किमन्यत्कामहैतुकं** कामहेतुकमेव कामहैतुकं किमन्यज्जगतः कारणं न किंचिददृष्टं धर्माधर्मादि कारणान्तरं विद्यते जगतः काम एव प्राणिनां कारणमिति लोकायतिकदृष्टिरियम्॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥

ऐसी दृष्टि का आलम्बनकर नष्टस्वभाव (परलोक साधन विहीन स्वभाव), अल्पबुद्धि, क्रूरकर्म करने वाले, संसार के शत्रु, जगत् के विनाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं॥९॥

एतामिति। **एतां दृष्टिमवष्टभ्याऽऽश्रित्य नष्टात्मानो** नष्टस्वभावा विभ्रष्टपरलोकसाधना **अल्पबुद्धयो** विषयविषयाऽल्पैव बुद्धिर्येषां तेऽल्पबुद्धयः **प्रभवन्त्युद्भवन्त्युग्रकर्माणः** क्रूरकर्माणो हिंसात्मकाः **क्षयाय जगतः** प्रभवन्तीति संबन्धः। जगतो**ऽहिताः** शत्रव इत्यर्थः॥९॥

ते च —

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

जो कभी भी पूर्ण न होने वाली इच्छाविशेष है उसका आश्रय लेकर जो दम्भ, मान और मद से युक्त होते हैं, इसीलिए अविवेक के कारण अशुभ निश्चय को ग्रहणकर लोक में प्रवृत्त होते हैं, जिनके संकल्प एवं अनुष्ठान अत्यन्त अपवित्र हुआ करते हैं॥१०॥

काममिच्छाविशेषमाश्रित्यावष्टभ्य दुष्पूरमशक्यपूरणं दम्भमानमदान्विता दम्भश्च मानश्च मदश्च दम्भमानमदास्तैरन्विता दम्भमानमदान्विता **मोहादविवेकतो गृहीत्वो**पादाया**सद्ग्राहान**शुभनिश्चयान्**प्रवर्तन्ते** लोके**ऽशुचिव्रता** अशुचीनि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

किं च —

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥११॥

मरणपर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं के आश्रय लेने वाले शब्दादि-विषयभोग परायण लोग जीवन का इतना ही लक्ष्य निश्चित किये बैठे हैं।

चिन्तामपरिमेयां च न परिमातुं शक्यते यस्याश्चिन्ताया इयत्ता साऽपरिमेया तामपरिमेयां **प्रलयान्तां** मरणान्ता**मुपाश्रिताः** सदा चिन्तापरा इत्यर्थः। **कामोपभोगपरमाः,** काम्यन्त इति कामाः शब्दादयस्तदुपभोगपरमाः, अयमेव परमः पुरुषार्थो यः कामोपभोग इत्येवंनिश्चितात्मान **एतावदितिनिश्चिताः** ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

सैकड़ों आशापाशों से वे बँधे होते हैं, काम एवं क्रोध जिनका परम आश्रय है ऐसे लोग कामोपभोग के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ का सञ्चय करना चाहते हैं ॥१२॥

आशापाशेति। **आशापाशशतै**राशा एव पाशास्तच्छतैराशापाशशतै**र्बद्धा** नियन्त्रिताः सन्तः सर्वत आकृष्यमाणाः **कामक्रोधपरायणाः** कामक्रोधौ परमयनं पर आश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः, **ईहन्ते** चेष्टन्ते

कामभोगार्थं कामभोगप्रयोजनाय न धर्मार्थम**न्यायेनार्थ-संचयान**र्थप्रचयानन्यायेन परस्वापहरणादिनेत्यर्थः ॥१२॥

ईदृशश्च तेषामभिप्रायः—

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥

आज इतना द्रव्य मैं प्राप्त कर चुका हूँ, कल इतना और प्राप्त कर लूँगा, जो गो-हिरण्यादि द्रव्य मेरे मन की तुष्टि का कारण बनेगा। आज मेरे पास इतना धन है, अगले वर्ष इतना और हो जायेगा जिसमें मैं विख्यात धनवान् हो जाऊँगा॥१३॥

इदं द्रव्यमद्येदानीं **मया लब्धमिदमन्यत्प्राप्स्ये मनोरथं** मनस्तुष्टिकर**मिदं** चा**स्तीदमपि मे भविष्य**त्यागामिनि संवत्सरे **पुनर्धनं** तेनाहं धनी विख्यातो भविष्यामि॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा जा चुका है और दूसरों को भी मैं मार डालूँगा। (ये भिखारी मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं।) मैं ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ॥१४॥

असौ मयेति। **असौ** देवदत्तनामा **मया हतो** दुर्जयः **शत्रुः, हनिष्ये** चान्यान्वराका**नपरानपि** किमेते करिष्यन्ति तपस्विनः सर्वथाऽपि नास्ति मत्तुल्य **ईश्वरोऽहमहं भोगी** सर्वप्रकारेण च **सिद्धोऽहं** संपन्नः पुत्रैः पौत्रैर्नप्तृभिर्न केवलं मानुषोऽहं **बलवान्सुखी** चाहमेवान्ये तु भूमिभारायावतीर्णाः ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

उद्धर्षगति - विवेक बढ़ने की सम्भावना, सुख देने वाली स्थिति, अनुकूल परिस्थिति।
अधर्षगति - अविवेक, दुःख देने वाली स्थिति, प्रतिकूल परिस्थिति।

विद्या, आचरण, धन और परिवारजनों के कारण मैं आढ्य (सम्पन्न) हूँ, मेरे समान दूसरा कौन हो सकता है, मैं याग करूँगा, दान दूँगा, आमोद-प्रमोद करूँगा, अज्ञान से अत्यन्त मोहग्रस्त लोग इस प्रकार मानते और बोलते हैं॥१५॥

आढ्य इति। **आढयो** धनेनाभिजनेना**भिजनवान्**सप्त-पुरुषं श्रोत्रियत्वादिसंपन्नस्तेनापि न मम तुल्योऽस्ति कश्चि-**त्कोऽन्योऽस्ति सदृशस्तुल्यो मया,** किंच **यक्ष्ये** यागेना-प्यन्यानभिभविष्यामि **दास्यामि** नटादिभ्यो **मोदिष्ये** हर्षं चातिशयं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानेन विमोहिता **अज्ञानविमो-हिता** विविधमविवेकभावमापन्नाः॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

उक्त रीति से नाना चित्तवृत्तियों के कारण जो विभ्रान्त हैं एवं अविवेक जाल से आवृत हैं और जो विषयोपभोग में अत्यन्त आसक्त हैं, वे रौरवादि अपवित्र नरकों में पड़ते हैं॥

अनेकेति। **अनेकचित्तविभ्रान्ता** उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तै-र्विविधं भ्रान्ता अनेकचित्तविभ्रान्ता **मोहजालसमावृता** मोहो-ऽविवेकोऽज्ञानं तदेव जालमिवाऽऽवरणात्मकत्वात्तेन समावृताः **प्रसक्ताः कामभोगेषु** तत्रैव निषण्णाः सन्तस्तेनोपचि-तकल्मषाः **पतन्ति नरकेऽशुचौ** वैतरण्यादौ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

वे अपने आप को सर्वगुणविशिष्ट मानते हैं, विनयभाव से शून्य होते हैं और धन के कारण होने वाले मान और मद से युक्त होते हैं, ऐसे लोग नाममात्र के यज्ञ द्वारा यजन करते हैं, वह भी दम्भपूर्वक और बिना विधि-विधान के॥१७॥

आत्मेति। **आत्मसंभाविताः** सर्वगुणविशिष्टतयाऽऽत्मनैव संभाविता आत्मसंभाविता न साधुभिः, **स्तब्धा** अप्रणतात्मानो **धनमानमदान्विता** धननिमित्तो मानो मदश्च ताभ्यां धनमानमदाभ्यामन्विता **यजन्ते नामयज्ञै**र्नाममात्रैर्यज्ञैस्**ते दम्भेन** धर्मध्वजितया**ऽविधिपूर्वकं** विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितैः ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के आश्रित वे रहते हैं। ऐसे लोग अपने एवं दूसरे के शरीर में स्थित मुझ परमेश्वर के साथ भी द्वेष करते हैं एवं सन्मार्गस्थ सन्तों के गुणों में दोष देखते रहते हैं॥१८॥

अहमिति। **अहंकार**महंकरणमहंकारो विद्यमानैरविद्यमानैश्च गुणैरात्मन्यध्यारोपितैर्विशिष्टमात्मानमहमिति मन्यते सोऽहंकारोऽविद्याख्यः कष्टतमः सर्वदोषाणां मूलं सर्वानर्थप्रवृत्तीनां च तथा **बलं** पराभिभवनिमित्तं कामरागान्वितं **दर्पं** दर्पो नाम यस्योद्भवे धर्ममतिक्रामति सोऽयमन्तःकरणाश्रयो दोषविशेषः **कामं** स्त्र्यादिविषयं **क्रोध**मनिष्टविषयमेतानन्यांश्च महतो दोषान्**संश्रिताः**। किंच ते **मा**मीश्वर**मात्मपरदेहेषु** स्वदेहे परदेहेषु च तद्बुद्धिकर्मसाक्षिभूतं मां **प्रद्विषन्तो** मच्छासनातिवर्तित्वं प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तो**ऽभ्यसूयकाः** सन्मार्गस्थानां गुणेष्वसहमानाः ॥१८॥ परदोषकथन (निन्दा करें)।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेषी, क्रूर, संसार में नीच एवं अशुभ कर्म करने वालों को मैं सदा आसुरीयोनि में ही पटकता रहता हूँ॥१९॥

तानहमिति। **तानहं** सर्वान्सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान्साधुद्वेषिणो **द्विषतश्च** मां **क्रूरान्संसारेष्वेव** नरकसंसरणमार्गेषु **नराधमानधर्मदोषवत्त्वात्क्षिपामि** प्रक्षिपाम्य**जस्त्रं** संततम**शुभा**नशुभकर्मकारिण **आसुरीष्वेव** क्रूरकर्मप्रायासु व्याघ्रसिंहादि**योनिषु** क्षिपामीत्यनेन संबन्धः॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

हे अर्जुन! आसुरी योनि में गये हुए वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्मान्तर में भी मुझे न प्राप्तकर उससे भी नीच गति में जाते हैं॥२०॥

आसुरीमिति। **आसुरीं योनिमापन्नाः** प्रतिपन्ना **मूढा जन्मनि जन्मन्य**विवेकिनः प्रतिजन्म तमोबहुलास्वेव योनिषु जायमाना अधो गच्छन्तो मूढा **मामी**श्वर**मप्राप्या**नासाद्यै**व** हे **कौन्तेय ततस्त**स्मादपि **यान्त्यधमां** निकृष्टतमां **गतिम्**। मामप्राप्यैवेति न मत्प्राप्तौ काचिदप्याशङ्काऽस्त्यतो मच्छिष्टसाधुमार्गमप्राप्येत्यर्थः॥२०॥

सर्वस्या आसुर्याः संपदः संक्षेपोऽयमुच्यते, यस्मिंस्त्रिविधे सर्व आसुरसंपद्भेदोऽनन्तोऽप्यन्तर्भवति, यत्परिहारेण परिहृतश्च भवति, यन्मूलं सर्वस्यानर्थस्य तदेतदुच्यते—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

आत्मा के नाशक काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं। इसलिए उन तीनों का त्याग कर देना चाहिए॥२१॥

त्रिविधं त्रिप्रकारं **नरकस्य** प्राप्ता**विदं द्वारं नाशनमात्मनो** यद्द्वारं प्रविशन्नेव नश्यत्यात्मा कस्मैचित्पुरुषार्थाय

योग्यो न भवतीत्येतदत उच्यते—द्वारं नाशनमात्मन इति। किं तत्काम: **क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।** यत एतद्द्वारं नाशनमात्मनस्तस्मात्कामादित्रयमेतत्त्यजेत्॥२१॥

त्यागस्तुतिरियम्—

एतैर्विमुक्त: कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर:।
आचरत्यात्मन: श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जो मनुष्य इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त रहता है वह आत्मकल्याण के लिए आचरण करता है और उसके फ़ल-स्वरूप परागति को प्राप्त करता है॥२२॥

एतैरिति। **एतैर्विमुक्त: कौन्तेय तमोद्वारै**स्तमसो नरकस्य दु:खमोहात्मकस्य द्वाराणि कामादयस्तैरेतै**स्त्रिभिर्वि-मुक्तो नर आचरत्य**नुतिष्ठति। कि**मात्मन: श्रेयो** यत्प्रति-बद्ध: पूर्वं नाऽऽचरति तदपगमादाचरति **ततस्त**दाचरणा**द्याति परां गतिं** मोक्षमपीति॥२२॥

सर्वस्यैतस्याऽऽसुरसंपत्परिवर्जनस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रं शास्त्रप्रमाणादुभयं शक्यं कर्तुं नान्यथाऽत:—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

जो शास्त्रविधि का परित्याग कर स्वेच्छापूर्वक वर्ताव करता है वह न पुरुषार्थ-योग्यतारूप सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख को और न स्वर्ग एवं मोक्ष को ही प्राप्त करता है॥२३॥

य: शास्त्रविधिं कर्तव्याकर्तव्यज्ञानकारणं विधिप्रतिषे-धाख्य**मुत्सृज्य** त्यक्त्वा **वर्तते कामकारत:** कामप्रयुक्त:

सन्न स सिद्धिं पुरुषार्थयोग्यतामाप्नोति। **नाप्यस्मिँल्लोके सुखं नापि परां** प्रकृष्टां **गतिं** स्वर्गं मोक्षं वा॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

आदितः श्लो. ५९४

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥१६॥

अतः कर्तव्याकर्तव्य के व्यवस्था विषय में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण है, अतः शास्त्रविधान को जानकर तुझे उक्त कर्म करना चाहिए॥२४॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित दैवासुरसंपद्विभागयोगनामक षोडश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१६॥

तस्मादिति। **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं** ज्ञानसाधनं **ते** तव **कार्याकार्यव्यवस्थितौ** कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थायामतो **ज्ञात्वा** बुद्ध्वा **शास्त्रविधानोक्तं** विधिर्विधानं शास्त्रमेव विधानं शास्त्रविधानं कुर्यान्न कुर्यादित्येवंलक्षणं तेनोक्तं स्व**कर्म** यत्त-त्**कर्तुमिहार्हसि**।इहेति कर्माधिकारभूमिप्रदर्शनार्थमिति॥२४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥१६॥

त्रयोदशाह्निकम्॥१३॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ सप्तदशोऽध्यायः

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' (गी. १६.२४) इति भगवद्वाक्याल्लब्धप्रश्नबीजः—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

हे श्रीकृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रानभिज्ञता के कारण शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धा से युक्त हो यजन करते हैं उनकी निष्ठा सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी है॥१॥

ये केचिदविशेषिताः **शास्त्रविधिं** शास्त्रविधानं श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदना**मुत्सृज्य** परित्यज्य **यजन्ते** देवादीन्पूजयन्ति श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः संयुक्ताः सन्तः श्रुतिलक्षणं स्मृतिलक्षणं वा कंचिच्छास्त्रविधिमपश्यन्तो वृद्धव्यवहारदर्शनादेव श्रद्दधानतया ये देवादीन्पूजयन्ति त इह ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते **श्रद्धयाऽन्विता** इत्येवं गृह्यन्ते। ये पुनः कंचिच्छास्त्रविधिमुपलभमाना एव तमुत्सृज्यायथाविधि देवादीन्पूजयन्ति त इह 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते' इति न परिगृह्यन्ते। कस्माच्छ्रद्धयाऽन्वितत्वविशेषणात्। देवादिपूजाविधिपरं किंचिच्छास्त्रं पश्यन्त एव तदुत्सृज्याश्रद्दधानतया तद्विहितायां देवादिपूजायां श्रद्धयाऽन्विताः प्रवर्तन्त इति न शक्यं कल्पयितुं यस्मात्तस्मात्पूर्वोक्ता एव 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः'

इत्यत्र गृह्यन्ते। **तेषामेवंभूतानां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः** किं सत्त्वं निष्ठाऽवस्थानमाहोस्विद्रजोऽथवा तमः। एतदुक्तं भवति या तेषां देवादिविषया पूजा सा किं सात्त्विक्याहोस्विद्राजस्युत तामसीति॥१॥

सामान्यविषयोऽयं प्रश्नो नाप्रविभज्य प्रतिवचनमर्हतीति—

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

हे अर्जुन! देहधारी जीव की वह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकार की होती है— सात्त्विकी, राजसी और तामसी; उसी को भेदपुरस्सर तू सुन॥२॥

त्रिविधा त्रिप्रकारा **भवति श्रद्धा**। यस्यां निष्ठायां त्वं पृच्छसि **देहिनां सा स्वभावजा**। जन्मान्तरकृतो धर्मादिसंस्कारो मरणकालेऽभिव्यक्तः स्वभाव उच्यते। ततो जाता स्वभावजा। **सात्त्विकी** सत्त्वनिर्वृत्ता देवपूजादिविषया, **राजसी** रजोनिर्वृत्ता यक्षरक्षःपूजादिविषया, **तामसी** तमोनिर्वृत्ता प्रेतपिशाचादिपूजाविषयैवं त्रिविधा **तामुच्यमानां श्रद्धां शृणु**॥२॥

सैवं त्रिविधा भवति—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय होता है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह पुरुष भी वैसा ही होता है॥३॥

सत्त्वानुरूपा विशिष्टसंस्कारोपेतान्तःकरणानुरूपा **सर्वस्य** प्राणिजातस्य **श्रद्धा भवति भारत!** यद्येनं ततः किं

स्यादित्युच्यते — **श्रद्धामयः** श्रद्धाप्रायोऽ**यं पुरुषः** संसारी जीवः। कथं? **यो यच्छ्रद्धो** या श्रद्धा यस्य जीवस्य स यच्छ्रद्धः **स एव** तच्छ्रद्धानुरूप एव **स** जीवः॥३॥

ततश्च कार्येण लिङ्गेन देवादिपूजया सत्त्वादिनिष्ठाऽनुमेयेत्याह—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विक पुरुष देवताओं की, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं और दूसरे तामस पुरुष भूत प्रेतगणों की पूजा करते हैं॥४॥

यजन्ते पूजयन्ति **सात्त्विकाः** सत्त्वनिष्ठा **देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः, प्रेतान्भूतगणांश्च** सप्तमातृकादींश्**चान्ये यजन्ते तामसा जनाः**॥४॥

एवं कार्यतो निर्णीताः सत्त्वादिनिष्ठाः शास्त्रविध्युत्सर्गे तत्र कश्चिदेव सहस्रेषु देवादिपूजातत्परः सत्त्वनिष्ठो भवति, बाहुल्येन तु रजोनिष्ठास्तमोनिष्ठाश्चैव प्राणिनो भवन्ति, कथम्—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

जो मनुष्य शास्त्राविहित घोर तप को दम्भ एवं अहंकार से युक्त हो काम एवं राग के बल से अन्वित होकर तपते हैं (उन्हें आसुर निश्चयवाला समझो)॥५॥

अशास्त्रविहितं न शास्त्रविहितमशास्त्रविहितं **घोरं**-पीडाकरं प्राणिनामात्मनश्च तपस्**तप्यन्ते** निर्वर्तयन्ति **ये तपो जनास्**ते च **दम्भाहंकारसंयुक्ता** दम्भश्चाहंकारश्च दम्भा-

हंकारौ ताभ्यां संयुक्ता दम्भाहंकारसंयुक्ताः **कामराग-बलान्विताः** कामश्च रागश्च कामरागौ तत्कृतं बलं काम-रागबलं तेनान्विताः कामरागबलैर्वाऽन्विताः ॥५॥

आविवेकी (मूर्ख)

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६ ॥

वे मूर्ख देह के रूप में स्थित भूतसमुदाय को और शरीर के भीतर आत्मरूप से स्थित मुझ परमेश्वर को कृश करते हैं, उन्हें तू आसुरनिश्चयवाला जान॥६॥

कर्शयन्त इति। **कर्शयन्तः** कृशीकुर्वन्तः **शरीरस्थं भूतग्रामं** करणसमुदाय**मचेतसो**ऽविवेकिनो **मां चैव** तत्कर्म-बुद्धिसाक्षिभूत**मन्तःशरीरस्थं** कर्शयन्तो मदनुशासनाकरणमेव मत्कर्शनं **तान्विद्ध्यासुरनिश्चयाना**सुरो निश्चयो येषां त आसुरनिश्चयास्तान्परिहरणार्थं विद्धीत्युपदेशः॥६॥

आहाराणां च रस्यस्निग्धादिवर्गत्रयरूपेण भिन्नानां यथाक्रमं सात्त्विकराजसतामसपुरुषप्रियत्वदर्शनमिह क्रियते, रस्यस्निग्धा-दिष्वाहारविशेषेष्वात्मनः प्रीत्यतिरेकेण लिङ्गेन सात्त्विकत्वं राज-सत्वं तामसत्वं च बुद्ध्वा रजस्तमोलिङ्गानामाहाराणां परिव-र्जनार्थं सत्त्वलिङ्गानां चोपादानार्थं तथा यज्ञादीनामपि सत्त्वादि-गुणभेदेन त्रिविधत्वप्रतिपादनमिह राजसतामसान्बुद्ध्वा कथं नु नाम परित्यजेत्सात्त्विकानेवानुतिष्ठेदित्येवमर्थम्—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥७॥

सभी मनुष्यों को आहार भी तीन प्रकार का प्रिय होता है। वैसे

आहार का गुण के साथ गहरा सम्बन्ध है। आहार सात्विक गुण वाला [illegible]

ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं, उनके इस त्रिविध भेद को तू मुझसे सुन॥७॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य भोक्तुस्त्रिविधो भवति प्रिय इष्टस्तथा यज्ञस्तथा तपस्तथा दानं तेषामाहारादीनां भेदमिमं वक्ष्यमाणं **शृणु**॥७॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥८॥

विशुद्ध जीवन ही आयु है, चित्त की स्थिरता और सामर्थ्य को सत्त्व कहते हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के सामर्थ्य को बल कहते हैं, नीरोगता आरोग्य है, अन्तराह्लाद सुख है और दूसरे व्यक्ति को सम्पन्न देखकर जो हर्ष होता है उसे प्रीति कहते हैं; इन सबको बढ़ाने वाले आहार जो रस से युक्त हों, स्निग्ध (चिकने) हों, देह में चिरकाल तक स्थिर रहें, हृदय को प्रिय लगते हों; ऐसे आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं॥८॥

आयुरिति। आयुश्च सत्त्वं च बलं चाऽऽरोग्यं च सुखं च प्रीतिश्च तासां विवर्धना **आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनास्ते** च **रस्या** रसोपेताः **स्निग्धाः** स्नेहवन्तः **स्थिराश्चि**रकालस्थायिनो देहे, **हृद्या** हृदयप्रिया **आहाराः सात्त्विकप्रियाः** सात्त्विकस्येष्टाः॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥९॥

अतितिक्त, अतिखट्टा, अति नमकीन, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, रुक्ष एवं दाहकारक आहार जो दुःख, शोक तथा रोग को बढ़ाने वाले हैं, वे राजस पुरुष को प्रिय लगते हैं॥९॥

कट्विति। कटुरम्लो लवणोऽत्युष्णोऽतिशब्दः कट्वादिषु

सर्वत्र योज्योऽतिकटुरतितीक्ष्ण इत्येवं **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदा** दुःखं च शोकं चाऽऽमयं च प्रयच्छन्तीति दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अधपका, रसहीन, दुर्गन्धियुक्त, बासी, जूठा और यज्ञ के अयोग्य अमेध्य भोजन तामस पुरुष को प्रिय लगते हैं ॥१०॥

यातयाममिति। **यातयामं** मन्दपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसेनोक्तत्वाद्‌**गतरसं** रसवियुक्तं **पूति** दुर्गन्धं **पर्युषितं** च पक्वं सद्रात्र्यन्तरितं च **यदुच्छिष्टमपि** च भुक्तशिष्टमप्यमेध्यमयज्ञार्हं **भोजन**मीदृशं **तामसप्रियम्** ॥१०॥

अथेदानीं यज्ञस्त्रिविध उच्यते—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

ऐहिक तथा पारलौकिक फल की इच्छा न रखने वाले पुरुष द्वारा शास्त्रविधि के अनुसार **'यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है'** इस रूप से मन को समाहितकर जब यज्ञ किया जाता है तब वह सात्त्विक कहलाता है ॥११॥

अफलाकाङ्क्षिभिरफलार्थिभि**र्यज्ञो विधिदृष्टः** शास्त्रचोदनादृष्टो **यो** यज्ञ **इज्यते** निर्वर्त्यते **यष्टव्यमेवेति** यज्ञस्वरूपनिर्वर्तनमेव कार्यमिति **मनः समाधाय** नानेन पुरुषार्थो मम कर्तव्य इत्येवं निश्चित्य **स सात्त्विको** यज्ञ उच्यते ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

किन्तु, हे भरतश्रेष्ठ! जब फल की इच्छा रखकर और दम्भार्थ भी जिस किसी अनुष्ठान को किया जाता है तब उस यज्ञ को राजस समझ॥१२॥

अभिसंधायेति। **अभिसंधाय**उद्दिश्य **फलं दम्भार्थमपि चैव यदिज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्**॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

शास्त्रविधि के विपरीत, ब्राह्मणादि अन्नाधिकारियों को जिस यज्ञ में अन्नदान नहीं दिया गया हो; मन्त्रतः, वर्णतः और स्वरतः भी जो हीन हो, जिसमें नियत दक्षिणा नहीं दी गयी हो और जिसके अनुष्ठान करने वाले में श्रद्धा न हो, ऐसे यज्ञ को तामस कहते हैं॥१३॥

विधिहीनमिति। **विधिहीनं** यथाचोदितविपरीतम्, **असृष्टान्नं** ब्राह्मणेभ्यो न सृष्टं न दत्तमन्नं यस्मिन्यज्ञे सोऽसृष्टान्नस्तमसृष्टान्नम्, **मन्त्रहीनं** मन्त्रतः स्वरतो वर्णतश्च वियुक्तं मन्त्रहीनम्, **अदक्षिणम्**उक्तदक्षिणारहितं **श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते** तमोनिर्वृत्तं कथयन्ति॥१३॥

अथेदानीं तपस्त्रिविधमुच्यते—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

देव, द्विज, गुरु, विद्वान्-इनकी पूजा; शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा; इन्हें शारीर तप कहते हैं॥१४॥

देवाश्च द्विजाश्च गुरवश्च प्राज्ञाश्च देवद्विजगुरुप्राज्ञास्तेषां

पूजनं **देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवमृजुत्वं ब्रह्मचर्यमहिंसा च** शरीरनिर्वर्त्यं **शारीरं** शरीरप्रधानैः सर्वैरेव कार्यकरणैः कर्त्रादिभिः साध्यं शारीरं **तप उच्यते**। 'पञ्चैते तस्य हेतवः' (गी. १८.१५) इति हि वक्ष्यति॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५ ॥

प्राणियों को उद्वेग न पहुँचाने वाला वाक्य जो सत्य, प्रिय और हितकारक भी हो; वैसे ही, शास्त्रविधि के अनुसार स्वाध्याय का अभ्यास भी वाङ्मय तप कहा गया है॥१५॥

अनुद्वेगेति। **अनुद्वेगकरं** प्राणिनामदुःखकरं **वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्**प्रियहिते दृष्टादृष्टार्थे। अनुद्वेगकरत्वादिभिर्धर्मैर्वाक्यं विशेष्यते। विशेषणधर्मसमुच्चयार्थश्चशब्दः। परप्रत्यायनार्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य सत्यप्रियहितानुद्वेगकरत्वानामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनता स्याद्यदि न तद्वाङ्मयं तपः। तथा सत्यवाक्यस्येतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनतायां न वाङ्मयतपस्त्वम्। तथा प्रियवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनस्य न वाङ्मयतपस्त्वम्। तथा हितवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा वियुक्तस्य न वाङ्मयतपस्त्वम्। किं पुनस्तत्तपो यत्सत्यं वाक्यमनुद्वेगकरं प्रियहितं च यत्तत्परमं तपो वाङ्मयम्। यथा शान्तो भव वत्स; स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ, तथा ते श्रेयो भविष्यति। **स्वाध्यायाभ्यसनं चैव** यथाविधि **वाङ्मयं तप उच्यते**॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मन में प्रशान्तिरूप स्वस्थतापादन, सौमनस्य (सबका हित चाहना), मौन (वाणीविषयक मनःसंयम), मन एवं इन्द्रियों का विशेष निग्रह और भाव की संशुद्धि (छलाभाव); ये मानस तप कहे जाते हैं॥१६॥

मन इति। **मनःप्रसादो** मनसः प्रशान्तिः स्वस्थतापादनं मनसः प्रसादः। **सौम्यत्वं** यत्सौमनस्यमाहुर्मुखादिप्रसादकार्याऽन्तःकरणस्य वृत्तिः, **मौनं** वाक्संयमोऽपि मनःसंयमपूर्वको भवतीति कार्येण कारणमुच्यते मनःसंयमो मौनमिति। **आत्मविनिग्रहो** मनोनिरोधः सर्वतः सामान्यरूप आत्मविनिग्रहो वाग्विषयस्यैव मनसः संयमो मौनमिति विशेषः। **भावसंशुद्धिः** परैर्व्यवहारकालेऽमायावित्वं भावसंशुद्धिरि**त्येतत्तपो मानसमुच्यते**॥१६॥

यथोक्तं कायिकं वाचिकं मानसं च तपस्तप्तं नरैः सत्त्वादिभेदेन कथं त्रिविधं भवतीत्युच्यते—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

फल न चाहने वाले समाहितचित्त मनुष्य के द्वारा उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त हो जब पूर्वोक्त त्रिविध तप किया जाता है, तब शिष्टपुरुष उसे सात्त्विक तप कहते हैं॥१७॥

श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या **परया** प्रकृष्टया **तप्त**मनुष्ठितं **तपस्तत्**प्रकृतं **त्रिविधं** त्रिप्रकारमधिष्ठानं **नरै**रनुष्ठातृभि**रफलाकाङ्क्षिभिः** फलाकाङ्क्षारहितै**र्युक्तैः** समाहितैर्यदीदृशं तपस्त**त्सात्त्विकं** सत्त्वनिर्वृत्तं **परिचक्षते** कथयन्ति शिष्टाः॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

सत्कार, मान, पूजा के लिए एवं दम्भार्थ जो कुछ भी तप किया जाता है उसे राजस तप कहा गया है जो नश्वर और कादाचित्कफलवाला होने के कारण अध्रुव कहा गया है॥१८॥

सत्कारेति। **सत्कारमानपूजार्थं** सत्कारः साधुकारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमर्थं मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादनादिस्तदर्थं पूजा पादप्रक्षालनार्चनाशयितृत्वादिस्तदर्थं च **तपः** सत्कारमानपूजार्थं **दम्भेन चैव यत्क्रियते** तप**स्तदिह प्रोक्तं** कथितं **राजसं चलं** कादाचित्कफलत्वे**नाध्रुवम्**॥१८॥

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥

अविवेकपूर्वक आत्मा को पीड़ा पहुँचाकर एवं दूसरों के अनिष्ट के लिए जो कुछ भी तप किया जाता है उसे तामस तप कहा गया है॥१९॥

मूढेति। **मूढग्राहेणा**विवेकनिश्चयेना**ऽऽत्मनः पीडया क्रियते यत्तपः परस्योत्सादनार्थं** विनाशार्थं **वा तत्तामसं** तप **उदाहृतम्**॥१९॥

इदानीं दानभेद उच्यते—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

मुझे दान देना चाहिए इस प्रकार मन को समाहितकर प्रत्युपकार करने में समर्थ या असमर्थ किसी भी व्यक्ति को देश, काल और पात्र का विचारकर जब दिया जाता है तब वह दान सात्त्विक कहा जाता है॥२०॥

दातव्यमित्येवं मनः कृत्वा **यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे** प्रत्युपकारासमर्थाय समर्थायापि निरपेक्षं दीयते

देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ **काले** संक्रान्त्यादौ **पात्रे च** षडङ्ग-विद्वेदपारग इत्यादौ **तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्**॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥

किन्तु जो दान प्रत्युपकार के लिए अथवा फलप्राप्ति के उद्देश्य से दुःखपूर्वक दिया जाता है वह दान राजस कहा गया है॥२१॥

यत्त्विति। **यत्तु** दानं **प्रत्युपकारार्थं** काले त्वयं मां प्रत्युपकरिष्यतीत्येवमर्थं **फलं वाऽ**स्य दानस्य मे भविष्यत्य-दृष्टमिति तदु**द्दिश्य पुनर्दीयते च परिक्लिष्टं** खेद-संयुक्तं **तद्राजसं स्मृतम्**॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

देश एवं काल का विचार न करके अपात्र को जो दान बिना सत्कार किये तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस कहा जाता है॥२२॥

अदेशेति। **अदेशकाले**ऽपुण्ये देशे म्लेच्छाशुच्यादिसं-कीर्णेऽकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रख्याते संक्रान्त्यादिविशेषरहितेऽ-**पात्रेभ्यश्च** मूर्खतस्करादिभ्यो देशादिसंपत्तौ **चासत्कृतं** प्रिय-वचनपादप्रक्षालनपूजादिरहित**मवज्ञातं** पात्रपरिभवयुक्तं **यद्दानं तत्तामसमुदाहृतम्**॥२२॥

यज्ञदानतपःप्रभृतीनां साद्गुण्यकरणायायमुपदेश उच्यते—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥

'ॐ', 'तत्' और 'सत्' ये तीन उस परमेश्वर के प्रसिद्ध नाम

हैं जिस परमेश्वर के इन प्रसिद्ध नामों से सर्गारम्भ में ब्राह्मणादि प्रजा, वेद एवं उनके कर्तव्यरूप से यज्ञ प्रकट हुए थे॥२३॥

ओं तत्सदित्येष निर्देशो निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देश-**स्त्रिविधो** नामनिर्देशो **ब्रह्मणः स्मृतश्चि**न्तितो वेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिः। **ब्राह्मणास्तेन** निर्देशेन त्रिविधेन **वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता** निर्मिताः **पुरा** पूर्वमिति निर्देशस्तुत्यर्थ-मुच्यते॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य　　यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥

अतः वेदवादियों की वेदविहित यज्ञ, दान एवं तप आदि क्रिया सदा 'ॐ' इस नाम का उच्चारणकर प्रवृत्त होती है॥२४॥

तस्मादोमित्युदाहृत्योच्चार्य **यज्ञदानतपःक्रिया** यज्ञादिस्वरूपाः क्रियाः **प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः** शास्त्रचोदिताः **सततं** सर्वदा **ब्रह्मवादिनां** ब्रह्मवदनशीलानाम्॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय　फलं　यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

'तत्' इस ब्रह्मनाम का उच्चारणकर और फल की इच्छा न रखते हुए मोक्षाभिलाषियों द्वारा विविध यज्ञ और तप क्रिया तथा दान क्रिया की जाती हैं॥२५॥

तदिति। **तदित्यनभिसंधाय** तदिति ब्रह्माभिधानमुच्चा-र्यानभिसंधाय च कर्मणः **फलं यज्ञतपःक्रिया** यज्ञक्रियाश्च तपःक्रियाश्च यज्ञतपःक्रिया **दानक्रियाश्च विविधाः** क्षेत्रहि-रण्यप्रदानादिलक्षणाः **क्रियन्ते** निर्वर्त्यन्ते **मोक्षकाङ्क्षिभि**-र्मोक्षार्थिभिर्मुमुक्षुभिः॥२५॥

ओंतच्छब्दयोर्विनियोग उक्तोऽथेदानीं सच्छब्दस्य विनियोगः कथ्यते—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥२६॥

असत् के सद्भाव पुत्रजन्मादि में और असद्वृत्ति की सद्वृत्तता असाधु के साधुभाव उत्पन्नादि में '**सत्**' (अच्छा हुआ) इस नाम का प्रयोग किया जाता है। हे पार्थ! वैसे ही (वैदिक) विवाहादि प्रशस्त कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग होता है॥२६॥

सद्भावेऽसतः सद्भावे यथाऽविद्यमानस्य पुत्रस्य जन्मनि तथा **साधुभावे**ऽसद्वृत्तस्यासाधोः सद्वृत्तता साधुभावस्तस्मिन्साधुभावे च **सदित्येत**दभिधानं ब्रह्मणः **प्रयुज्यते** तत्रोच्यतेऽभिधीयते **प्रशस्ते कर्मणि** विवाहादौ **च तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते** प्रयुज्यत इत्येतत्॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥२७॥

यज्ञ, तप और दान की जो स्थिति है उसे विद्वानों ने 'सत्' इस शब्द से कहा है एवं जिसके पूर्वोक्त तीनों नाम हैं तदर्थ कर्म भी '**सत्**' शब्द से कहा जाता है॥२७॥

यज्ञे यज्ञकर्मणि या **स्थिति**स्**तपसि** च या स्थिति**र्दाने** च या **स्थितिः** सा च **सदित्युच्यते** विद्वद्भिः, **कर्म चैव तदर्थीय**मथवा यस्याभिधानत्रयं प्रकृतं तदर्थीयं यज्ञदानतपोऽर्थीयमीश्वरार्थीयमित्येतत्। **सदित्येवाभिधीयते**। तदेतद्यज्ञदानतपआदिकर्मासात्त्विकं विगुणमपि श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणोऽभिधानत्रयप्रयोगेण सगुणं सात्त्विकं संपादितं भवति॥२७॥

तत्र च सर्वत्र श्रद्धाप्रधानतया सर्वं संपाद्यते यस्मात्तस्मात्—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

आदितः श्लोक ६२२

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

हे पार्थ! बिना श्रद्धा का किया हुआ होम, दिया हुआ दान, किया हुआ तप और जो कुछ भी कर्म है वह सब असत् इस शब्द से कहा जाता है; उसका न इस जन्म में और न मरने के बाद ही कुछ फल मिलता है॥२८॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी द्वारा रचित श्रद्धात्रयविभागयोगनामक सप्तदश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१७॥

अश्रद्धया हुतं हवनं कृतं, **दत्तं** च ब्राह्मणेभ्योऽश्रद्धया, **तपस्तप्तम**नुष्ठितमश्रद्धया, तथाऽश्रद्धयैव **कृतं** यत्स्तुतिनमस्कारादि, तत्सर्व**मसदित्युच्यते** मत्प्राप्तिसाधनमार्गबाह्यत्वात्**पार्थ! न च** तद्बहुलायासमपि **प्रेत्य** फलाय **नो** अपीहार्थं, साधुभिर्निन्दितत्वादिति॥२८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथाष्टादशोऽध्यायः

सर्वस्यैव गीताशास्त्रस्यार्थोऽस्मिन्नध्याय उपसंहृत्य सर्वश्च वेदार्थो वक्तव्य इत्येवमर्थोऽयमध्याय आरभ्यते। सर्वेषु ह्यतीतेष्वध्यायेषूक्तोऽर्थोऽस्मिन्नध्यायेऽवगम्यते। अर्जुनस्तु संन्यासत्यागशब्दार्थयोरेव विशेषं बुभुत्सुरुवाच—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १ ॥

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास का तत्त्व पृथक् से जानना चाहता हूँ और त्याग का तत्त्व भी पृथक् से जानना चाहता हूँ॥१॥

संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्येत्येतद्धे **महाबाहो तत्त्वं** तस्य भावस्तत्त्वं याथात्म्यमित्येत**दिच्छामि वेदितुं** ज्ञातुं **त्यागस्य च** त्यागशब्दार्थस्येत्येत**द्हृषीकेश पृथ**गितरेतरविभागतः। **केशिनिषूदन** केशिनामा हयच्छद्मा कश्चिदसुरस्तं निषूदितवान्भगवान्वासुदेवस्तेन तन्नाम्ना संबोध्यतेऽर्जुनेन॥१॥

तत्र तत्र निर्दिष्टौ संन्यासत्यागशब्दौ न निर्लुण्ठितार्थौ पूर्वेष्वध्यायेष्वतोऽर्जुनाय पृष्टवते तन्निर्णयाय—

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २ ॥

भगवान् ने कहा कि— विद्वानों ने काम्यकर्मों के परित्याग को संन्यास जाना है और पण्डित पुरुषों ने सर्वकर्मफलत्याग को त्याग कहा है॥२॥

काम्यानामश्वमेधादीनां कर्मणां न्यासं परित्यागं **संन्यासं** संन्यासशब्दार्थमनुष्ठेयत्वेन प्राप्तस्याननुष्ठानं **कवयः** पण्डिताः केचि**द्विदु**र्विजानन्ति। नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वकर्मणामात्मसंबन्धितया प्राप्तस्य फलस्य परित्यागः सर्वकर्मफलत्यागस्तं **प्राहुः** कथयन्ति **त्यागं** त्यागशब्दार्थं **विचक्षणाः** पण्डिताः। यदि काम्यकर्मपरित्यागः फलपरित्यागो वाऽर्थो वक्तव्यः सर्वथाऽपि त्यागमात्रं संन्यासत्यागशब्दयोरेकोऽर्थो न घटपटशब्दाविव जात्यन्तरभूतार्थौ। ननु नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां फलमेव नास्तीत्याहुः, कथमुच्यते तेषां फलत्याग इति। यथा वन्ध्यायाः पुत्रत्यागः। नैष दोषः। नित्यानामपि कर्मणां भगवता फलवत्त्वस्येष्टत्वात्। वक्ष्यति हि भगवाननिष्टमिष्टमिति न तु संन्यासिनामिति च संन्यासिनामेव हि केवलं कर्मफलासंबन्धं दर्शयन्नसंन्यासिनां नित्यकर्मफलप्राप्तिं 'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' (गी. १८.१२) इति दर्शयति॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥

कर्म सभी दोषयुक्त हैं इसलिए कुछ मनीषियों ने उसे त्याज्य कहा है अथवा दोष के समान कर्म भी त्याज्य हैं, ऐसे सांख्यदृष्टि के आश्रित अधिकृत कर्मियों के लिए भी कर्म का त्याग ही उचित है। इस सम्बन्ध में दूसरे विद्वानों ने कहा है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए॥३॥

त्याज्यं दोषेति। **त्याज्यं** त्यक्तव्यं **दोषवद्दो**षोऽस्यास्तीति दोषवत्। किं तत्**कर्म** बन्धहेतुत्वात्सर्वमेव। अथवा दोषो

यथा रागादिस्त्यज्यते तथा त्याज्य**मित्येके प्राहुर्मनीषिणः** पण्डिताः सांख्यादिदृष्टिमाश्रिता अधिकृतानां कर्मिणामपीति। तत्रैव **यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे**। कर्मिण एवाधिकृतास्तानपेक्ष्यैते विकल्पा न तु ज्ञाननिष्ठाव्युत्थायिनः संन्यासिनोऽपेक्ष्य। ज्ञानयोगेन सांख्यानां निष्ठा मया पुरा प्रोक्तेति कर्माधिकारादपोद्धृता ये न तान्प्रति चिन्ता।

ननु 'कर्मयोगेन योगिनाम्' (गी. ३.३) इत्यधिकृताः पूर्वं विभक्तनिष्ठा अपीह सर्वशास्त्रोपसंहारप्रकरणे यथा विचार्यन्ते तथा सांख्या अपि ज्ञाननिष्ठा विचार्यन्तामिति। न, तेषां मोहदुःखनिमित्तत्यागानुपपत्तेः। न कायक्लेशनिमित्तानि दुःखानि सांख्या आत्मनि पश्यन्तीच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वेनैव दर्शितत्वात्। अतस्ते न कायक्लेशदुःखभयात्कर्म परित्यजन्ति। नापि ते कर्माण्यात्मनि पश्यन्ति येन नियतं कर्म मोहात्परित्यजेयुः। गुणानां कर्म 'नैव किंचित्करोमीति' (गी. ५.८) हि ते संन्यस्यन्ति। 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' (गी. ५.१३) इत्यादिभिर्हि तत्त्वविदः संन्यासप्रकार उक्तः। तस्माद्येऽन्येऽधिकृताः कर्मण्यनात्मविदो येषां च मोहात्त्यागः संभवति कायक्लेशभयाच्च त एव तामसास्त्यागिनो राजसाश्चेति निन्द्यन्ते कर्मिणामनात्मज्ञानां कर्मफलत्यागस्तुत्यर्थम्।

'सर्वारम्भपरित्यागी' 'मौनी' 'संतुष्टो येन केनचित्' 'अनिकेतः स्थिरमतिः' इति गुणातीतलक्षणे च परमार्थसंन्यासिनो विशेषितत्वात्। वक्ष्यति च 'ज्ञानस्य या परा निष्ठा' इति। तस्माज्ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनो नेह विवक्षिताः।

कर्मफलत्याग एव सात्त्विकत्वेन गुणेन तामसत्वाद्यपेक्षया

संन्यास उच्यते न मुख्यः सर्वकर्मसंन्यासः। सर्वकर्मसंन्यासासंभवे च नहि देहभृतेति हेतुवचनान्मुख्य एवेति चेत्। न, हेतुवचनस्य स्तुत्यर्थत्वात्। यथा 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गी. १२.१२) इति कर्मफलत्यागस्तुतिरेव यथोक्तानेकपक्षानुष्ठानाशक्तिमन्तमर्जुनमज्ञं प्रति विधानात्तथेदमपि 'न हि देहभृता शक्यम्' (गी. १८.११) इति कर्मफलत्यागस्तुत्यर्थं वचनम्। न सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नास्त इत्यस्य पक्षस्यापवादः केनचिद्दर्शयितुं शक्यः। तस्मात्कर्मण्यधिकृतान्प्रत्येवैष संन्यासत्यागविकल्पः। ये तु परमार्थदर्शिनः सांख्यास्तेषां ज्ञाननिष्ठायामेव सर्वकर्मसंन्यासलक्षणायामधिकारो नान्यत्रेति न ते विकल्पार्हाः। तथोपपादितमस्माभिः 'वेदाविनाशिनम्' (गी. २.२१) इत्यस्मिन्प्रदेशे तृतीयादौ च॥३॥

तत्रैतेषु विकल्पभेदेषु—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४॥

हे भरतवंश में सर्वोत्तम सन्त अर्जुन! उक्त त्याग एवं संन्यास विकल्प के सम्बन्ध में मेरा निश्चय सुन। हे पुरुषसिंह! वह त्याग तीन प्रकार का कहा गया है॥४॥

निश्चयं शृण्वधारय **मे** मम वचनात्**तत्र त्यागे** त्यागसंन्यासविकल्पे यथादर्शिते **भरतसत्तम** भरतानां साधुतम। **त्यागो हि** त्यागसंन्यासशब्दवाच्यो हि योऽर्थः स एक एवेत्यभिप्रेत्याऽऽह—त्यागो हीति। **पुरुषव्याघ्र त्रिविध**स्त्रिप्रकारस्तामसादिप्रकारैः **संप्रकीर्तितः** शास्त्रेषु सम्यक्कथितः। यस्मात्तामसादिभेदेन त्यागसंन्यासशब्दवाच्योऽर्थोऽधिकृतस्य कर्मिणोऽनात्मज्ञस्य त्रिविधः संभवति न परमार्थ-

दर्शिन इत्ययमर्थो दुर्ज्ञानस्तस्मादत्र तत्त्वं नान्यो वक्तुं समर्थः। तस्मान्निश्चयं परमार्थशास्त्रार्थविषयमध्यवसायमैश्वरं शृणु॥४॥

कः पुनरसौ निश्चय इत्यत आह—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु उसका अनुष्ठान करना ही चाहिए क्योंकि फल न चाहने वाले मनीषियों को यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म का फल अन्तःविशुद्धि बताते हैं॥५॥

यज्ञो दानं तप इत्येतत्त्रिविधं **कर्म न त्याज्यं** न त्यक्तव्यं **कार्यं** करणीयम**ेव तत्**। कस्माद्**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि** विशुद्धिकारणानि **मनीषिणां** फलानभिसंधीनामित्येतत्॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥

किन्तु ये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म आसक्ति एवं फल की इच्छा न रख करके ही करने चाहिए, हे पार्थ! यह मेरा निश्चित, उत्तम मत है॥६॥

एतान्यपीति। **एतान्यपि तु कर्माणि** यज्ञदानतपांसि पावनान्युक्तानि **सङ्ग**मासक्तिं तेषु **त्यक्त्वा, फलानि च** तेषां त्यक्त्वा परित्यज्य **कर्तव्या**नीत्यनुष्ठेयानीति **मे** मम **निश्चितं मतमुत्तमम्**। 'निश्चयं शृणु मे तत्र' (गी. १८.४) इति प्रतिज्ञाय पावनत्वं च हेतुमुक्त्वैतान्यपि कर्माणि कर्तव्यानीत्येतन्निश्चितं मतमुत्तममिति प्रतिज्ञातार्थोपसंहार एव नापूर्वार्थं वचनमेतान्यपीति प्रकृतसंनिकृष्टार्थतोपपत्तेः। सासङ्गस्य फलार्थिनो

बन्धहेतव एतान्यपि कर्माणि मुमुक्षोः कर्तव्यानीत्यपिशब्दस्यार्थो न त्वन्यानि कर्माण्यपेक्ष्यैतान्यपीत्युच्यते।

अन्ये तु वर्णयन्ति नित्यानां कर्मणां फलाभावात्सङ्गं त्यक्त्वा फलानि चेति नोपपद्यते। एतान्यपीति यानि काम्यानि कर्माणि नित्येभ्योऽन्यान्येतान्यपि कर्तव्यानि किमुत यज्ञदानतपांसि नित्यानीति। तदसत्, नित्यानामपि कर्मणामिह फलवत्त्वस्योपपादितत्वात्। 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि' (गी. १८.५) इत्यादिवचनेन नित्यान्यपि कर्माणि बन्धहेतुत्वाशङ्कया जिहासोर्मुमुक्षोः कुतः काम्येषु प्रसङ्गः। 'दूरेण ह्यवरं कर्म' (गी. २.४९) इति च निन्दितत्वात्। 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' (गी. ३.९) इति च काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वस्य निश्चितत्वात्। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (गी. २.४५) 'त्रैविद्या मां सोमपाः' (गी. ९.२०) 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गी. ९.२१) इति च दूरव्यवहितत्वाच्च न काम्येष्वेतान्यपीति व्यपदेशः॥६॥

तस्मादज्ञस्याधिकृतस्य मुमुक्षोः—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥७॥

नियतकर्म का संन्यास उचित नहीं है, यदि मोहवश उसका परित्याग करना हो, तो वह त्याग तामस कहा जायेगा॥७॥

नियतस्य तु नित्यस्य **संन्यासः** परित्यागः **कर्मणो नोपपद्यते**ऽज्ञस्य पावनत्वस्येष्टत्वात्। **मोहादज्ञानात्तस्य** नियतस्य **परित्यागः**। नियतं चावश्यं कर्तव्यं त्यज्यते चेति विप्रतिषिद्धमतो मोहनिमित्तः परित्याग**स्तामसः परिकीर्तितो** मोहश्च तम इति॥७॥

किंच—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

कर्म जो कुछ भी है वह दुःखरूप है, ऐसा समझकर कायक्लेश के भय से जो उसे छोड़ देता है, तो वह राजस त्याग है; ऐसा त्याग करके भी वह व्यक्ति त्याग का फल प्राप्त नहीं करता॥८॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयाच्छरीरदुःख-**भयात्त्यजे**त्परित्यजेत्**स कृत्वा राजसं** रजोनिर्वृत्तं **त्यागं नैव त्यागफलं** ज्ञानपूर्वकस्य सर्वकर्मत्यागस्य फलं मोक्षाख्यं न **लभे**न्नैव लभते॥८॥

कः पुनः सात्त्विकस्त्यागः—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

हे अर्जुन! यह कर्तव्य है, जो नित्यकर्म है उसे करना ही चाहिए, पर उसमें आसक्ति एवं फलाभिसन्धि का त्यागकर जब किया जाता है, तब वह सात्त्विक त्याग माना जाता है॥९॥

कार्यं कर्तव्य**मित्येव यत्कर्म नियतं** नित्यं **क्रियते** निर्वर्त्यते हे**ऽर्जुन सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव**। नित्यानां कर्मणां फलवत्त्वे भगवद्वचनं प्रमाणमवोचाम। अथवा यद्यपि फलं न श्रूयते नित्यस्य कर्मणस्तथाऽपि नित्यं कर्म कृतमात्मसंस्कारं प्रत्यवायपरिहारं वा फलं करोत्यात्मन इति कल्पयत्येवाज्ञस्तत्र तामपि कल्पनां निवारयति फलं त्यक्त्वेत्यनेनातः साधूक्तं सङ्गं त्यक्त्वा फलं चेति। **स त्यागो** नित्यकर्मसु सङ्गफलपरित्यागः **सात्त्विकः** सत्त्वनिर्वृत्तो **मतो**ऽभिमतः। ननु कर्मपरित्यागस्त्रिविधः संन्यास इति च प्रकृत-

स्तत्र तामसो राजसश्चोक्तस्त्यागः कथमिह सङ्गफलत्यागस्तृतीयत्वेनोच्यते यथा त्रयो ब्राह्मणा आगतास्तत्र षडङ्गविदौ द्वौ क्षत्रियस्तृतीय इति तद्वत्। नैष दोषस्त्यागसामान्येन स्तुत्यर्थत्वात्। अस्ति हि कर्मसंन्यासस्य फलाभिसंधित्यागस्य च त्यागत्वसामान्यं तत्र राजसतामसत्वेन कर्मत्यागनिन्दया कर्मफलाभिसंधित्यागः सात्त्विकत्वेन स्तूयते 'स त्यागः सात्त्विको मतः' (गी. १८.९) इति॥९॥

यस्त्वधिकृतः सङ्गं त्यक्त्वा फलाभिसंधिं च नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिनाऽकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति। विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति। तस्यैव नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणस्याऽऽत्मज्ञानाभिमुखस्य क्रमेण यथा तन्निष्ठा स्यात्तद्वक्तव्यमित्याह—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

जो पुरुष अशोभन काम्यकर्म में द्वेष नहीं करता है, शोभन नित्यकर्म में आसक्ति नहीं करता वह त्यागी आत्मानात्मविवेकविज्ञानरूप सत्त्व से समाविष्ट माना जाता है, वह मेधावी और छिन्नसंशय कहा जाता है॥१०॥

न द्वेष्ट्यकुशलमशोभनं काम्यं **कर्म** शरीरारम्भद्वारेण संसारकारणं किमनेनेत्येवं **कुशले** शोभने नित्ये कर्मणि सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तितन्निष्ठाहेतुत्वेन मोक्षकारणमिदमित्येवं **नानुषज्जते** तत्रापि प्रयोजनमपश्यन्ननुषङ्गं प्रीतिं न करोतीत्येतत्। कः पुनरसौ **त्यागी** पूर्वोक्तेन सङ्गफलपरित्यागेन तद्वांस्त्यागी यः कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा तत्फलं च नित्यकर्मानुष्ठायी स त्यागी। कदा पुनरसावकुशलं कर्म न

द्वेष्टि कुशले च नानुषज्जत इत्युच्यते **सत्त्वसमाविष्टो** यदा सत्त्वेनाऽऽत्मानात्मविवेकविज्ञानहेतुना समाविष्टः संव्याप्तः संयुक्त इत्येतत्। अत एव च **मेधावी** मेधयाऽऽत्मज्ञानलक्षणया प्रज्ञया संयुक्तस्तद्वान्मेधावी मेधावित्वादेव **छिन्नसंशयश्छिन्नो**ऽविद्याकृतः संशयो यस्याऽऽत्मस्वरूपावस्थानमेव परं निःश्रेयससाधनं नान्यत्किंचिदित्येवं निश्चयेन छिन्नसंशयो योऽधिकृतः पुरुषः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्मयोगानुष्ठानेन क्रमेण संस्कृतात्मा सञ्जन्मादिविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेन संबुद्धः स सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नासीनो नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञाननिष्ठामश्नुत इत्येतत्पूर्वोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रयोजनमनेन श्लोकेनोक्तम्॥१०॥

यः पुनरधिकृतः सन्देहात्माभिमानत्वेन देहभृदज्ञोऽबाधितात्मकर्तृत्वविज्ञानतयाऽहं कर्तेति निश्चितबुद्धिस्तस्याशेषकर्मपरित्यागस्याशक्यत्वात्कर्मफलत्यागेन चोदितकर्मानुष्ठान एवाधिकारो न तत्त्याग इत्येतमर्थं दर्शयितुमाह—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

देहाभिमानी कोई भी अज्ञानी सम्पूर्ण रूप से कर्म का त्याग नहीं कर सकता किन्तु जो कर्मफलत्यागी है वह त्यागी-इस नाम से कहा जाता है॥११॥

न हि यस्माद्**देहभृता** देहं बिभर्तीति देहभृद्देहात्माभिमानवान्देहभृदुच्यते, न हि विवेकी, स हि 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादिना कर्तृत्वाधिकारान्निवर्तितोऽतस्तेन देहभृताऽज्ञेन न **शक्यं त्यक्तुं** संन्यसितुं **कर्माण्यशेषतो** निःशेषेण।

तस्माद्यस्त्वज्ञोऽधिकृतो नित्यानि कर्माणि कुर्वन्**कर्मफलत्यागी** कर्मफलाभिसंधिमात्रसंन्यासी, **स त्यागीत्यभिधीयते** कर्म्यपि सन्निति स्तुत्यभिप्रायेण। तस्मात्परमार्थदर्शिनैवादेहभृता देहात्मभावरहितेनाशेषकर्मसंन्यासः शक्यते कर्तुम्॥११॥

किं पुनस्तत्प्रयोजनं यत्सर्वकर्मपरित्यागात्स्यादित्युच्यते—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

कर्म का अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित—ऐसा त्रिविध फल बतलाया गया है जो अज्ञानी कर्मी और अत्यागी को ही मरने पर मिलता है, किन्तु संन्यासी को कभी भी त्रिविध कर्म का फल प्राप्त नहीं होता॥१२॥

अनिष्टं नरकतिर्यगादिलक्षण**मिष्टं** देवादिलक्षणं **मिश्रमि**ष्टानिष्टसंयुक्तं मनुष्यलक्षणं **चै**तत् **त्रिविधं** त्रिप्रकारं **कर्मणो** धर्माधर्मलक्षणस्य **फलं** बाह्यानेककारकव्यापारनिष्पन्नं सदविद्याकृतमिन्द्रजालमायोपमं महामोहकरं प्रत्यगात्मोपसर्पीव फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति फलमिति फलनिर्वचनं तदेतदेवंलक्षणं फलं **भवत्यत्यागिनाम**ज्ञानां कर्मिणामपरमार्थसंन्यासिनां **प्रेत्य** शरीरपातादूर्ध्वम्। **न तु** परमार्थ**संन्यासिनां** परमहंसपरिव्राजकानां केवलज्ञाननिष्ठानां **क्वचित्**। न हि केवलसम्यग्दर्शननिष्ठा अविद्यादिसंसारबीजं नोन्मूलयन्ति कदाचिदित्यर्थः॥१२॥

अतः परमार्थदर्शिन एवाशेषकर्मसंन्यासित्वं संभवत्यविद्याध्यारोपितत्वादात्मनि क्रियाकारकफलानां न त्वज्ञस्याधिष्ठानादीनि क्रियाकर्तॄणि कारकाण्यात्मत्वेन पश्यतोऽशेषकर्मसंन्यासः संभवति। तदेतदुत्तरैः श्लोकैर्दर्शयति—

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

हे महाबाहो! सभी कर्मों की सिद्धि के लिए कर्मान्तकवेदान्तशास्त्र में ये पाँच कारण बतलाये गये हैं जिनके सम्बन्ध में तू मुझसे अच्छी प्रकार जान ले॥१३॥

पञ्चेमानि वक्ष्यमाणानि हे **महाबाहो कारणानि** निर्वर्तकानि **निबोध मे** ममेति, उत्तरत्र चेतःसमाधानार्थं वस्तुवैषम्यप्रदर्शनार्थं च तानि कारणानि ज्ञातव्यतया स्तौति। **सांख्ये** ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते यस्मिञ्शास्त्रे तत्सांख्यं वेदान्तः। **कृतान्त** इति तस्यैव विशेषणं कृतमिति कर्मोच्यते तस्यान्तः कृतस्य परिसमाप्तिर्यस्य स कृतान्तः कर्मान्त इत्येतत्। 'यावानर्थ उदपाने' (गी. २.४६) 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गी. ४.३३) इत्यात्मज्ञाने संजाते सर्वकर्मणां निवृत्तिं दर्शयति। अतस्तस्मिन्नात्मज्ञानार्थे सांख्ये कृतान्ते वेदान्ते **प्रोक्तानि** कथितानि **सिद्धये** निष्पत्त्यर्थं **सर्वकर्मणाम्**॥१३॥

कानि तानीत्युच्यते—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

शरीर, उपहितचेतन कर्ता, श्रोत्रादि पृथक्-पृथक् करण, उनकी पृथक्-पृथक् चेष्टा और उन इन्द्रियों का अनुग्राहक देवता, बस यही पाँच कर्मों के कारण बतलाये गये हैं॥१४॥

अधिष्ठानम्इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीनामभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानं शरीरं **तथा कर्ता**उपाधिलक्षणो भोक्ता, **करणं**

च श्रोत्रादिकं शब्दाद्युपलब्धये **पृथग्विधं** नानाप्रकारं द्वादशसंख्यं **विविधाश्च पृथक्चेष्टा** वायवीयाः प्राणापानाद्या **दैवं चैव** दैवमेव **चात्रैतेषु** चतुर्षु **पञ्चमं** पञ्चानां पूरणमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकम्॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

मनुष्य, शरीर, वाणी और मन से शास्त्रविहित अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो भी कर्म करता है उसके कारण ये पाँच ही हैं॥१५॥

शरीरेति। **शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म** त्रिभिरेतैः **प्रारभते** निर्वर्तयति **नरो न्याय्यं वा** धर्म्यं शास्त्रीयं, **विपरीतं वा**ऽशास्त्रीयमधर्म्यम्। यच्चापि निमिषितचेष्टादि जीवनहेतुस्तदपि पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेव ग्रहणेन गृहीतम्। **पञ्चैते** यथोक्तास्**तस्य** सर्वस्यैव कर्मणो **हेतवः** कारणानि।

नन्वधिष्ठानादीनि सर्वकर्मणां कारणानि कथमुच्यते शरीरवाङ्मनोभिः कर्म प्रारभत इति। नैष दोषः, विधिप्रतिषेधलक्षणं सर्वं कर्म शरीरादित्रयप्रधानं तदङ्गतया दर्शनश्रवणादि च जीवनलक्षणं त्रिधैव राशीकृतमुच्यते शरीरादिभिरारभत इति। फलकालेऽपि तत्प्रधानैर्भुज्यत इति पञ्चानामेव हेतुत्वं न विरुध्यते॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

इस सम्बन्ध में ऐसा होने पर भी जो मलिनान्तःकरण होने के

कारण केवल आत्मा को कर्ता जानता है वह दुष्टबुद्धि वस्तुतः नहीं जानता ॥१६॥

तत्रेति। **तत्रेति** प्रकृतेन संबध्यते, **एवं सति**, एवं यथोक्तैः पञ्चभिर्हेतुभिर्निर्वर्त्ये सति कर्मणि। तत्रैवं सतीति दुर्मतित्वस्य हेतुत्वेन संबध्यते। तत्र तेष्वात्मानमनन्यत्वेनाविद्यया परिकल्प्य तैः क्रियमाणस्य कर्मणोऽहमेव कर्तेति **कर्तारमात्मानं केवलं** शुद्धं **तु यः पश्यत्य**विद्वान्कस्माद्वेदान्ताचार्योपदेशन्यायै**रकृतबुद्धित्वाद**संस्कृतबुद्धित्वाद्योऽपि देहादिव्यतिरिक्तात्मवाद्यात्मानमेव केवलं कर्तारं पश्यत्यसावप्यकृतबुद्धिरेवातोऽकृतबुद्धित्वान्न **स पश्यत्या**त्मनस्तत्त्वं कर्मणो वेत्यर्थोऽतो **दुर्मतिः** कुत्सिता विपरीता दुष्टाऽजस्रं जननमरणप्रतिपत्तिहेतुभूता मतिरस्येति दुर्मतिः स पश्यन्नपि न पश्यति। यथा तैमिरिकोऽनेकं चन्द्रं, यथा वाऽभ्रेषु धावत्सु चन्द्रं धावन्तं, यथा वा वाहन उपविष्टोऽन्येषु धावत्स्वात्मानं धावन्तम् ॥१६॥

कः पुनः सुमतिर्यः सम्यक्पश्यतीत्युच्यते—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

जिसमें अहंकारभाव नहीं है और कर्मजन्य फल में भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है, वह व्यक्ति इन सभी प्राणियों को मारकर भी न मारता है और न उसके फल से बँधता ही है ॥१७॥

यस्य शास्त्राचार्योपदेशन्यायसंस्कृतात्मनो **न** भवत्य**हंकृतो**ऽहं कर्तेत्येवंलक्षणो **भावो** भावना प्रत्यय, एत एव पञ्चाधिष्ठानादयोऽविद्याऽऽत्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो नाहमहं तु तद्व्यापाराणां साक्षिभूतः 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः' (मु. २.१.२) केवलोऽविक्रिय इत्येवं पश्य-

तीत्येतत्। **बुद्धिरन्तःकरणं यस्या**ऽऽत्मन उपाधिभूता **न लिप्यते** नानुशायिनी भवतीदमहमकार्षं तेनाहं नरकं गमिष्यामीत्येवं यस्य बुद्धिर्न लिप्यते स सुमतिः स पश्यति। **हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्**सर्वान्प्राणिन इत्यर्थः। **न हन्ति** हननक्रियां न करोति **न निबध्यते** नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन संबध्यते।

ननु हत्वाऽपि न हन्तीति विप्रतिषिद्धमुच्यते यद्यपि स्तुतिः। नैष दोषः, लौकिकपारमार्थिकदृष्ट्यपेक्षया तदुपपत्तेः। देहाद्यात्मबुद्ध्या हन्ताऽहमिति लौकिकीं दृष्टिमाश्रित्य हत्वाऽपीत्याह, यथादर्शितां पारमार्थिकीं दृष्टिमाश्रित्य न हन्ति न निबध्यत इति तदुभयमुपपद्यत एव। नन्वधिष्ठानादिभिः संभूय करोत्येवाऽऽत्मा कर्तारमात्मानं केवलं त्विति केवलशब्दप्रयोगात्। नैष दोषः। आत्मनोऽविक्रियस्वभावत्वेऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः। विक्रियावतो ह्यन्यैः संहननं संभवति संहत्य वा कर्तृत्वं स्यान्न त्वविक्रियस्याऽऽत्मनः केनचित्संहननमस्तीति न संभूय कर्तृत्वमुपपद्यते। अतः केवलत्वमात्मनः स्वाभाविकमिति केवलशब्दोऽनुवादमात्रम्।

अविक्रियत्वं चाऽऽत्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गी. २.२५) 'गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते' 'शरीरस्थोऽपि न करोति' इत्याद्यसकृदुपपादितं गीतास्वेव तावत्। श्रुतिषु च "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ. ४.३.७) इत्येवमाद्यासु। न्यायतश्च निरवयवमपरतन्त्रमविक्रियमात्मतत्त्वमिति राजमार्गः। विक्रियावत्त्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनः स्वकीयैव विक्रिया स्वस्य भवितुमर्हति। नाधिष्ठानादीनां कर्माण्यात्मकर्तृकाणि स्युः। नहि परस्य कर्म परेणाकृतमागन्तुमर्हति। यत्त्वविद्यया गमितं न तत्तस्य। यथा रजतत्वं न शुक्तिकाया, यथा वा

तलमलवत्त्वं बालैर्गमितमविद्यया नाऽऽकाशस्य, तथाऽधिष्ठानादिविक्रियाऽपि तेषामेवेति नाऽऽत्मनः। तस्माद्युक्तमुक्तमहंकृतत्वबुद्धिलेपाभावाद्विद्वान्न हन्ति न निबध्यत इति। 'नायं हन्ति न हन्यते' (गी. २.१९) इति प्रतिज्ञाय 'न जायते' इत्यादिहेतुवचनेनाविक्रियत्वमात्मन उक्त्वा 'वेदाविनाशिनम्' इति विदुषः कर्माधिकारनिवृत्तिं शास्त्रादौ संक्षेपत उक्त्वा मध्ये प्रसारितां च, तत्र तत्र प्रसङ्गं कृत्वेहोपसंहरति शास्त्रार्थपिण्डीकरणाय विद्वान्न हन्ति न निबध्यत इति। एवं च सति देहभृत्त्वाभिमानानुपपत्तावविद्याकृताशेषकर्मसंन्यासोपपत्तेः संन्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मणः फलं न भवतीत्युपपन्नं तद्विपर्ययाच्चेतरेषां भवतीत्येतच्चापरिहार्यमित्येष गीताशास्त्रस्यार्थ उपसंहृतः। स एष सर्ववेदार्थसारो निपुणमतिभिः पण्डितैर्विचार्य प्रतिपत्तव्य इति तत्र तत्र प्रकरणविभागेन दर्शितोऽस्माभिः शास्त्रन्यायानुसारेण॥१७॥

चतुर्दशाह्निकम् ॥१४॥

***

अथेदानीं तेषां कर्मणां प्रवर्तकमुच्यते—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८॥

सामान्य ज्ञान, सभी ज्ञेय और ज्ञाता-ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं। वैसे ही करण, कर्म और कर्ता-ये तीनों कर्म के संग्राहक हैं क्योंकि इन्हीं में कर्मों का संग्रह होता रहता है॥१८॥

ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति सर्वविषयमविशेषेणोच्यते। तथा **ज्ञेयं** ज्ञातव्यं तदपि सामान्येनैव सर्वमुच्यते। तथा **परिज्ञातो**पाधिलक्षणोऽविद्याकल्पितो भोक्ता, इत्येतत्त्रयमेषाम-

विशेषेण सर्वकर्मणां प्रवर्त्तिका **त्रिविधा** त्रिप्रकारा **कर्मचोदना**। ज्ञानादीनां हि त्रयाणां संनिपाते हानोपादानादिप्रयोजनः सर्वकर्मारम्भः स्यात्ततः पञ्चभिरधिष्ठानादिभिरारब्धं वाङ्मनःकायाश्रयभेदेन त्रिधा राशीभूतं त्रिषु करणादिषु संगृह्यत इत्येतदुच्यते। **करणं** क्रियतेऽनेनेति बाह्यं श्रोत्रादि, अन्तस्थं बुद्ध्यादि, **कर्मे**प्सिततमं कर्तुः क्रियया व्याप्यमानं, **कर्ता** करणानां व्यापारयितोपाधिलक्षण **इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः कर्मसंग्रहः** संगृह्यतेऽस्मिन्निति संग्रहः कर्मणः संग्रहः कर्मसंग्रहः। कर्मैषु हि त्रिषु समवैति तेनायं त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

अथेदानीं क्रियाकारकफलानां सर्वेषां गुणात्मकत्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणभेदतस्त्रिविधो भेदो वक्तव्य इत्यारभ्यते—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

गुणों के भेद से गुणसंख्यान कापिलशास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्ता ऐसे तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उन्हें भी तू यथावत् सुन।

ज्ञानं कर्म च, कर्म क्रिया, न कारकं पारिभाषिकमीप्सिततमं कर्म, **कर्ता च** निर्वर्तकः क्रियाणां **त्रिधै**वावधारणं गुणव्यतिरिक्तजात्यन्तराभावप्रदर्शनार्थं, **गुणभेदतः** सत्त्वादिभेदेनेत्यर्थः। **प्रोच्यते** कथ्यते **गुणसंख्याने** कापिले शास्त्रे तदपि गुणसंख्यानं शास्त्रं गुणभोक्तृविषये प्रमाणमेव परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते। ते हि कापिला गुणगौणव्यापारनिरूपणेऽभियुक्ता इति तच्छास्त्रमपि वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थत्वेनोपादीयत इति न विरोधः। **यथावद्य**थान्यायं यथाशास्त्रं **शृणु तान्यपि** ज्ञानादीनि तद्भेदजातानि गुणभेदकृतानि शृणु वक्ष्यमाणेऽर्थे मनःसमाधिं कुर्वित्यर्थः॥१९॥

ज्ञानस्य तु तावत्त्रिविधत्वमुच्यते—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

(अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) विभक्त सभी भूतों में जिस ज्ञान के द्वारा एक, अविभक्त, अविनाशी भाव आत्मतत्त्व को देखता है, तू उस ज्ञान को सात्त्विक जान॥२०॥

सर्वभूतेष्वव्यक्तादिस्थावरान्तेषु भूतेषु **येन** ज्ञाने**नैकं भावं** वस्तु भावशब्दो वस्तुवाच्येकमात्मवस्त्वित्यर्थः। **अव्ययं** न व्येति स्वात्मना धर्मैर्वा कूटस्थनित्यमित्यर्थः। **ईक्षते** येन ज्ञानेन पश्यति तं च भाव**मविभक्तं** प्रतिदेहं **विभक्तेषु** देहभेदेषु न विभक्तं तदात्मवस्तु व्योमवन्निरन्तरमित्यर्थः। **तज्ज्ञान**मद्वैतात्मदर्शनं **सात्त्विकं** सम्यग्दर्शनं **विद्धी**ति। यानि द्वैतदर्शनानि तान्यसम्यग्भूतानि राजसानि तामसानि चेति न साक्षात्संसारोच्छित्तये भवन्ति॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

किन्तु जिस ज्ञान से सभी भूतों में (प्रतिशरीर) भिन्न-भिन्न रूप से भिन्न आत्मा और भिन्न स्वभाव वाले को जानता है, उस ज्ञान को राजस ज्ञान समझो॥२१॥

पृथक्त्वेनेति। **पृथक्त्वेन तु** भेदेन प्रतिशरीरमन्यत्वेन **यज्ज्ञानं नानाभावान्**भिन्नानात्मनः **पृथग्विधान्**पृथक्प्रकारान्भिन्नलक्षणानित्यर्थः। **वेत्ति** विजानाति यज्ज्ञानं, **सर्वेषु भूतेषु** ज्ञानस्य कर्तृत्वासंभवाद्येन ज्ञानेन वेत्तीत्यर्थः। **तज्ज्ञानं विद्धि राजसं** रजोनिर्वृत्तम्॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

किन्तु एक ही शरीर में अथवा शरीर से बाहर प्रतिमादि में आसक्त, बस इतना ही मैं हूँ अथवा इतना ही ईश्वर है, इस प्रकार सम्पूर्ण की भाँति समझता है; जो तर्कशून्य, तत्त्वार्थ से रहित और अल्पविषयक होने से अल्पफलवाला भी माना जाता है, उस ज्ञान को तामस कहा गया है॥२२॥

यत्त्विति। **यत्तु** ज्ञानं **कृत्स्नवत्**समस्तवत्सर्वविषयमि**वैकस्मिन्कार्ये** देहे बहिर्वा प्रतिमादौ **सक्त**मेतावानेवाऽऽत्मेश्वरो वा नातः परमस्तीति यथा नग्नक्षपणकादीनां शरीरानुवर्ती देहपरिमाणो जीव ईश्वरो वा पाषाणदार्वादिमात्र इत्येवमेकस्मिन्कार्ये सक्त**महैतुकं** हेतुवर्जितं निर्युक्तिक**मतत्त्वार्थवद्**यथाभूतोऽर्थस्तत्त्वार्थः सोऽस्य ज्ञेयभूतोऽस्तीति तत्त्वार्थवन्न तत्त्वार्थवदतत्त्वार्थवदहैतुकत्वादेवा**ल्पं** चाल्पविषयत्वादल्पफलत्वाद्वा **तत्तामसमुदाहृतम्**। तामसानां हि प्राणिनामविवेकिनामीदृशं ज्ञानं दृश्यते॥२२॥

अथ कर्मणस्त्रैविध्यमुच्यते—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥२३॥

आसक्ति से रहित, राग और द्वेष के बिना, फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा जो नित्यकर्म किया जाता है, उसे सात्त्विक कहते हैं॥२३॥

नियतं नित्यं **सङ्गरहित**मासक्तिवर्जित**मरागद्वेषतः कृतं** रागप्रयुक्तेन द्वेषप्रयुक्तेन च कृतं रागद्वेषतः कृतं तद्विपरीतं कृतमरागद्वेषतः कृत**मफलप्रेप्सुना** फलं प्रेप्सतीति फलप्रेप्सुः फलतृष्णस्तद्विपरीतेनाफलप्रेप्सुना कर्त्रा कृतं **कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते**॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥

किन्तु फल चाहने वाले पुरुष के द्वारा अहंकारपूर्वक जब बहुत परिश्रम से किसी कर्ता के द्वारा कर्म किया जाता है, तब उसे राजस कर्म कहते है॥२४॥

यत्त्विति। **यत्तु कामेप्सुना** फलप्रेप्सुनेत्यर्थः। **कर्म साहंकारेण वा** साहंकारेणेति न तत्त्वज्ञानापेक्षया किं तर्हि लौकिकश्रोत्रियनिरहंकारापेक्षया। यो हि परमार्थनिरहंकार आत्मविन्न तस्य कामेप्सुत्वबहुलायासकर्तृत्वप्राप्तिरस्ति। सात्त्विकस्यापि कर्मणोऽनात्मवित्साहंकारः कर्ता किमुत राजसतामसयोः। लोकेऽनात्मविदपि श्रोत्रियो निरहंकार उच्यते निरहंकारोऽयं ब्राह्मण इति। तस्मात्तदपेक्षयैव साहंकारेण वेत्युक्तम्। **पुनः**शब्दः पादपूरणार्थः। **क्रियते बहुलायासं** कर्त्रा महताऽऽयासेन निर्वर्त्यते **तत्कर्म राजसमुदाहृतम्**॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥२५॥

परिणाम, शक्तिक्षय, हिंसा और अपने पौरुष पर ध्यान न देकर अविवेकपूर्वक जो कर्म किया जाता है उसे तामस कहते हैं॥२५॥

अनुबन्धमिति। **अनुबन्धं** पश्चाद्भावि यद्वस्तु सोऽनुबन्ध उच्यते तं चानुबन्धं, **क्षयं** यस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे शक्तिक्षयोऽर्थक्षयो वा स्यात्तं क्षयं, **हिंसां** प्राणिपीडामनपेक्ष्य **च पौरुषं** पुरुषकारं शक्नोमीदं कर्म समापयितुमित्येवमात्मसामर्थ्यम्, इत्येतान्यनुबन्धादीन्यनपेक्ष्य पौरुषान्तानि **मोहादविवेकत आरभ्यते कर्म यत्तत्तामसं** तमोनिर्वृत्तमुच्यते॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

जो आसक्ति से मुक्त हो, अहंकार का वचन न बोलता हो, धैर्य तथा उत्साह से युक्त हो और किये गये कर्म की सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहता हो, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है॥२६॥

मुक्तेति। **मुक्तसङ्गो** मुक्तः परित्यक्तः सङ्गो येन स मुक्तसङ्गो**ऽनहंवादी** नाहंवदनशीलो **धृत्युत्साहसमन्वितो** धृतिर्धारणमुत्साह उद्यमस्ताभ्यां समन्वितः संयुक्तो धृत्युत्साह-समन्वितः। **सिद्ध्यसिद्ध्योः** क्रियमाणस्य कर्मणः फल-सिद्धावसिद्धौ च सिद्ध्यसिद्ध्यो**र्निर्विकारः** केवलं शास्त्र-प्रमाणप्रयुक्तः फलरागादिनाऽयुक्तो यः स निर्विकार उच्यते। एवंभूतः **कर्ता** यः स **सात्त्विक उच्यते**॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

रागी, कर्मफल की इच्छा वाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र एवं हर्ष-शोक से युक्त रहने वाला कर्ता राजस कहा जाता है॥२७॥

रागीति। **रागी** रागोऽस्यास्तीति रागी, **कर्मफलप्रेप्सुः** कर्मफलार्थी, **लुब्धः** परद्रव्येषु संजाततृष्णस्तीर्थादौ च स्वद्र-व्यापरित्यागी, **हिंसात्मकः** परपीडास्वभावो**ऽशुचिर्बा**-ह्यान्तःशौचवर्जितो **हर्षशोकान्वित** इष्टप्राप्तौ हर्षोऽनिष्ट-प्राप्ताविष्टवियोगे च शोकस्ताभ्यां हर्षशोकाभ्यामन्वितः संयुक्त-स्तस्यैव च कर्मणः संपत्तिविपत्त्योर्हर्षशोकौ स्यातां ताभ्यां संयुक्तो यः **कर्ता** स **राजसः परिकीर्तितः**॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥२८॥

असमाहित, अत्यन्त संस्कारशून्य, दण्ड के समान स्तब्ध, मायावी, दूसरों की वृत्ति का छेदन करने वाला, कर्तव्य में भी आलसी, सदा विषाद से युक्त एवं दीर्घसूत्री पुरुष तामस कर्ता कहा जाता है॥२८॥

अयुक्त इति। **अयुक्तो**ऽसमाहितः **प्राकृतो**ऽत्यन्तासंस्कृतबुद्धिर्बालसमः, **स्तब्धो** दण्डवन्न नमति कस्मैचित्, **शठो** मायावी शक्तिगूहनकारी, **नैष्कृतिकः** परवृत्तिच्छेदनपरो**ऽलसो**ऽप्रवृत्तिशीलः कर्तव्येष्वपि, **विषादी** सर्वदाऽवसन्नस्वभावो **दीर्घसूत्री च** कर्तव्यानां दीर्घप्रसारणो यदद्य श्वो वा कर्तव्यं तन्मासेनापि न करोति, यश्चैवंभूतः **कर्ता स तामस उच्यते**॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥२९॥

सत्त्वादि गुणों के कारण बुद्धि और धृति के भी त्रिविध भेद सुनो, हे धनंजय! मैं पूर्णरूप से विवेकपूर्वक उसे कहता हूँ॥२९॥

बुद्धेर्भेदमिति। **बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव** भेदं **गुणतः** सत्त्वादिगुणत**स्त्रिविधं शृण्व**ति सूत्रोपन्यासः। **प्रोच्यमानं** कथ्यमान**मशेषेण** निरवशेषतो यथावत्**पृथक्त्वेन** विवेकतो **धनंजय**। दिग्विजये मानुषं दैवं च प्रभूतं धनमजयत्तेनासौ धनंजयोऽर्जुनः॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य एवं अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष को जो यथावत् जानती हो। हे पार्थ! वह सात्त्विकी-बुद्धि मानी गयी है ॥३०॥

प्रवृत्तिं चेति। **प्रवृत्तिं च** प्रवृत्तिः प्रवर्तनं बन्धहेतुः कर्ममार्गः, **निवृत्तिं च** निवृत्तिर्मोक्षहेतुः संन्यासमार्गः, बन्धमोक्षसमानवाक्यत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्ती कर्मसंन्यासमार्गावित्यवगम्यते। **कार्याकार्ये** विहितप्रतिषिद्धे कर्तव्याकर्तव्ये करणाकरणे इत्येतत्। कस्य देशकालाद्यपेक्षया दृष्टादृष्टार्थानां कर्मणाम्। **भयाभये** बिभेत्यस्मादिति भयं तद्विपरीतमभयं, भयं चाभयं च भयाभये दृष्टादृष्टविषययोर्भयाभययोः कारणे इत्यर्थः। **बन्धं** सहेतुकं **मोक्षं च** सहेतुकं **या वेत्ति** विजानाति **बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी**। तत्र ज्ञानं बुद्धेर्वृत्तिर्बुद्धिस्तु वृत्तिमती। धृतिरपि वृत्तिविशेष एव बुद्धेः ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म, अधर्म, कर्तव्य एवं अकर्तव्य को भी यथावत् नहीं जान पाता, हे पार्थ! वह राजसी बुद्धि कही जाती है ॥३१॥

ययेति। **यया धर्मं** शास्त्रचोदित**मधर्मं च** तत्प्रतिषिद्धं **कार्यं चाकार्यमेव च** पूर्वोक्ते एव कार्याकार्ये **अयथावन्न** यथावत्सर्वतो निर्णयेन **प्रजानाति** या **बुद्धिः सा पार्थ राजसी** ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

जो अधर्म को धर्म एवं धर्म को अधर्म समझती हो; ऐसे ही सभी पदार्थों को विपरीत ही जानती हो। हे पार्थ! वह तमसाच्छन्न बुद्धि तामस कही गयी है॥३२॥

अधर्ममिति। **अधर्मं** प्रतिषिद्धं **धर्मं** विहितमिति **या मन्यते** जानाति **तमसाऽऽवृता** सती **सर्वार्थान्**सर्वानेव ज्ञेयपदार्थान्**विपरीतांश्च** विपरीतानेव विजानाति **बुद्धिः सा पार्थ तामसी**॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

जिस अव्यभिचारिणी धृति से मन, प्राण एवं इन्द्रियों के व्यापार को समाहित हो मनुष्य धारण करता है। हे पार्थ! वह सात्त्विकी धृति कही जाती है॥३३॥

धृत्येति। **धृत्या यया**ऽव्यभिचारिण्येति व्यवहितेन संबन्धः। **धारयते** किं **मनःप्राणेन्द्रियक्रिया** मनश्च प्राणाश्चेन्द्रियाणि च मनःप्राणेन्द्रियाणि तेषां क्रियाश्चेष्टास्ता उच्छास्त्रमार्गप्रवृत्तेर्धारयते धारयति धृत्या हि धार्यमाणा उच्छास्त्रविषया न भवन्ति। **योगेन** समाधिना**ऽव्यभिचारिण्या** नित्यं समाध्यनुगतयेत्यर्थः। एतदुक्तं भवत्यव्यभिचारिण्या धृत्या मनः-प्राणेन्द्रियक्रिया धारयमाणो योगेन धारयतीति। यैवंलक्षणा **धृतिः, सा पार्थ सात्त्विकी**॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

किन्तु फलाकांक्षी पुरुष आसक्तिपूर्वक जिस धृति से धर्म, काम

और अर्थ को धारण करता है। हे पृथापुत्र अर्जुन! वह धृति राजसी कही जाती है॥३४॥

यया इति। **यया तु धर्मकामार्थान्**धर्मश्च कामश्चार्थश्च धर्मकामार्थास्तान्धर्मकामार्थान्**धृत्या** यया **धारयते** मनसि नित्यकर्तव्यरूपानवधारयते हेऽ**र्जुन प्रसङ्गेन** यस्य यस्य धर्मादेर्धारणप्रसङ्गस्तेन तेन प्रसङ्गेन **फलाकाङ्क्षी च** भवति यः पुरुषस्तस्य **धृतिर्या सा पार्थ राजसी**॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता॥३५॥

दुर्मेधा पुरुष निद्रा, भय, शोक, विषाद एवं मद को भी जिस धृति से मन में धारण करता है और उन्हें छोड़ता नहीं, ऐसी धृति तामसी मानी गयी है॥३४॥

यया इति। **यया स्वप्नं** निद्रां **भयं** त्रासं **शोकं विषाद**मवसादं विषण्णतां **मदं** विषयसेवामात्मनो बहु मन्यमानो मत्त इव **मदमेव च** मनसि नित्यमेव कर्तव्यरूपतया कुर्वन्न **विमुञ्चति** धारयत्येव **दुर्मेधा** कुत्सितमेधाः पुरुषो यस्तस्य **धृतिर्या सा तामसी मता**॥३५॥

गुणभेदेन क्रियाणां कारकाणां च त्रिधा भेद उक्तोऽथेदानीं फलस्य च सुखस्य त्रिधा भेद उच्यते—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! अब मुझसे त्रिविध सुख को भी सुन लो, जिस सुख में पुरुष अभ्यासपूर्वक रमण करता है और दुःखों का अन्त कर लेता है॥३६॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु समाधानं कुर्वित्येतन्मे मम भरतर्षभ। अभ्यासात्परिचयादावृत्ते रमते रतिं प्रतिपद्यते यत्र यस्मिन्सुखानुभवे दुःखान्तं च दुःखावसानं दुःखोपशमं च निगच्छति निश्चयेन प्राप्नोति॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥३७॥

जो प्रारम्भ में विषतुल्य और परिणाम में अमृत के सदृश जान पड़ता है एवं आत्मबुद्धिप्रसाद से जो सुख उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है॥३७॥

यदिति। यत्तत्सुखमग्रे पूर्वं प्रथमसंनिपाते ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासपूर्वकत्वाद्विषमिव दुःखात्मकं भवति, परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाकजं सुखममृतोपमं तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं विद्वद्भिरात्मनो बुद्धिरात्मबुद्धिरात्मबुद्धेः प्रसादो नैर्मल्यं सलिलवत्स्वच्छता ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजमात्मविषया वाऽऽत्मालम्बना वा बुद्धिरात्मबुद्धिस्तत्प्रसादप्रकर्षाद्वा जातमित्येतत्तस्मात्सात्त्विकं तत्॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है वह पहले अमृत के सदृश जान पड़ता है, किन्तु परिणाम में विष के तुल्य होता है, ऐसा सुख राजस कहा गया है॥३८॥

विषयेति। विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तत्सुखं जायतेऽग्रे प्रथमक्षणेऽमृतोपमममृतसमं परिणामे विषमिव बलवीर्यरूपप्रज्ञामेधाधनोत्साहहानिहेतुत्वादधर्मतज्जनितनरकादिहेतु-

त्वाच्च परिणामे तदुपभोगविपरिणामान्ते विषमिव **तत्सुखं राजसं स्मृतम्**॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥३९॥

जो प्रारम्भ और अन्त में आत्मा को मोहित करने वाला, निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला सुख है, वह तामस कहा गया है॥३९॥

यदग्रे चेति। **यदग्रे चानुबन्धे** चावसानोत्तरकाले **सुखं मोहनं** मोहकर**मात्मनो निद्रालस्यप्रमादोत्थं** निद्रा चाऽऽलस्यं च प्रमादश्चेत्येतेभ्यः समुत्तिष्ठतीति निद्रालस्यप्रमादोत्थं **तत्तामसमुदाहृतम्**॥३९॥

अथेदानीं प्रकरणोपसंहारार्थः श्लोक आरभ्यते—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

पृथ्वी में, द्युलोक में और देवताओं में भी ऐसा प्राणी अथवा अप्राणी सत्त्व (वस्तु) नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले इन सत्त्वादि तीनों गुणों से मुक्त हो॥४०॥

न तदस्ति तन्नास्ति **पृथिव्यां वा** मनुष्यादि सत्त्वं प्राणिजातमन्यद्वाऽप्राणिजातं **दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं, प्रकृतिजैः** प्रकृतितो जातै**रेभिस्त्रिभिर्गुणैः** सत्त्वादिभि**र्मुक्तं** परित्यक्तं **यत्स्याद्**भवेन्न तदस्तीति पूर्वेण संबन्धः॥४०॥

सर्वः संसारः क्रियाकारकफललक्षणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकोऽविद्यापरिकल्पितः समूलोऽनर्थ उक्तो वृक्षरूपकल्पनया च 'ऊर्ध्वमूलम्' (गी. १५.१) इत्यादिना, तं च 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' (गी. १५.३) 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'

(गी. १५.४) इति चोक्तं, तत्र च सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वात्संसारकारणनिवृत्त्यनुपपत्तौ प्राप्तायां यथा तन्निवृत्तिः स्यात्तथा वक्तव्यं, सर्वश्च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य एतावानेव च सर्वो वेदस्मृत्यर्थः। पुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इत्येवमर्थं च ब्राह्मणक्षत्रियविशामित्यादिरारभ्यते—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा प्रविभक्त माने गये हैं॥४१॥

ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विशश्च ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तेषां **ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च** शूद्राणामसमासकरणमेकजातित्वे सति वेदेऽनधिकारात्। हे **परंतप कर्माणि प्रविभक्तानी**तरेतरविभागेन व्यवस्थापितानि, केन **स्वभावप्रभवैर्गुणैः** स्वभाव ईश्वरस्य प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया सा प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवास्तैः। शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि ब्राह्मणादीनाम्। अथवा ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुणः प्रभवः कारणं, तथा क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः प्रभवः, वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रजः प्रभवः, शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः प्रभवः प्रशान्त्यैश्वर्येहामूढतास्वभावदर्शनाच्चतुर्णाम्। अथवा जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिनां वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवा गुणाः। गुणप्रादुर्भावस्य निष्कारणत्वानुपपत्तेः स्वभावः कारणमिति कारणविशेषोपादानम्। एवं स्वभावप्रभवैः प्रकृतिप्रभवैः सत्त्वरज-

स्तमोभिर्गुणैः स्वकार्यानुरूपेण शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि। ननु शास्त्रप्रविभक्तानि शास्त्रेण विहितानि ब्राह्मणादीनां शमादीनि कर्माणि कथमुच्यते सत्त्वादिगुणप्रविभक्तानीति। नैष दोषः। शास्त्रेणापि ब्राह्मणादीनां सत्त्वादिगुणविशेषापेक्षयैव शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि न गुणानपेक्षयैवेति शास्त्रप्रविभक्तान्यपि कर्माणि गुणप्रविभक्तानीत्युच्यते ॥४१॥

कानि पुनस्तानि कर्माणीत्युच्यते—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, शास्त्रज्ञान, अनुभवज्ञान और आस्तिकता–ये सब ब्राह्मण के स्वभावज कर्म (कहे गये हैं) ॥४२॥

शमो दमश्च यथाव्याख्यातार्थौ, **तपो** यथोक्तं शारीरादि, **शौचं** व्याख्यातं, **क्षान्तिः** क्षमा, **आर्जवमृजुतैव** च, **ज्ञानं विज्ञानम्, आस्तिक्यमस्तिभावः** श्रद्दधानताऽऽगमार्थेषु, **ब्रह्मकर्म** ब्राह्मणजातेः कर्म ब्रह्मकर्म **स्वभावजम्**। यदुक्तं 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' (गी. १८.४१) प्रविभक्तानीति तदेवोक्तं स्वभावजमिति ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरता, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे नहीं हटना, देयजनों में मुक्तहस्त से दान और प्रभुशक्ति का प्रकटीकरण—ये सब क्षत्रिय के स्वभावज कर्म (कहे गये हैं) ॥४३॥

शौर्यमिति। **शौर्यं** शूरस्य भावः। **तेजः** प्रागल्भ्यम्। **धृतिर्धारणं** सर्वावस्थास्वनवसादो भवति यया धृत्योत्त-

म्भितस्य। **दाक्ष्यं** दक्षस्य भावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः। **युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः** शत्रुभ्यः। **दानं** देयेषु मुक्तहस्तता। **ईश्वरभावश्चे**श्वरस्य भावः प्रभुशक्तिप्रकटीकरणमीशितव्यान्प्रति। क्षात्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म क्षात्रकर्म **स्वभावजम्**॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य वैश्य के स्वभावज कर्म हैं तथा शूद्र का भी परिचर्या (सेवा) स्वभावज कर्म है॥४४॥

कृषीति। **कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं** कृषिश्च गौरक्ष्यं च वाणिज्यं च कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं कृषिर्भूमेर्विलेखनं गौरक्ष्यं गा रक्षतीति गोरक्षस्तद्भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यं वाणिज्यं वणिक्कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं **वैश्यकर्म** वैश्यजातेः कर्म वैश्यकर्म **स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं** शुश्रूषास्वभावं **कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**॥४४॥

एतेषां जातिविहितानां कर्मणां सम्यगनुष्ठितानां स्वर्गप्राप्तिः फलं स्वभावतो 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलधर्मायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (गौ.ध.सू. ११.२९) इत्यादिस्मृतिभ्यः पुराणे च वर्णिनामाश्रमिणां च लोकफलभेदविशेषस्मरणात्। कारणान्तरात्त्विदं वक्ष्यमाणं फलम्—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रम कर्म में संलग्न रहकर अन्तःकरण की शुद्धिरूप संसिद्धि को प्राप्त करता है, पर जिस प्रकार स्वकर्मानुष्ठान में संलग्न पुरुष सिद्धि को प्राप्त करता है उसे सुनो ॥४५॥

स्वे स्वे यथोक्तलक्षणभेदे **कर्मण्यभिरतस्तत्परः संसिद्धिं** स्वकर्मानुष्ठानादशुद्धिक्षये सति कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां **लभते** प्राप्नोति **नरोऽधिकृतः** पुरुषः। किं स्वकर्मानुष्ठानत एव साक्षात्संसिद्धिः। न, कथं तर्हि **स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा** येन प्रकारेण **विन्दति तच्छृणु** ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस ईश्वर से प्राणियों की उत्पत्ति और जिससे चेष्टा होती है एवं जिस परमेश्वर से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उस परमेश्वर की अपने कर्म से अभ्यर्चनाकर मनुष्य ज्ञाननिष्ठारूप योग्यता (सिद्धि) को प्राप्त कर लेता है ॥४६॥

यत इति। **यतो** यस्मात्**प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा** वा यस्मादन्तर्यामिण ईश्वराद्**भूतानां** प्राणिनां स्याद्**येनेश्वरेण सर्वमिदं** जगत्**ततं** व्याप्तं **स्वकर्मणा** पूर्वोक्तेन प्रतिवर्णं **तमीश्वरमभ्यर्च्य** पूजयित्वाऽऽराध्य केवलं ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां **सिद्धिं विन्दति मानवो** मनुष्यः ॥४६॥

यत एवमतः—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

स्वधर्मानुष्ठान (बुद्धिशुद्ध्यादि के द्वारा) परम्परया मोक्ष का साधन

है, इसीलिए अच्छी प्रकार किये गये परकीयधर्मानुष्ठान से भी किसी अंश में विगुण स्वधर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावनियत कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं करता ॥४७॥

श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वो धर्मः **स्वधर्मो विगुणो**ऽपीत्यपिशब्दो द्रष्टव्यः, **परधर्मात्स्वनुष्ठितात्स्वभावनियतं** स्वभावेन नियतं, यदुक्तं स्वभावजमिति तदेवोक्तं स्वभावनियतमिति। यथा विषजातस्येव कृमेर्विषं न दोषकरं, तथा स्वभावनियतं **कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषं** पापम् ॥४७॥

स्वभावनियतं कर्म कुर्वाणो विषजात इव कृमिः किल्बिषं नाऽऽप्नोतीत्युक्तम्। परधर्मश्च भयावह इति। अनात्मज्ञश्च 'न हि कश्चित्क्षणमपि' (गी. ३.५) अकर्मकृत्तिष्ठतीति। अतः—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः ॥४८॥

अतः हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! सदोष भी सहज कर्म का परित्याग न करे, क्योंकि जैसे धूम से अग्नि आवृत रहती है ऐसे ही सभी आरम्भ दोषयुक्त हैं ॥४८॥

सहजं सह जन्मनैवोत्पन्नं सहजं किं तत्**कर्म कौन्तेय सदोषमपि** त्रिगुणत्वान्न **त्यजेत्सर्वारम्भा** आरभ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वकर्माणीत्येतत्प्रकरणात्। ये केचिदारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च ते सर्वे **हि** यस्मात्त्रिगुणात्मकत्वमत्र हेतुस्त्रिगुणात्मकत्वा**द्दोषेण धूमेन** सहजे**नाग्निरिवाऽऽवृताः**। सहजस्य कर्मणः स्वधर्माख्यस्य परित्यागेन परधर्मानुष्ठानेऽपि दोषान्नैव मुच्यते, भयावहश्च परधर्मः। न च शक्यतेऽशेषतस्त्यक्तुमज्ञेन कर्म यतस्तस्मान्न त्यजेदित्यर्थः।

किमशेषतस्त्यक्तुमशक्यं कर्मेति न त्यजेत्किं वा सहजस्य कर्मणस्त्यागे दोषो भवतीति। किंचातो यदि तावदशेषतस्त्यक्तुमशक्यमिति न त्याज्यं सहजं कर्मैवं तर्ह्यशेषतस्त्यागे गुण एव स्यादिति सिद्धं भवति। सत्यमेवमशेषतस्त्याग एव नोपपद्यत इति चेत्, किं नित्यप्रचलितात्मकः पुरुषो यथा सांख्यानां गुणाः। किंवा क्रियैव कारकं यथा बौद्धानां पञ्च स्कन्धाः क्षणप्रध्वंसिनः, उभयथाऽपि कर्मणोऽशेषतस्त्यागो न भवति। अथ तृतीयोऽपि पक्षो यदा करोति तदा सक्रियं वस्तु, यदा न करोति तदा निष्क्रियं वस्तु तदेव। तत्रैवं सति शक्यं कर्माशेषतस्त्यक्तुम्। अयं त्वस्मिन् तृतीये पक्षे विशेषो, न नित्यप्रचलितं वस्तु नापि क्रियैव कारकं किं तर्हि व्यवस्थिते द्रव्येऽविद्यमाना क्रियोत्पद्यते विद्यमाना च विनश्यति। शुद्धं तद् द्रव्यं शक्तिमदवतिष्ठत इत्येवमाहुः काणादास्तदेव च कारकमित्यस्मिन्पक्षे को दोष इति। अयमेव तु दोषो यतस्त्वभागवतं मतमिदम्। कथं ज्ञायते, यत आह भगवान् 'नासतो विद्यते भावः' (गी. २.१६) इत्यादि। काणादानां ह्यसतो भावः सतश्चाभाव इतीदं मतम्। अभागवतत्वेऽपि न्यायवच्चेत्को दोष इति चेत्। उच्यते, दोषवत्त्विदं सर्वप्रमाणविरोधात्। कथं, यदि तावद्द्व्यणुकादि द्रव्यं प्रागुत्पत्तेरत्यन्तमेवासदुत्पन्नं च स्थितं कंचित्कालं पुनरत्यन्तमेवासत्त्वमापद्यते। तथा च सत्यसदेव सज्जायते, सदेवासत्त्वमापद्यतेऽभावो भावो भवति भावश्चाभाव इति। तत्राभावो जायमानः प्रागुत्पत्तेः शशविषाणकल्पः समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यं कारणमपेक्ष्य जायत इति। न चैवमभाव उत्पद्यते कारणं वाऽपेक्षत इति शक्यं वक्तुमसतां शशविषाणादीनामदर्शनात्। भावात्मकाश्चेद्घटादय उत्पद्यमानाः

किंचिदभिव्यक्तिमात्रकारणमपेक्ष्योत्पद्यन्त इति शक्यं प्रतिपत्तुम्। किंचासतश्च सद्भावे सतश्चासद्भावे न क्वचित्प्रमाणप्रमेयव्यवहारे विश्वासः कस्यचित्स्यात्। सत्सदेवासदसदेवेतिनिश्चयानुपपत्तेः। किंचोत्पद्यत इति द्व्यणुकादेर्द्रव्यस्य स्वकारणसत्तासंबन्धमाहुः। प्रागुत्पत्तेश्चासत्पश्चात्स्वकारणव्यापारमपेक्ष्य स्वकारणैः परमाणुभिः सत्तया च समवायलक्षणेन संबन्धेन संबध्यते संबद्धं सत्कारण-समवेतं सद्भवति। तत्र वक्तव्यं कथमसतः सत्कारणं भवेत्संबन्धो वा केनचित्। नहि वन्ध्यापुत्रस्य सत्तासंबन्धो वा कारणं वा केनचित्प्रमाणतः कल्पयितुं शक्यम्। ननु नैव वैशेषिकैरभावस्य संबन्धः कल्प्यते द्व्यणुकादीनां हि द्रव्याणां स्वकारणेन सम-वायलक्षणः संबन्धः सतामेवोच्यत इति। न; संबन्धात्प्राक्सत्त्वा-नभ्युपगमात्। नहि वैशेषिकैः कुलालदण्डचक्रादिव्यापारा-त्प्राग्घटादीनामस्तित्वमिष्यते। न च मृद एव घटाद्याकारप्राप्ति-मिच्छन्ति। ततश्चासत एव संबन्धः पारिशेष्यादिष्टो भवति।

नन्वसतोऽपि समवायलक्षणः संबन्धो न विरुद्धः। न, वन्ध्या-पुत्रादीनामदर्शनात्। घटादेरेव प्रागभावस्य स्वकारणसंबन्धो भवति न वन्ध्यापुत्रादेरभावस्य तुल्यत्वेऽपीति विशेषोऽभावस्य वक्तव्यः। एकस्याभावो द्वयोरभावः सर्वस्याभावः प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभाव इति लक्षणतो न केनचिद्विशेषो दर्शयितुं शक्यः। असति च विशेषे घटस्य प्रागभाव एव कुलाला-दिभिर्घटभावमापद्यते संबध्यते च भावेन कपालाख्येन स्व-कारणेन सर्वव्यवहारयोग्यश्च भवति नतु घटस्यैव प्रध्वंसा-भावोऽभावत्वे सत्यपीति प्रध्वंसाद्यभावानां न क्वचिद्व्यवहार-योग्यत्वं प्रागभावस्यैव द्व्यणुकादिद्रव्याख्यस्योत्पत्त्यादिव्यवहा-रार्हत्वमित्येतदसमञ्जसमभावत्वाविशेषादत्यन्तप्रध्वंसाभावयोरिव।

ननु नैवास्माभिः प्रागभावस्य भावापत्तिरुच्यते। भावस्यैव हि तर्हि भावापत्तिर्यथा घटस्य घटापत्तिः पटस्य वा पटापत्तिः। एतदप्यभावस्य भावापत्तिवदेव प्रमाणविरुद्धम्। सांख्यस्यापि यः परिणामपक्षः सोऽप्यपूर्वधर्मोत्पत्तिविनाशाङ्गीकरणाद्वैशेषिकपक्षान्न विशिष्यते। अभिव्यक्तितिरोभावाङ्गीकरणेऽप्यभिव्यक्तितिरोभावयोर्विद्यमानत्वाविद्यमानत्वनिरूपणे पूर्ववदेव प्रमाणविरोधः। एतेन कारणस्यैव संस्थानमुत्पत्त्यादीत्येतदपि प्रत्युक्तम्।

पारिशेष्यात्सदेकमेव वस्त्वविद्ययोत्पत्तिविनाशादिधर्मैर्नटवदनेकधा विकल्प्यत इतीदं भागवतं मतमुक्तं 'नासतो विद्यते भावः' (गी. २.१६) इत्यस्मिञ्श्लोके। सत्प्रत्ययस्याव्यभिचाराद्व्यभिचाराच्चेतरेषामिति। कथं तर्हि, आत्मनोऽविक्रियत्वेऽशेषतः कर्मणस्त्यागो नोपपद्यत इति। यदि वस्तुभूता गुणा यदि वाऽविद्याकल्पितास्तद्धर्मः कर्म तदाऽऽत्मन्यविद्याध्यारोपितमेवेत्यविद्वान् 'न हि कश्चित्क्षणमपि' (गी. ३.५) अशेषतस्त्यक्तुं शक्नोतीत्युक्तम्। विद्वांस्तु पुनर्विद्ययाऽविद्यायां निवृत्तायां शक्नोत्येवाशेषतः कर्म परित्यक्तुमविद्याध्यारोपितस्य शेषानुपपत्तेः। नहि तैमिरिकदृष्ट्याऽध्यारोपितस्य द्विचन्द्रादेस्तिमिरापगमे शेषोऽवतिष्ठते। एवं च सतीदं वचनमुपपन्नं 'सर्वकर्माणि मनसा' (गी. ५.१३) इत्यादि। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गी. १८.४५) 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गी. १८.४६) इति च॥४८॥

या च कर्मजा सिद्धिरुक्ता ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणा, तस्याः फलभूता नैष्कर्म्यसिद्धिर्ज्ञाननिष्ठालक्षणा वक्तव्येति श्लोक आरभ्यते—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

सर्वत्र पुत्र दारादि में अनासक्तबुद्धि, जितात्मा, स्पृहारहित पुरुष, तत्त्वज्ञान से परम नैष्कर्म्य (निष्क्रिय आत्मस्थितिरूप) सिद्धि को प्राप्त करता है॥४९॥

असक्तबुद्धिरसक्ता सङ्गरहिता बुद्धिरन्तःकरणं यस्य सोऽसक्तबुद्धिः **सर्वत्र** पुत्रदारादिष्वासक्तिनिमित्तेषु **जितात्मा** जितो वशीकृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स जितात्मा **विगतस्पृहो** विगता स्पृहा तृष्णा देहजीवितभोगेषु यस्मात्स विगतस्पृहः। य एवंभूत आत्मज्ञः स **नैष्कर्म्यसिद्धिं** निर्गतानि कर्माणि यस्मान्निष्क्रियब्रह्मात्मसंबोधात्स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं नैष्कर्म्यं च तत्सिद्धिश्च सा नैष्कार्म्यसिद्धिर्नैष्कर्म्यस्य वा सिद्धिर्निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तां नैष्कर्म्यसिद्धिं **परमां** प्रकृष्टां कर्मजसिद्धिविलक्षणां सद्योमुक्त्यवस्थानरूपां संन्यासेन सम्यग्दर्शनेन तत्पूर्वकेण वा सर्वकर्म**संन्यासेनाधिगच्छति** प्राप्नोति। तथा चोक्तं "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते" (गी. ५.१३) इति॥४९॥

पूर्वोक्तेन स्वकर्मानुष्ठानेनेश्वराभ्यर्चनरूपेण जनितां प्रागुक्तलक्षणां सिद्धिं प्राप्तस्योत्पन्नात्मविवेकज्ञानस्य केवलात्मज्ञाननिष्ठारूपा नैष्कर्म्यलक्षणा सिद्धिर्येन क्रमेण भवति तद्वक्तव्यमित्याह—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता

है उसे मेरे वचनों से तू समझ ले। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! ज्ञान की जो सर्वोत्कृष्ट निष्ठा है, उसे मैं संक्षेप में ही बतलाऊँगा॥५०॥

सिद्धिं प्राप्तः स्वकर्मणेश्वरं समभ्यर्च्य तत्प्रसादजां कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिं प्राप्तः, सिद्धिं प्राप्त इति तदनुवाद उत्तरार्थः। किं तदुत्तरं यदर्थोऽनुवाद इत्युच्यते। **यथा** येन प्रकारेण ज्ञाननिष्ठारूपेण **ब्रह्म** परमात्मान**माप्नोति तथा** तं प्रकारं ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिक्रमं **मे** मम वचना**न्निबोध** त्वं निश्चयेनावधारयेत्येतत्। किं विस्तरेण नेत्याह **समासेनैव** संक्षेपेणैव, हे **कौन्तेय!** यथा ब्रह्म प्राप्नोति तथा निबोधेति। अनेन या प्रतिज्ञाता ब्रह्मप्राप्तिस्तामिदंतया दर्शयितुमाह—**निष्ठा ज्ञानस्य या परे**ति। निष्ठा पर्यवसानं परिसमाप्तिरित्येतत्। कस्य ब्रह्मज्ञानस्य या परा परिसमाप्तिः। कीदृशी सा। यादृशमात्मज्ञानम्। कीदृक्तत्, यादृश आत्मा। कीदृशोऽसौ, यादृशो भगवतोक्त उपनिषद्वाक्यैश्च न्यायतश्च।

ननु विषयाकारं ज्ञानं न विषयो नाप्याकारवानात्मेष्यते क्वचित्, ननु—'आदित्यवर्णम्' (गी. ८.९) 'भारूपः' (छा. ३.१४.२) 'स्वयंज्योतिः' (बृ. ४.३.७), इत्याकारवत्त्वमात्मनः श्रूयते। न; तमोरूपत्वप्रतिषेधार्थत्वात्तेषां वाक्यानाम्। द्रव्यगुणाद्याकारप्रतिषेध आत्मनस्तमोरूपत्वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थान्यादित्यवर्णमित्यादिवाक्यानि, अरूपमिति च विशेषतो रूपप्रतिषेधात्। अविषयत्वाच्च "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।" (श्वे. ४.२०) "अशब्दमस्पर्शम्" (कठ. १.३.१५) इत्याद्यैः। तस्मादात्माकारं ज्ञानमित्यनुपपन्नम्। कथं तर्ह्यात्मनो ज्ञानम्। सर्वं हि यद्विषयं ज्ञानं तत्तदाकारं भवति निराकारश्चा-

ऽऽत्मेत्युक्तम्। ज्ञानात्मनोश्चोभयोर्निराकारत्वे कथं तद्भावनानिष्ठेति। न, अत्यन्तनिर्मलत्वस्वच्छत्वसूक्ष्मत्वोपपत्तेरात्मनो बुद्धेश्चाऽऽत्मसमनैर्मल्याद्युपपत्तेरात्मचैतन्याकाराभासत्त्वोपपत्तिः। बुद्ध्याभासं मनस्तदाभासानीन्द्रियाणीन्द्रियाभासश्च देहोऽतो लौकिकैर्देहमात्र एवाऽऽत्मदृष्टिः क्रियते।

देहचैतन्यवादिनश्च लोकायतिकाश्चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इत्याहुः। तथाऽन्य इन्द्रियचैतन्यवादिनः। अन्ये मनश्चैतन्यवादिनः। अन्ये बुद्धिचैतन्यवादिनः। ततोऽप्यन्तरव्यक्तमव्याकृताख्यमविद्यावस्थमात्मत्वेन प्रतिपन्नाः केचित्। सर्वत्र हि बुद्ध्यादिदेहान्त आत्मचैतन्याभासताऽऽत्मभ्रान्तिकारणमित्यत आत्मविषयं ज्ञानं न विधातव्यं, किं तर्हि; नामरूपाद्यनात्माध्यारोपणनिवृत्तिरेव कार्या, नाऽऽत्मचैतन्यविज्ञानमविद्याध्यारोपितसर्वपदार्थाकारैरेवाविशिष्टतया गृह्यमाणत्वात्।

अत एव हि विज्ञानवादिनो बौद्धा विज्ञानव्यतिरेकेण वस्त्वेव नास्तीति प्रतिपन्नाः प्रमाणान्तरनिरपेक्षतां च स्वसंविदितत्वाभ्युपगमेन। तस्मादविद्याध्यारोपणनिराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यं, न तु ब्रह्मज्ञाने यत्नोऽत्यन्तप्रसिद्धत्वात्। अविद्याकल्पितनामरूपविशेषाकारापहृतबुद्धित्वादत्यन्तप्रसिद्धं सुविज्ञेयमासन्नतरमात्मभूतमप्यप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयमतिदूरमन्यदिव च प्रतिभात्यविवेकिनाम्। बाह्याकारनिवृत्तबुद्धीनां तु लब्धगुर्वात्मप्रसादानां नातः परं सुखं सुप्रसिद्धं सुविज्ञेयं स्वासन्नतरमस्ति। तथा चोक्तं 'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्' (गी. ९.२) इत्यादि।

केचित्तु पण्डितंमन्या निराकारत्वादात्मवस्तु नोपैति बुद्धिरतो दुःसाध्या सम्यग्ज्ञाननिष्ठेत्याहुः। सत्यमेवं गुरुसंप्रदायरहितानाम्-

श्रुतवेदान्तानामत्यन्तबहिर्विषयासक्तबुद्धीनां सम्यक्प्रमाणेष्वकृतश्रमाणां, तद्विपरीतानां तु लौकिकग्राह्यग्राहकद्वैतवस्तुनि सद्बुद्धिर्नितरां दुःसंपाद्याऽऽत्मचैतन्यव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरस्यानुपलब्धेः। यथा चैतदेवमेव नान्यथेत्यवोचाम। उक्तं च भगवता—'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' (गी. २.६९) इति। तस्माद्बाह्याकारभेदबुद्धिनिवृत्तिरेवाऽऽत्मस्वरूपालम्बने कारणम्। नह्यात्मा नाम कस्यचित्कदाचिदप्रसिद्धः प्राप्यो हेय उपादेयो वा। अप्रसिद्धे हि तस्मिन्नात्मनि अस्वार्थाः सर्वाः प्रवृत्तय प्रसज्येरन्।

न च देहाद्यचेतनार्थत्वं शक्यं कल्पयितुम्। न च सुखार्थं सुखं दुःखार्थं वा दुःखमात्मावगत्यवसानार्थत्वाच्च सर्वव्यवहारस्य। तस्माद्यथा स्वदेहस्य परिच्छेदाय न प्रमाणान्तरापेक्षा, ततोऽप्यात्मनोऽन्तरतमत्वात्तदवगतिं प्रति न प्रमाणान्तरापेक्षेत्यात्मज्ञाननिष्ठा विवेकिनां सुप्रसिद्धेति सिद्धम्।

येषामपि निराकारं ज्ञानमप्रत्यक्षं, तेषामपि ज्ञानवशेनैव ज्ञेयावगतिरिति ज्ञानमत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवदेवेत्यभ्युपगन्तव्यम्। जिज्ञासानुपपत्तेश्च। अप्रसिद्धं चेज्ज्ञानं ज्ञेयवज्जिज्ञास्येत। यथा ज्ञेयं घटादिलक्षणं ज्ञानेन ज्ञाता व्याप्तुमिच्छति, तथा ज्ञानमपि ज्ञानान्तरेण ज्ञाता व्याप्तुमिच्छेत्। न चैतदस्ति। अतोऽत्यन्तप्रसिद्धं ज्ञानं ज्ञाताऽप्यत एव प्रसिद्ध इति। तस्माज्ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः। किंत्वनात्मबुद्धिनिवृत्तावेव। तस्माज्ज्ञाननिष्ठा सुसंपाद्या॥५०॥

सेयं ज्ञानस्य परा निष्ठोच्यते कथं कार्येति—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

मायारहित, निश्चयात्मिकाबुद्धि से युक्त पुरुष धैर्यपूर्वक कार्य-करणसंघातरूप आत्मा को नियम में करके शब्दादि बाह्यविषयों को छोड़कर शरीरस्थिति के योग्य प्राप्त वस्तु में भी राग-द्वेष न करके (साधन करे)॥५१॥

छल कपट रहित

बुद्ध्याऽध्यवसायात्मिकया **विशुद्धया** मायारहितया **युक्तः** संपन्नो **धृत्या** धैर्येणाऽऽ**त्मानं** कार्यकरणसंघातं **नियम्य च** नियमनं कृत्वा वशीकृत्य **शब्दादीञ्**शब्द आदिर्येषां ते शब्दादयस्ता**न्विषयांस्त्यक्त्वा**। सामर्थ्याच्छ-रीरस्थितिमात्रान्केवलान्मुक्त्वा ततोऽधिकान्सुखार्थांस्त्यक्त्वे-त्यर्थः। शरीरस्थित्यर्थत्वेन प्राप्तेषु **च रागद्वेषौ व्युदस्य च** परित्यज्य॥५१॥ (शरीर स्थिति के लिए प्राप्त जो रागादि उनको भी छोड़ दें)

ततः—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

विविक्तसेवी हो; हित-मित मेध्य आहार करने वाला हो; वाणी शरीर और मन को संयमित करने वाला हो; सदा ध्यान एवं योग को श्रेष्ठ साधन मानता हो तथा दृढ़वैराग्य का आश्रय भी ले रखा हो॥५२॥

विविक्तसेव्यरण्यनदीपुलिनगिरिगुहादीन्विविक्तान्देशान्से-वितुं शीलमस्येति विविक्तसेवी। **लघ्वाशी** लघ्वशनशीलः। विविक्तसेवालघ्वशनयोर्निद्रादिदोषनिवर्तकत्वेन चित्तप्रसादहेतुत्वा-द्ग्रहणम्। **यतवाक्कायमानसो** वाक्चकायश्च मानसं च यतानि संयतानि यस्य ज्ञाननिष्ठस्य स ज्ञाननिष्ठो यतिर्यतवा-क्कायमानसः स्यात्। एवमुपरतसर्वकरणः **सन्ध्यानयोगपरो** ध्यानमात्मस्वरूपचिन्तनं योग आत्मविषय एवैकाग्रीकरणं तौ ध्यानयोगौ परत्वेन कर्तव्यौ यस्य स ध्यानयोगपरः। **नित्यं**

नित्यग्रहणं मन्त्रजपाद्यन्यकर्तव्याभावप्रदर्शनार्थम्। **वैराग्यं** विरागभावो दृष्टादृष्टेषु विषयेषु वैतृष्ण्यं **समुपाश्रितः** सम्यगुपाश्रितो नित्यमेवेत्यर्थः॥५२॥

किंच—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

अहंकार, काम-रागादि से युक्त बल, धर्मातिक्रमण का कारण दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह का परित्यागकर ममतारहित, शान्त, ज्ञाननिष्ठ साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है॥५३॥

अहंकारमहंकरणमहंकारो देहेन्द्रियादिषु तं **बलं** सामर्थ्यं कामरागादियुक्तं नेतरच्छरीरादिसामर्थ्यं स्वाभाविकत्वेन तत्त्यागस्याशक्यत्वात्। दर्पो नाम हर्षानन्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' (आ. ध. सू. १.१३.४) इति स्मरणात्तं च **काम**मिच्छां **क्रोधं** द्वेषं **परिग्रह**मिन्द्रियमनोगतदोषपरित्यागेऽपि शरीरधारणप्रसङ्गेन धर्मानुष्ठाननिमित्तेन वा बाह्यः परिग्रहः प्राप्तस्तं च **विमुच्य** परित्यज्य परमहंसपरिव्राजको भूत्वा देहजीवनमात्रेऽपि निर्गतममभावो **निर्ममो**ऽत एव **शान्त** उपरतः। यः संहृतायासो यतिर्ज्ञाननिष्ठो **ब्रह्मभूयाय** ब्रह्मभवनाय **कल्पते** समर्थो भवति॥५३॥

अनेन क्रमेण—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

इस क्रम से ब्रह्म को प्राप्त प्रसन्नात्मा साधक न शोक करता है और न आकांक्षा ही करता है, वह सम्पूर्ण भूतों में समभाव रखने वाला पुरुष मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है॥५४॥

विजातीय प्रत्यय प्रवाह से व्यवधान रहित सजातीय आत्मविषयक प्रत्यय प्रवाह को प्रवाहित करना ध्यान होता है

ब्रह्मभूतो ब्रह्मप्राप्तः **प्रसन्नात्मा** लब्धाध्यात्मप्रसादो **न शोचति** किंचिदर्थवैकल्यमात्मनो वैगुण्यं चोद्दिश्य न शोचति न संतप्यते **न काङ्क्षति**। ब्रह्मभूतस्यायं स्वभावोऽनूद्यते—'न शोचति न काङ्क्षति' इति। न ह्यप्राप्तविषयाकाङ्क्षा ब्रह्मविद उपपद्यते। न हृष्यतीति वा पाठः। **समः सर्वेषु भूतेष्वा**त्मौपम्येन सर्वेषु भूतेषु सुखं दुःखं वा सममेव पश्यतीत्यर्थो नाऽऽत्मसमदर्शनमिह तस्य वक्ष्यमाणत्वाद्भक्त्या मामभिजानातीति। एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो **मद्भक्तिं** मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनं **परामु**त्तमां ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गी. ७.१६) इत्युक्तम्॥५४॥

ततो ज्ञानलक्षणया—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

(तब उस ज्ञानरूपा) भक्ति के द्वारा मुझे अच्छी प्रकार जान लेता है। मैं उपाधि के कारण से जितना बड़ा हूँ और तत्त्वत: जो भी हूँ उसे ज्ञानरूपा भक्ति के द्वारा अच्छी प्रकार जान लेता है, तत्पश्चात् वह मुझमें प्रवेश कर जाता है॥५५॥

भक्त्या मामभिजानाति यावानहमुपाधिकृतविस्तरभेदो **यश्चा**हं विध्वस्तसर्वोपाधिभेद उत्तमपुरुष आकाशकल्पस्तं मामद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसमजमजरममरमभयमनिधनं **तत्त्वतो**ऽभिजानाति। **ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं** मामेव। नात्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्रिये भिन्ने विवक्षिते ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमिति, किं तर्हि फलान्तराभावाज्ज्ञानमात्रमेव। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी. १३.२) इत्युक्तत्वात्। ननु विरुद्धमिदमुक्तं ज्ञानस्य या परा निष्ठा तया माम-

एकरस - निजमात्राम्

भिजानातीति। कथं विरुद्धमिति चेदुच्यते, यदैव यस्मिन्विषये ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञातुस्तदैव तं विषयमभिजानाति ज्ञातेति न ज्ञाननिष्ठां ज्ञानावृत्तिलक्षणामपेक्षत इति। ततश्च ज्ञानेन नाभिजानाति ज्ञानवृत्त्या तु ज्ञाननिष्ठयाऽभिजानातीति। नैष दोषो ज्ञानस्य स्वात्मोत्पत्तिपरिपाकहेतुयुक्तस्य प्रतिपक्षविहीनस्य यदात्मानुभवनिश्चयावसानत्वं तस्य निष्ठाशब्दाभिलापाच्छास्त्राचार्योपदेशेन ज्ञानोत्पत्तिपरिपाकहेतुं सहकारिकारणं बुद्धिविशुद्ध्याद्यमानित्वादि चापेक्ष्य जनितस्य क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वज्ञानस्य कर्त्रादिकारकभेदबुद्धिनिबन्धनसर्वकर्मसंन्याससहितस्य स्वात्मानुभवनिश्चयरूपेण यदवस्थानं सा परा ज्ञाननिष्ठेत्युच्यते। सेयं ज्ञाननिष्ठाऽऽर्तादिभक्तित्रयापेक्षया परा चतुर्थी भक्तिरित्युक्ता। तया परया भक्त्या भगवन्तं तत्त्वतोऽभिजानाति। यदनन्तरमेवेश्वरक्षेत्रज्ञभेदबुद्धिरशेषतो निवर्तते। अतो ज्ञाननिष्ठा लक्षणया भक्त्या मामभिजानातीति वचनं च विरुध्यते। अत्र च सर्वं निवृत्तिविधायि शास्त्रं वेदान्तेतिहासपुराणस्मृतिलक्षणमर्थवद्भवति, "विदित्वा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ. ३.५.१) 'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' (महा. ना. १६.१४) 'न्यास एवात्यरेचयत्' (महा. ना. १५.१२) इति। 'संन्यासः कर्मणां न्यासः' 'वेदानिमं च लोकममुं च परित्यज्य' (आ. ध. सू. २.२३.१३) 'त्यज धर्ममधर्मं च' (महा. शान्ति. ३३१.४४) इत्यादि। इह च दर्शितानि वाक्यानि। न च तेषां वाक्यानामानर्थक्यं युक्तम्। न चार्थवादत्वं स्वप्रकरणस्थत्वात्प्रत्यगात्माविक्रियस्वरूपनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्य। न हि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रतिलोम्येन प्रत्यक्समुद्रं जिगमिषुणा समानमार्गत्वं संभवति। प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसंतानकरणाभिनिवेशश्च ज्ञान-

निष्ठा। सा च प्रत्यक्समुद्रगमनवत्कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते। पर्वतसर्षपयोरिवान्तरवान्विरोधः प्रमाणविदां निश्चितः। तस्मात्सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञाननिष्ठा कार्येति सिद्धम्॥५५॥

पञ्चदशाह्निकम्॥१५॥

* * *

स्वकर्मणा भगवतोऽभ्यर्चनभक्तियोगस्य सिद्धिप्राप्तिः फलं ज्ञाननिष्ठायोग्यता। यन्निमित्ता ज्ञाननिष्ठा मोक्षफलावसाना स भगवद्भक्तियोगोऽधुना स्तूयते शास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे शास्त्रार्थनिश्चयदार्ढ्याय—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

मेरे आश्रित हो सदा सभी कर्मों को करता हुआ भी कर्मयोगी मेरे प्रसाद से नित्य शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है॥५६॥

सर्वकर्माणि प्रतिषिद्धान्यपि **सदा कुर्वाणो**ऽनुतिष्ठन्**मद्व्यपाश्रयो**ऽहं वासुदेव ईश्वरो व्यपाश्रयो यस्य स मद्व्यपाश्रयो मय्यर्पितसर्वात्मभाव इत्यर्थः। सोऽपि **मत्प्रसादा**न्ममेश्वरस्य प्रसाद**दवाप्नोति शाश्वतं** नित्यं वैष्णवं **पदमव्ययम्**॥५६॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

विवेकबुद्धि के द्वारा दृष्टादृष्टार्थ सभी कर्मों को मुझ परमेश्वर में **'यत्करोषि यदश्नासि'** इस न्याय से समर्पणकर मेरे परायण हो बुद्धियोग (परमात्मा में समाहित बुद्धि) का आश्रय लेकर मुझमें सदा चित्त लगाने वाला बन जाओ॥५७॥

चेतसा विवेकबुद्ध्या **सर्वकर्माणि** दृष्टादृष्टार्थानि **मयीश्वरे संन्यस्य** 'यत्करोषि यदश्नासि' (गी. ९.२७) इत्युक्तन्यायेन **मत्परोऽहं** वासुदेवः परो यस्य तव स त्वं मत्परः सन्बुद्धियोगं मयि समाहितबुद्धित्वं बुद्धियोगस्तं **बुद्धियोगमुपाश्रित्या**ऽऽश्रयोऽनन्यशरणत्वं **मच्चित्तो** मय्येव चित्तं यस्य तव स त्वं मच्चित्तः **सततं** सर्वदा **भव**॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

मुझमें चित्त लगाने पर तू मेरे प्रसाद से संसार के कारण सम्पूर्ण कठिनाइयों को पार कर जाओगे और यदि अहंकारवश मेरे निर्दिष्ट आदेश को ग्रहण नहीं करोगे, तो तू नष्ट हो जाओगे॥५८॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुस्तराणि संसारहेतुजातानि **मत्प्रसादात्तरिष्यस्य**तिक्रमिष्यसि। **अथ चे**द्यदि **त्वं** मदुक्त**महंकारा**त्पण्डितोऽहमिति **न श्रोष्यसि** न ग्रहीष्यसि, ततस्त्वं **विनङ्क्ष्यसि** विनाशं गमिष्यसि॥५८॥

इदं च त्वया न मन्तव्यं स्वतन्त्रोऽहं किमर्थं परोक्तं करिष्यामीति—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

जो तुम अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानते हो, कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह निश्चय स्थिर नहीं है क्योंकि क्षात्रस्वभाव तुझे युद्ध में अवश्य लगायेगा॥५९॥

यच्चैतत्त्वमहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति न युद्धं करिष्यामीति **मन्यसे** चिन्तयसि, निश्चयं करोषि **मिथ्यैष**

यहाँ प्रकृति और स्वभाव एक अर्थ में हैं। अभिव्यक्ति भी [illegible] है वह स्वभाव [illegible]
[illegible] अभिव्यक्ति का कारण और वह स्वभाव से प्रकृति से [illegible] है)

व्यवसायो निश्चयस्ते तव, यस्मात्**प्रकृतिः** क्षात्रस्वभाव**स्त्वां नियोक्ष्यति**॥५९॥

यस्माच्च—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

हे कौन्तेय! पूर्वोक्त स्वभावजन्य शूरतादि से तुम सर्वथा बंधे हुए हो। अतः आज जिस अपने कर्म को तुम मोहवश करना नहीं चाहते हो, उसी कर्म को तुम परवश होकर कल करोगे॥६०॥

स्वभावजेन शौर्यादिना यथोक्तेन **कौन्तेय निबद्धो** निश्चयेन बद्धः **स्वेना**ऽऽत्मीयेन **कर्मणा कर्तुं नेच्छसि** यत्कर्म **मोहा**दविवेकतः। **करिष्यस्यवशोऽपि** परवश एव **तत्**कर्म॥६०॥

यस्मात्—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

हे अर्जुन! सभी प्राणियों के हृदयदेश में ईश्वर बैठा है, वह शरीररूप यन्त्र के ऊपर आरूढ़ सभी प्राणियों को अपनी माया द्वारा नचाता रहता है॥६१॥

ईश्वर ईशनशीलो नारायणः **सर्वभूतानां** सर्वप्राणिनां **हृद्देशे** हृदयदेशे**ऽर्जुन** शुक्लान्तरात्मस्वभावो विशुद्धान्तःकरण इति। 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋ. सं. ४.५.१०.१) इति दर्शनात्। **तिष्ठति** स्थितिं लभते। स कथं तिष्ठतीत्याह—**भ्रामयन्**भ्रमणं कारयन्**सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि** यन्त्राण्यारूढान्यधिष्ठितानीवेतीवशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। यथा दारुकृतपुरुषादीनि यन्त्रारूढानि **मायया** छद्मना भ्रामयंस्तिष्ठतीति संबन्धः॥६१॥

एकं - मां शरणागति जो हो वह अव्यभिचारिणी हो। शरणागति में व्यभिचार का निवारक है 'एकं'। व्रज = आश्रय.

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

संसारदुःखनिवृत्ति के लिए उसी सर्वनियन्ता परमेश्वर का सभी प्रकार से आश्रय लो। हे भारत! उस ईश्वर के अनुग्रह से तुम प्रकृष्ट शान्ति और परमेश्वर के शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे॥६२॥

तमेवेश्वरं **शरण**माश्रयं संसारार्तिहरणार्थं **गच्छा**ऽऽश्रय **सर्वभावेन** सर्वात्मना, हे **भारत!** ततस्**तत्प्रसादा**दीश्वरानुग्रहात्**परां** प्रकृष्टां **शान्तिं** परामुपरतिं **स्थानं** च मम विष्णोः परमं पदमवाप्स्यसि **शाश्वतं** नित्यम्॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३॥

इस प्रकार गुह्यातिगुह्य ज्ञान मैंने तुझे बतला दिया, अब इस ज्ञान को पूर्ण रूप से विचार कर तेरी जैसी इच्छा हो, वैसा कर॥६३॥

इत्येतत्ते तुभ्यं **ज्ञानमाख्यातं** कथितं **गुह्याद्**गोप्याद्**गुह्यतर**मतिशयेन गुह्यं रहस्यमित्यर्थः। **मया** सर्वज्ञेनेश्वरेण **विमृश्य** विमर्शनमालोचनं कृत्वैतद्यथोक्तं शास्त्र**मशेषेण** समस्तं यथोक्तं चार्थजातं **यथेच्छसि तथा कुरु**॥६३॥

भूयोऽपि मयोच्यमानं शृणु—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

अत्यन्त गुह्यतम मेरा उत्कृष्ट वचन पुनः कहा जायेगा, उसे तू सुन। तू मेरा प्रिय है, यह निश्चित है। इसीलिए तेरे हितनिमित्त मैं पुनः उस श्रेष्ठ वचन को कहूँगा॥६४॥

सर्वगुह्यतमं सर्वगुह्येभ्योऽत्यन्तरहस्यमुक्तमप्यसकृद्**भूयः** पुनः **शृणु मे** मम **परमं** प्रकृष्टं **वचो** वाक्यम्। न भयान्नाप्यर्थकारणाद्वा वक्ष्यामि किं तर्हीष्टः **प्रियोऽसि मे** मम दृढमव्यभिचारेणेति कृत्वा **ततस्तेन** कारणेन **वक्ष्यामि** कथयिष्यामि **ते हितं** परमज्ञानप्राप्तिसाधनम्। तद्धि सर्वहितानां हिततमम्॥६४॥

किं तदित्याह—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

तुम मुझमें चित्त लगाओ, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो; ऐसा करने पर तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, कि तू मेरा प्रिय है॥६५॥

मन्मना भव मच्चित्तो भव **मद्भक्तो** भव मद्भजनो भव **मद्याजी** मद्यजनशीलो भव **मां नमस्कुरु** नमस्कारमपि ममैव कुरु। तत्रैवं वर्तमानो वासुदेव एव सर्वसमर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनो **मामेवैष्यस्या**गमिष्यसि। **सत्यं ते** तव **प्रतिजाने** सत्यां प्रतिज्ञां करोम्येतस्मिन्वस्तुनीत्यर्थः। यतः **प्रियोऽसि मे**। एवं भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं बुद्ध्वा भगवद्भक्तेरवश्यंभाविमोक्षफलमवधार्य भगवच्छरणैकपरायणो भवेदिति वाक्यार्थः॥६५॥

कर्मयोगनिष्ठायाः परमरहस्यमीश्वरशरणतामुपसंहृत्याथेदानीं कर्मयोगनिष्ठाफलं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तविहितं वक्तव्यमित्याह—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

(हे अर्जुन!) तू सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास करके एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर॥६६॥

सर्वधर्मान्सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्मास्तान्। धर्मशब्देनात्राधर्मोऽपि गृह्यते नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वात्। "नाविरतो दुश्चरितात्" (कठ. १.२.२३) 'त्यज धर्ममधर्मं च' (महा. शान्ति. ३२९.४०) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। सर्वधर्मान्**परित्यज्य** संन्यस्य सर्वकर्माणीत्येतत्। **मामेकं** सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थमीश्वरमच्युतं गर्भजन्मजरामरणविवर्जितमहमेवेत्येवमेकं **शरणं-व्रज** न मत्तोऽन्यदस्तीत्यवधारयेत्यर्थः। **अहं त्वा** त्वामेवंनिश्चितबुद्धिं **सर्वपापेभ्यः** सर्वधर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यो **मोक्षयिष्यामि** स्वात्मभावप्रकाशीकरणेन। उक्तं च—'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' (गी. १०.११) इति। अतो **माशुचः** शोकं मा कार्षिरित्यर्थः।

अस्मिन्हि गीताशास्त्रे परं निःश्रेयससाधनं निश्चितं किं ज्ञानं किं कर्म वाऽऽहोस्विदुभयमिति। कुतः संदेहः? यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते (गी. १३.१२) 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (गी. १८.५५) इत्यादीनि वाक्यानि केवलाज्ज्ञानान्निःश्रेयसप्राप्तिं दर्शयन्ति। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गी. २.४७) 'कुरु कर्मैव' (गी. ४.१५) इत्येवमादीनि कर्मणामवश्यकर्तव्यतां दर्शयन्ति। एवं ज्ञानकर्मणोः कर्तव्यतोपदेशात्समुच्चितयोरपि निःश्रेयसहेतुत्वं स्यादिति भवेत्संशयः। किं पुनरत्र मीमांसाफलम्। नन्वेतदेवैषामन्यतमस्य परमनिःश्रेयससाधनत्वावधारणम्। अतो विस्तीर्णतरं मीमांस्यमेतत्।

आत्मज्ञानस्य तु केवलस्य निःश्रेयसहेतुत्वं भेदप्रत्ययनिवर्तकत्वेन कैवल्यफलावसानत्वात्। क्रियाकारकफलभेदबुद्धिरविद्ययाऽऽत्मनि नित्यप्रवृत्ता मम कर्माहंकर्ताऽमुष्मै फलायेदं कर्म

करिष्यामीतीयमविद्याऽनादिकालप्रवृत्ता। अस्या अविद्याया निवर्तकमयमहमस्मि केवलोऽकर्ताऽक्रियोऽफलो न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चिदित्येवंरूपमात्मविषयं ज्ञानमुत्पद्यमानं कर्मप्रवृत्तिहेतुभूताया भेदबुद्धेर्निवर्तकत्वात्। तुशब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थो न केवलेभ्यः कर्मभ्यो न च ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां निःश्रेयसप्राप्तिरिति पक्षद्वयं निवर्तयति। अकार्यत्वाच्च निःश्रेयसस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्तिः। न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते। केवलज्ञानमप्यनर्थकं तर्हि। न; अविद्यानिवर्तकत्वे सति दृष्टकैवल्यफलावसानत्वात्। अविद्यातमोनिवर्तकस्य ज्ञानस्य दृष्टं कैवल्यफलावसानत्वम्। रज्ज्वादिविषये सर्पाद्यज्ञानतमोनिवर्तकप्रदीपप्रकाशफलवत्। विनिवृत्तसर्पविकल्परज्जुकैवल्यावसानं हि प्रकाशफलं, तथा ज्ञानम्। दृष्टार्थानां च च्छिदिक्रियाग्निमन्थनादीनां व्यापृतकर्त्रादिकारकाणां द्वैधीभावाग्निदर्शनादिफलादन्यफले कर्मान्तरे व्यापारानुपपत्तिर्यथा, तथा ज्ञाननिष्ठक्रियायां दृष्टार्थायां व्यापृतस्य ज्ञात्रादिकारकस्याऽऽत्मकैवल्यफलादन्यफले कर्मान्तरे प्रवृत्तिरनुपपन्नेति न ज्ञाननिष्ठा कर्मसहितोपपद्यते। भुज्यग्निहोत्रादिक्रियावत्स्यादिति चेत्। न, कैवल्यफले ज्ञाने क्रियाफलार्थित्वानुपपत्तेः। कैवल्यफले हि ज्ञाने प्राप्ते सर्वतः संप्लुतोदके फले कूपतडागादिक्रियाफलार्थित्वाभाववत्फलान्तरे तत्साधनभूतायां वा क्रियायामर्थित्वानुपपत्तिः। नहि राज्यप्राप्तिफलं कर्मणि व्यापृतस्य क्षेत्रप्राप्तिफले व्यापारोपपत्तिस्तद्विषयं चार्थित्वम्। तस्मान्न कर्मणोऽस्ति निःश्रेयससाधनत्वम्। न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोः। नापि ज्ञानस्य कैवल्यफलस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा, अविद्यानिवर्तकत्वेन विरोधात्। नहि तमस्तमसो निवर्तकम्, अतः केवलमेव ज्ञानं निःश्रेयससाधनमिति। न, नित्याकरणे प्रत्यवायप्राप्तेः, कैवल्यस्य च नित्यत्वात्। यत्तावत्केवलज्ञानात्कैवल-

ल्यप्राप्तिरित्येतदसत्। यतो नित्यानां कर्मणां श्रुत्युक्तानामकरणे प्रत्यवायो नरकादिप्राप्तिलक्षणः स्यात्। नन्वेवं तर्हि कर्मभ्यो मोक्षो नास्तीत्यनिर्मोक्ष एव। नैष दोषो, नित्यत्वान्मोक्षस्य। नित्यानां कर्मणामनुष्ठानात्प्रत्यवायस्याप्राप्तिः। प्रतिषिद्धस्य चाकरणादनिष्टशरीरानुपपत्तिः। काम्यानां च वर्जनादिष्टशरीरानुपपत्तिः। वर्तमानशरीरारम्भकस्य च कर्मणः फलोपभोगक्षये पतितेऽस्मिञ्शरीरे देहान्तरोत्पत्तौ च कारणाभावादात्मनो रागादीनां चाकरणात्स्वरूपावस्थानमेव कैवल्यमित्ययत्नसिद्धं कैवल्यमिति।

अतिक्रान्तानेकजन्मान्तरकृतस्य स्वर्गनरकादिप्राप्तिफलस्यानारब्धकार्यस्योपभोगानुपपत्तेः क्षयाभाव इति चेत्। न, नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखोपभोगस्य तत्फलोपभोगत्वोपपत्तेः। प्रायश्चित्तवद्वा पूर्वोपात्तदुरितक्षयार्थत्वान्नित्यकर्मणाम्। आरब्धानां चोपभोगेनैव कर्मणां क्षीणत्वादपूर्वाणां च कर्मणामनारम्भेऽयत्नसिद्धं कैवल्यमिति। न, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ६.१५) इति विद्याया अन्यः पन्था मोक्षाय न विद्यत इति श्रुतेश्चर्मवदाकाशवेष्टनासंभववदविदुषो मोक्षासंभवश्रुतेर्ज्ञानात्कैवल्यमाप्नोतीति च पुराणस्मृतेरनारब्धफलानां पुण्यानां कर्मणां क्षयानुपपत्तेश्च। यथा पूर्वोपात्तानां दुरितानामनारब्धफलानां संभवस्तथा पुण्यानामप्यनारब्धफलानां स्यात्संभवः। तेषां च देहान्तरमकृत्वा क्षयानुपपत्तौ मोक्षानुपपत्तिः। धर्माधर्महेतूनां च रागद्वेषमोहानामन्यत्राऽऽत्मज्ञानादुच्छेदानुपपत्तेर्धर्माधर्मोच्छेदानुपपत्तिः।नित्यानां च कर्मणां पुण्यलोकफलश्रुतेः 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा' (गौ.ध.सू. ११.२९) इत्यादिस्मृतेश्च कर्मक्षयानुपपत्तिः।

ये त्वाहुर्नित्यानि कर्माणि दुःखपूर्वत्वात्पूर्वकृतदुरितकर्मणां फलमेव न तु तेषां स्वरूपव्यतिरेकेणान्यत्फलमस्त्यश्रुतत्वाज्जीवनादिनिमित्ते च विधानादिति। न, अप्रवृत्तानां फलदानासंभवाद्दुःखफलविशेषानुपपत्तिश्च कर्मणां स्यात्। यदुक्तं पूर्वजन्मकृतदुरितानां कर्मणां फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं भुज्यत इति। तदसत्। न हि मरणकाले फलदानायाङ्कुरीभूतस्य कर्मणः फलमन्यकर्मारब्धे जन्मन्युपभुज्यत इत्युपपत्तिः। अन्यथा स्वर्गफलोपभोगायाग्निहोत्रादिकर्मारब्धे जन्मनि नरकफलोपभोगानुपपत्तिर्न स्यात्। तस्य दुरितदुःखविशेषफलत्वानुपपत्तेश्च। अनेकेषु हि दुरितेषु संभवत्सु भिन्नदुःखसाधनफलेषु नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमात्रफलेषु कल्प्यमानेषु द्वंद्वरोगादिबाधानिमित्तं न हि शक्यते कल्पयितुं, नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमेव पूर्वकृतदुरितफलं न शिरसा पाषाणवहनादिदुःखमिति।

अप्रकृतं चेदमुच्यते नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं पूर्वकृतदुरितकर्मफलमिति। कथम्, अप्रसूतफलस्य हि पूर्वकृतदुरितस्य क्षयो नोपपद्यत इति प्रकृतं तत्र प्रसूतफलस्य कर्मणः फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमाह भवान्नाप्रसूतफलस्येति। अथ सर्वमेव पूर्वकृतं दुरितं प्रसूतफलमेवेति मन्यते भवांस्ततो नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमेव फलमिति विशेषणमयुक्तं नित्यकर्मविध्यानर्थक्यप्रसङ्गश्चोपभोगेनैव प्रसूतफलस्य दुरितकर्मणः क्षयोपपत्तेः। किंच श्रुतस्य नित्यस्य दुःखं कर्मणश्चेत्फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासादेव तद्दृश्यते व्यायामादिवत्तदन्यस्येति कल्पनानुपपत्तिः। जीवनादिनिमित्ते च विधानान्नित्यानां कर्मणाम्। प्रायश्चित्तवत्पूर्वकृतदुरितफलत्वानुपपत्तिः यस्मिन्पापकर्मणि निमित्ते यद्विहितं प्रायश्चित्तं न तु तस्य पापस्य तत्फलम्। अथ तस्यैव पापस्य

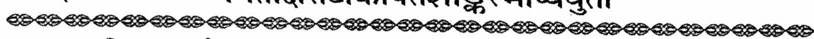
निमित्तस्य प्रायश्चित्तदुःखं फलं जीवनादिनिमित्तमपि नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं जीवनादिनिमित्तस्यैव फलं प्रसज्येत नित्यप्रायश्चित्तयोर्नैमित्तिकत्वाविशेषात्।

किंचान्यन्नित्यस्य काम्यस्य चाग्निहोत्रादेरनुष्ठानायासदुःखस्य तुल्यत्वान्नित्यानुष्ठानायासदुःखमेव पूर्वकृतदुरितस्य फलं न तु काम्यानुष्ठानायासदुःखमिति विशेषो नास्तीति तदपि पूर्वकृतदुरितफलं प्रसज्येत। तथा च सति नित्यानां फलाश्रवणात्तद्विधानान्यथानुपपत्तेश्च नित्यानुष्ठानायासदुःखं पूर्वकृतदुरितफलमित्यर्थापत्तिकल्पनाऽनुपपन्ना। एवं विधानान्यथानुपपत्तेरनुष्ठानायासदुःखव्यतिरिक्तफलत्वानुमानाच्च नित्यानाम्। विरोधाच्च। विरुद्धं चेदमुच्यते नित्यकर्मण्यनुष्ठीयमानेऽन्यस्य कर्मणः फलं भुज्यत इत्यभ्युपगम्यमाने स एवोपभोगो नित्यस्य कर्मणः फलमिति नित्यस्य कर्मणः फलाभाव इति (च) विरुद्धमुच्यते। किंच काम्याग्निहोत्रादावनुष्ठीयमाने नित्यमप्यग्निहोत्रादि तन्त्रेणैवानुष्ठितं भवतीति तदायासदुःखेनैव काम्याग्निहोत्रादिफलमुपक्षीणं स्यात्तत्तन्त्रत्वात्।

अथ काम्याग्निहोत्रादिफलमन्यदेव स्वर्गादि, तदनुष्ठानायासदुःखमपि भिन्नं प्रसज्येत। न च तदस्ति, दृष्टविरोधात्। न हि काम्यानुष्ठानायासदुःखात्केवलनित्यानुष्ठानायासदुःखं भिद्यते। किंचान्यदविहितमप्रतिषिद्धं च कर्म तत्कालफलं न तु शास्त्रचोदितं प्रतिषिद्धं वा तत्कालफलम्। भवेद्यदि तदा स्वर्गादिष्वप्यदृष्टफलशासने चोद्यमो न स्यात्। अग्निहोत्रादीनामेव कर्मस्वरूपाविशेषेऽनुष्ठानायासदुःखमात्रेणोपक्षयः काम्यानां च स्वर्गादिमहाफलत्वमङ्गेतिकर्तव्यताद्याधिक्ये त्वसति फलकामित्वमात्रेणेति न शक्यं कल्पयितुम्। तस्मान्न नित्यानां कर्मणा-

मदृष्टफलाभावः कदाचिदप्युपपद्यते। अतश्चाविद्यापूर्वकस्य कर्मणो विद्यैव शुभस्याशुभस्य वा क्षयकारणमशेषतो न नित्यकर्मानुष्ठानम्। अविद्याकामबीजं हि सर्वमेव कर्म। तथा चोपपादितम्। अविद्वद्विषयं कर्म विद्वद्विषया च सर्वकर्मसंन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा। 'उभौ तौ न विजानीतः', 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (गी. २.२१), 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (गी. ३.३), 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनां' (गी. ३.२६), 'तत्त्ववित्तु' गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' (गी. ३.२८), 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते' (गी. ५.१३), 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (गी. ५.८), अर्थादज्ञः करोमीति। आरुरुक्षोः कर्म कारणमारूढस्य योगस्थस्य शम एव कारणम्। उदारास्त्रयोऽप्यज्ञा 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी. ७.१८)। अज्ञाः कर्मिणो 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (गी. ९.२१)। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' (गी. ९.२२) नित्ययुक्ता यथोक्तमात्मानमाकाशकल्पमकल्मषमुपासते। 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी. १०.१०)। अर्थान्न कर्मिणोऽज्ञा उपयान्ति।

भगवत्कर्मकारिणो ये युक्ततमा अपि कर्मिणोऽज्ञास्त उत्तरोत्तरहीनफलत्यागावसानसाधनाः अनिर्देश्याक्षरोपासकास्तु 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (गी. १२.१३) इत्याद्याध्यायपरिसमाप्त्युक्तसाधनाः क्षेत्राध्यायाद्यध्यायत्रयोक्तज्ञानसाधनाश्च। अधिष्ठानादिपञ्चहेतुकसर्वकर्मसंन्यासिनामात्मैकत्वाकर्तृत्वज्ञानवतां परस्यां ज्ञाननिष्ठायां वर्तमानानां भगवत्तत्त्वविदामनिष्टादिकर्मफलत्रयं परमहंसप्रव्राजकानामेव लब्धभगवत्स्वरूपात्मैकत्वशरणानां न भवति, भवत्येवान्येषामज्ञानां कर्मिणामसंन्यासिनामित्येष गीताशास्त्रोक्तस्य कर्तव्याकर्तव्यार्थस्य विभागः।



अविद्यापूर्वकत्वं सर्वस्य कर्मणोऽसिद्धमिति चेत्। न, ब्रह्महत्यादिवत्। यद्यपि शास्त्रावगतं नित्यं कर्म, तथाऽप्यविद्यावत एव भवति। यथा प्रतिषेधशास्त्रावगतमपि ब्रह्महत्यादिलक्षणं कर्मानर्थकारणमविद्याकामादिदोषवतो भवत्यन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तथा नित्यनैमित्तिककाम्यान्यपीति। व्यतिरिक्तात्मन्यज्ञाते प्रवृत्तिर्नित्यादिकर्मस्वनुपपन्नेति चेत्। न, चलनात्मकस्य कर्मणोऽनात्मकर्तृकस्याहं करोमीतिप्रवृत्तिदर्शनात्। देहादिसंघातेऽहंप्रत्ययो गौणो न मिथ्येति चेत्। न, तत्कार्येष्वपि गौणत्वोपपत्तेः। आत्मीये देहादिसंघातेऽहंप्रत्ययो गौणो यथाऽऽत्मीये पुत्र 'आत्मा वै पुत्र नामासि' (कौ. २.११) इति, लोके चापि मम प्राण एवायं गौरिति, तद्वत्। नैवायं मिथ्याप्रत्ययो, मिथ्याप्रत्ययस्तु स्थाणुपुरुषयोरगृह्यमाणविशेषयोः। न गौणप्रत्ययस्य मुख्यकार्यार्थत्वमधिकरणस्तुत्यर्थत्वाल्लुप्तोपमाशब्देन। यथा सिंहो देवदत्तोऽग्निर्माणवक इति सिंह इवाग्निरिव क्रौर्यपैङ्गल्यादिसामान्यवत्त्वाद्देवदत्तमाणवकाधिकरणस्तुत्यर्थमेव न तु सिंहकार्यमग्निकार्यं वा गौणशब्दप्रत्ययनिमित्तं किंचित्साध्यते मिथ्याप्रत्ययकार्यं त्वनर्थमनुभवति। गौणप्रत्ययविषयं च जानाति नैष सिंहो देवदत्तः स्यान्नायमग्निर्माणवक इति। तथा गौणेन देहादिसंघातेनाऽऽत्मना कृतं कर्म न मुख्येनाहंप्रत्ययविषयेणाऽऽत्मना कृतं स्यात्। न हि गौणसिंहाग्निभ्यां कृतं कर्म मुख्यसिंहाग्निभ्यां कृतं स्यात्। न च क्रौर्येण पैङ्गल्येन वा मुख्यसिंहाग्न्योः कार्यं किंचित्क्रियते, स्तुत्यर्थत्वेनोपक्षीणत्वात्। स्तूयमानौ च जानीतो नाहं सिंहो नाहमग्निरिति न सिंहस्य कर्म ममाग्नेश्चेति, तथा न संघातस्य कर्म मम मुख्यस्याऽऽत्मन इति प्रत्ययो युक्ततरः स्यान्न पुनरहं कर्ता मम कर्मेति।

यच्चाऽऽहुरात्मीयैः स्मृतीच्छाप्रयत्नैः कर्महेतुभिरात्मा करोतीति।

न, तेषां मिथ्याप्रत्ययपूर्वकत्वात्। मिथ्याप्रत्ययनिमित्तेष्टानिष्टानुभूतक्रियाफलजनितसंस्कारपूर्वका हि स्मृतीच्छाप्रयत्नादयः। यथाऽस्मिञ्जन्मनि देहादिसंघाताभिमानरागद्वेषादिकृतौ धर्माधर्मौ तत्फलानुभवश्च तथाऽतीतेऽतीततरेऽपि जन्मनीत्यनादिरविद्याकृतः संसारोऽतीतोऽनागतश्चानुमेयः। ततश्च सर्वकर्मसंन्यासाज्ज्ञाननिष्ठायामात्यन्तिकः संसारोपरम इति सिद्धम्।

अविद्यात्मकत्वाच्च देहाभिमानस्य तन्निवृत्तौ देहानुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः। देहादिसंघात आत्माभिमानोऽविद्यात्मकः। न हि लोके गवादिभ्योऽन्योऽहं मत्तश्चान्ये गवादय इति जानंस्तेष्वहमिति प्रत्ययं मन्यते कश्चित्। अजानंस्तु स्थाणौ पुरुषविज्ञानवदविवेकतो देहादिसंघाते कुर्यादहमिति प्रत्ययं न विवेकतो जानन्।

यस्तु 'आत्मा वै पुत्र नामासि' (कौ. २.११) इति पुत्रेऽहंप्रत्ययः स तु जन्यजनकसंबन्धनिमित्तो गौणः। गौणेन चाऽऽत्मना भोजनादिवत्परमार्थकार्यं न शक्यते कर्तुं गौणसिंहाग्निभ्यां मुख्यसिंहाग्निकार्यवत्। अदृष्टविषयचोदनाप्रामाण्यादात्मकर्तव्यं गौणैर्देहेन्द्रियात्मभिः क्रियत एव इति चेत्। न; अविद्याकृतात्मत्वात्तेषाम्। न गौणा आत्मानो देहेन्द्रियादयः। कथं तर्हि मिथ्याप्रत्ययेनैवासङ्गस्याऽऽत्मनः संगत्यात्मत्वमापाद्यते तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्। अविवेकिनां ह्यज्ञानकाले बालानां दृश्यते दीर्घोऽहं गौरोऽहमिति देहादिसंघातेऽहंप्रत्ययो न तु विवेकिनामन्योऽहं देहादिसंघातादितिज्ञानवतां तत्काले देहादिसंघातेऽहंप्रत्ययो भवति। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययाभावेऽभावात्तत्कृत एव न गौणः। पृथग्गृह्यमाणविशेषसामान्ययोर्हि सिंहदेवदत्तयोरग्नि-

माणवकयोर्वा गौणः प्रत्ययः शब्दप्रयोगो वा स्यान्नागृह्यमाणसामान्यविशेषयोः।

यत्तूक्तं श्रुतिप्रामाण्यादिति। न, तत्प्रामाण्यस्यादृष्टविषयत्वात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषयेऽग्निहोत्रादिसाध्यसाधनसंबन्धे श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादिविषये, अदृष्टदर्शनार्थत्वात्प्रामाण्यस्य। तस्मान्न दृष्टमिथ्याज्ञाननिमित्तस्याहंप्रत्ययस्य देहादिसंघाते गौणत्वं कल्पयितुं शक्यम्। न हि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत्प्रामाण्यमुपैति। यदि ब्रूयाच्छीतोऽग्निरप्रकाशो वेति तथाऽप्यर्थान्तरं श्रुतेर्विवक्षितं कल्प्यं प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेर्न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा।

कर्मणो मिथ्याप्रत्ययवत्कर्तृकत्वात्कर्तुरभावे श्रुतेरप्रामाण्यमिति चेत्। न, ब्रह्मविद्यायामर्थवत्त्वोपपत्तेः। कर्मविधिश्रुतिवद्ब्रह्मविद्याविधिश्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्। न, बाधकप्रत्ययानुपपत्तेः। यथा ब्रह्मविद्याविधिश्रुत्याऽऽत्मन्यवगते देहादिसंघातेऽहंप्रत्ययो बाध्यते तथाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मावगतिर्न कदाचित्केनचित्कथंचिदपि बाधितुं शक्या फलाव्यतिरेकावगतेर्यथाऽग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति। न चैव कर्मविधिश्रुतेरप्रामाण्यं, पूर्वपूर्वप्रवृत्तिनिरोधेनोत्तरोत्तरापूर्वप्रवृत्तिजननस्य प्रत्यगात्माभिमुख्येन प्रवृत्त्युत्पादनार्थत्वात्। मिथ्यात्वेऽप्युपायस्योपेयसत्यतया सत्यत्वमेव स्याद्यथाऽर्थवादानां विधिशेषाणाम्। लोकेऽपि बालोन्मत्तादीनां पयआदौ पाययितव्ये चूडावर्धनादिवचनम्। प्रकारान्तरस्थानां च साक्षादेव प्रामाण्यसिद्धिः प्रागात्मज्ञानाद्देहाभिमाननिमित्तप्रत्यक्षादिप्रामाण्यवत्।

यत्तु मन्यसे स्वयमव्याप्रियमाणोऽप्यात्मा संनिधिमात्रेण करोति

तदेव च मुख्यं कर्तृत्वमात्मनः। यथा राजा युध्यमानेषु योधेषु युध्यत इति प्रसिद्धं स्वयमयुध्यमानोऽपि संनिधानादेव जितः पराजितश्चेति तथा सेनापतिर्वाचैव करोति क्रियाफलसंबन्धश्च राज्ञः सेनापतेश्च दृष्टः, यथा च ऋत्विक्कर्म यजमानस्य, तथा देहादीनां कर्माऽऽत्मकृतं स्यात्तत्फलस्याऽऽत्मगामित्वात्। यथा च भ्रामकस्य लोहभ्रामयितृत्वादव्यापृतस्यैव मुख्यमेव कर्तृत्वं तथा चाऽऽत्मन इति। तदसत्, अकुर्वतः कारकत्वप्रसङ्गात्। कारकमनेकप्रकारमिति चेत्। न, राजप्रभृतीनां मुख्यस्यापि कर्तृत्वस्य दर्शनात्। राजा तावत्स्वव्यापारेणापि युध्यते योधानां योधयितृत्वेन धनदानेन च मुख्यमेव कर्तृत्वं तथा जयपराजयफलोपभोगे। तथा यजमानस्यापि प्रधानत्यागेन दक्षिणादानेन च मुख्यमेव कर्तृत्वम्। तस्मादव्यापृतस्य कर्तृत्वोपचारो यः स गौण इत्यवगम्यते। यदि मुख्यं कर्तृत्वं स्वव्यापारलक्षणं नोपलभ्यते राजयजमानप्रभृतीनां तदा संनिधिमात्रेणापि कर्तृत्वं मुख्यं परिकल्प्येत यथा भ्रामकस्य लोहभ्रामणेन न तथा राजयजमानादीनां स्वव्यापारो नोपलभ्यते। तस्मात्संनिधिमात्रेणापि कर्तृत्वं गौणमेव। तथा च सति तत्फलसंबन्धोऽपि गौण एव स्यात्। न गौणेन मुख्यं कार्यं निर्वर्त्यते।

तस्मादसदेवैतद्गीयते देहादीनां व्यापारेणाव्यापृत आत्मा कर्ता भोक्ता च स्यादिति। भ्रान्तिनिमित्तं तु सर्वमुपपद्यते। यथा स्वप्ने मायायां चैवम्। न च देहाद्यात्मप्रत्ययभ्रान्तिसंतानविच्छेदेषु सुषुप्तिसमाध्यादिषु कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थ उपलभ्यते। तस्माद्भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्त एवायं संसारभ्रमो न तु परमार्थ इति सम्यग्दर्शनादत्यन्तमेवोपरम इति सिद्धम्॥६६॥

सर्वं गीताशास्त्रार्थमुपसंहृत्यास्मिन्नध्याये विशेषतश्चान्त इह

शास्त्रार्थदार्ढ्याय संक्षेपत उपसंहारं कृत्वाऽथेदानीं शास्त्रसंप्रदायविधिमाह—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

(अब गीताशास्त्रसम्प्रदाय विधि को भगवान् बतलाते हैं — हे अर्जुन!) यह गीताशास्त्र तपश्चर्या से शून्य को कभी भी नहीं सुनाना, परमेश्वर तथा गुरु में भक्ति से हीन व्यक्ति को कभी भी नहीं सुनाना, जिसे सुनने की इच्छा नहीं हो ऐसे व्यक्ति को और जो मुझमें आत्मप्रशंसादि दोष का आरोपण करने वाला है, ऐसे व्यक्ति को भी कभी नहीं सुनाना॥६७॥

इदं शास्त्रं **ते** तव हिताय मयोक्तं संसारविच्छित्तयेऽ**तपस्काय** तपोरहिताय **न** वाच्यमिति व्यवहितेन संबध्यते। तपस्विनेऽप्य**भक्ताय** गुरुदेवभक्तिरहिताय **कदाचन** कस्यांचिदप्यवस्थायां न वाच्यम्। भक्तस्तपस्व्यपि सन्नशुश्रूषुर्यो भवति तस्मा अपि **न वाच्यम्। न च यो मां** वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वा**ऽभ्यसूयत्या**त्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेन ममेश्वरत्वमजानन्न सहतेऽसावप्ययोग्यस्तस्मा अपि न वाच्यम्। भगवति भक्ताय तपस्विने शुश्रूषवेऽनसूयवे च वाच्यं शास्त्रमिति सामर्थ्याद्गम्यते। तत्र मेधाविने तपस्विने वेत्यनयोर्विकल्पदर्शनात्। शुश्रूषाभक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम्। शुश्रूषाभक्तिवियुक्ताय न तपस्विने नापि मेधाविने वाच्यम्। भगवत्यसूयायुक्ताय समस्तगुणवतेऽपि न वाच्यम्। गुरुशुश्रूषाभक्तिमते च वाच्यमित्येष शास्त्रसंप्रदायविधिः॥६७॥

संप्रदायस्य कर्तुः फलमिदानीमाह—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

इस परम गोपनीय ग्रन्थ को जो गीताध्यापक मेरे भक्तों के मध्य सुनायेगा, वह मुझ परम गुरु परमेश्वर में सर्वोत्कृष्ट भक्ति करके मुझे ही प्राप्त करेगा, इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है॥६८॥

य इमं यथोक्तं **परमं** निःश्रेयसार्थं केशवार्जुनयोः संवादरूपं ग्रन्थं **गुह्यं** गोप्यं **मद्भक्तेषु** मयि भक्तिमत्स्व**भिधास्यति** वक्ष्यति ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापयिष्यतीत्यर्थः। यथा त्वयि मया। भक्तेः पुनर्ग्रहणाद्भक्तिमात्रेण केवलेन शास्त्रसंप्रदाने पात्रं भवतीति गम्यते। कथमभिधास्यतीत्युच्यते— **भक्तिं मयि परां कृत्वा** भगवतः परमगुरोः शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वेत्यर्थः। तस्येदं फलं **मामेवैष्यति** मुच्यत एवात्र संशयो न कर्तव्यः॥६८॥

किंच—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

मनुष्यों में उस गीता प्रचारक से बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला कोई नहीं है और न भविष्य में होगा। इस भूलोक में उस गीताशास्त्र प्रचारक से बढ़कर मेरा प्रेमी कोई दूसरा हो नहीं सकता॥६९॥

न च तस्माच्छास्त्रसंप्रदायकृतो **मनुष्येषु** मनुष्याणां मध्ये **कश्चिन्मे** मम **प्रियकृत्तमो**ऽतिशयेन प्रियकृत्ततोऽन्यः प्रियकृत्तमो नास्त्येवेत्यर्थो वर्तमानेषु। **न च भविता** भविष्यत्यपि काले **तस्माद्**द्वितीयो**ऽन्यः प्रियतरो भुवि** लोकेऽस्मिन्॥६९॥

योऽपि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

जो भी कोई अधिकारी हम दोनों के इस धर्मयुक्त संवाद का अध्ययन करेगा, मैं उससे ज्ञानयज्ञ के द्वारा अपने को पूजित मानूँगा, ऐसा मेरा निश्चय है॥७०॥

अध्येष्यते च पठिष्यति य इमं धर्म्यं धर्मादनपेतं **संवादं** संवादरूपं ग्रन्थमावयोस्तेनेदं कृतं स्यात्। **ज्ञानयज्ञेन** विधिजपोपांशुमानसानां यज्ञानां ज्ञानयज्ञो मानसत्वाद्विशिष्टतम इत्यतस्तेन ज्ञानयज्ञेन गीताशास्त्रस्याध्ययनं स्तूयते। फलविधिरेव वा देवतादिविषयज्ञानयज्ञफलतुल्यमस्य फलं भवतीति। **तेनाध्ययनेनाहमिष्टः** पूजितः **स्यां** भवेयमिति **मे** मम **मति**र्निश्चयः॥७०॥

अथ श्रोतुरिदं फलम्—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

जो श्रद्धा से युक्त, असूया दोष से रहित मनुष्य गीता का श्रवण भी करेगा, वह मनुष्य भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले के शुभलोक को प्राप्त करेगा॥७१॥

श्रद्धावाञ्श्रद्दधानो**ऽनसूयश्चा**सूयावर्जितः सन्निमं ग्रन्थं **शृणुयादपि यो नरो**ऽपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान्**सोऽपि** पापान्**मुक्तः शुभा**न्प्रशस्ताँ**ल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणा**मग्निहोत्रादिकर्मवताम्॥७१॥

शिष्यस्य शास्त्रार्थग्रहणाग्रहणविवेकबुभुत्सया पृच्छति। तदग्रहणे ज्ञाते पुनर्ग्राहयिष्याम्युपायान्तरेणापीति प्रष्टुरभिप्रायः। यत्नान्तर मास्थाय शिष्यः कृतार्थः कर्तव्य इत्याचार्यधर्मः प्रदर्शितो भवति—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७२॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! क्या तूने एकाग्रचित्त हो इस गीताशास्त्र का श्रवण किया? हे धनंजय! क्या अज्ञान से उत्पन्न तेरा मोह नष्ट हुआ॥७२॥

कच्चित्किमेतन्मयोक्तं श्रुतं श्रवणेनावधारितं **पार्थ** किं **त्वयैकाग्रेण चेतसा** चित्तेन किंवा प्रमादितम्। **कच्चिदज्ञानसंमोहो**ऽज्ञाननिमित्तः संमोहो विचित्तभावोऽविवेकता स्वाभाविकः किं **प्रनष्टः**। यदर्थोऽयं शास्त्रश्रवणायासस्तव मम चोपदेष्टृत्वायासः प्रवृत्तस्ते तव **धनंजय**॥७२॥

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

(भगवान् को सन्तुष्ट करते हुए अर्जुन ने कहा कि—) हे अच्युत! आप के प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया, मैं स्मृति को प्राप्त कर गया हूँ। अब मैं सन्देहरहित, आप के शासन में स्थित हो आप की आज्ञा का पालन करूँगा॥७३॥

नष्टो मोहोऽज्ञानजः समस्तसंसारानर्थहेतुः सागर इव दुस्तरः। **स्मृति**श्चाऽऽत्मतत्त्वविषया **लब्धा**। यस्या लाभात्सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। **त्वत्प्रसादा**त्तव प्रसादा**न्मया** त्वत्प्रसादमाश्रितेना**च्युत**। अनेन मोहनाशप्रश्नप्रतिवचनेन सर्वशास्त्रार्थज्ञानफलमेतावदेवेति निश्चितं दर्शितं भवति यदुताऽज्ञानसंमोहनाश आत्मस्मृतिलाभश्चेति। तथा च श्रुतौ 'अनात्मविच्छोचामि' (छा० ७.१.३) इत्युपन्यस्याऽऽत्मज्ञानेन सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष उक्तः।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु. २.२.८) 'तत्र को मेहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई. ७) इति च मन्त्रवर्णः। अथेदानीं त्वच्छासने **स्थितोऽस्मि गतसंदेहो** मुक्तसंशयः **करिष्ये वचनं तव**। अहं त्वत्प्रसादात्कृतार्थो न मम कर्तव्यमस्तीत्यभिप्रायः ॥७३॥

परिसमाप्तः शास्त्रार्थोऽथेदानीं कथासंबन्धप्रदर्शनार्थम्—

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि— इस प्रकार वासुदेव और महात्मा पार्थ के इस अद्भुत, रोमाञ्चकारक संवाद को मैंने सुना ॥ ७४ ॥

इत्येवमहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः संवादमिमं यथोक्तम**श्रौषं** श्रुतवानस्मि। **अद्भुत**मत्यन्तविस्मयकरं **रोमहर्षणं** रोमाञ्चकरम् ॥७४॥

तं चेमम्—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

(जिस पुण्यप्रद उत्कृष्ट संवाद को मैंने सुना) वह व्यास जी की कृपा से सुना है। जो यह संवाद गोपनीय तथा श्रेष्ठ है, योगेश्वर श्रीकृष्ण से साक्षात् मैंने इस योग को सुना है ॥७५॥

व्यासप्रसादात्ततो दिव्यचक्षुर्लाभा**च्छ्रुतवानेतं** संवादं **गुह्यमहं परं योगं** योगार्थत्वात्संवादमिमं योगमेव वा **योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयं** न परम्परातः ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पापनाशक अद्भुत संवाद को बार-बार संस्मरण कर मैं प्रतिक्षण हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

हे राजन्धृतराष्ट्र! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतं केशवार्जुनयोः पुण्यं श्रवणादपि पापहरं श्रुत्वा हृष्यामि च मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणम् ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के इस अद्भुत विश्वरूप को स्मरण करके मुझे अत्यन्त विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७७॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेर्विश्वरूपं विस्मयो मे महान्हे राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

किं बहुना—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

आदितः श्लो. ७००

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो-नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

विशेष क्या कहें, जिस पक्ष में योगश्वर श्रीकृष्ण हों और जहाँपर

धनुर्धर पार्थ हों वहाँ पर ही श्री, विजय, विभूति और अव्यभिचारिणी नीति है, ऐसा मेरा मत है॥७८॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानंन्द गिरि जी द्वारा रचित मोक्षसंन्यासयोगनामक अष्टादश अध्याय की मिताक्षरा व्याख्या सम्पूर्ण हुई॥१८॥

यत्र यस्मिन्पक्षे **योगेश्वरः** सर्वयोगानामीश्वरस्तत्प्रभवत्वात्सर्वयोगबीजस्य **कृष्णो यत्र पार्थो** यस्मिन्पक्षे धनुर्धरो गाण्डीवधन्वा **तत्र श्री**स्तस्मिन्पाण्डवानां पक्षे **विजय**स्तत्रैव **भूतिः** श्रियो विशेषो विस्तारो भूति**र्ध्रुवा**ऽव्यभिचारिणी **नीति**र्नय इत्येवं **मतिर्ममे**ति॥७८॥

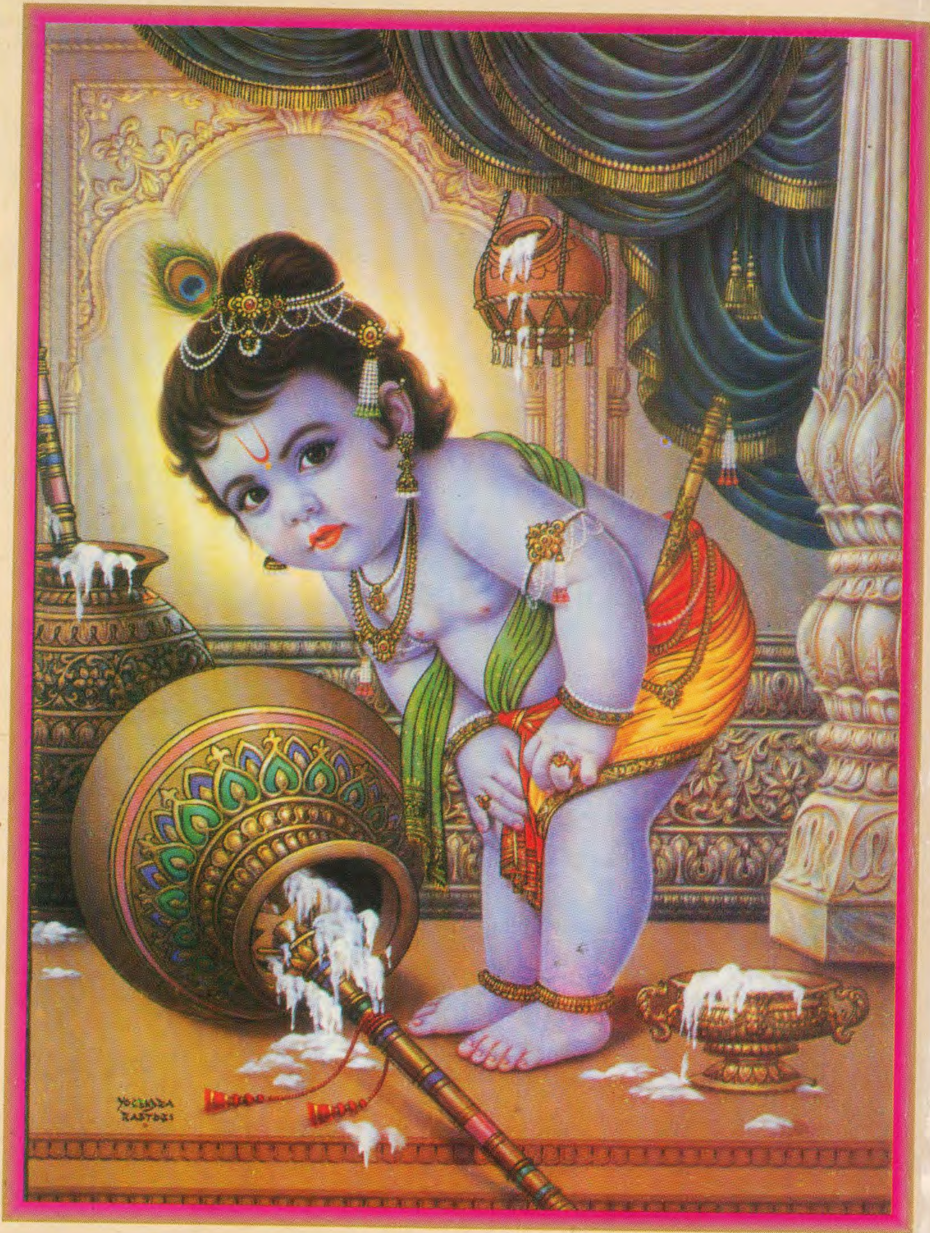
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

षोडशाह्निकम्॥१६॥

॥इति तृतीयषट्कम्॥

॥समाप्तिमगमदिदं गीताशास्त्रम्॥

❊❊❊❊❊
❊❊❊
❊

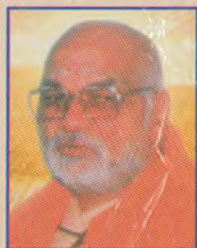


गीतोपदेशकः नवनीतचौरः भगवान् श्रीबालकृष्णः

स्वामी प्रेमपुरी अध्यात्म विद्याभवन संस्थापना रजत जयन्ती प्रसंग

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

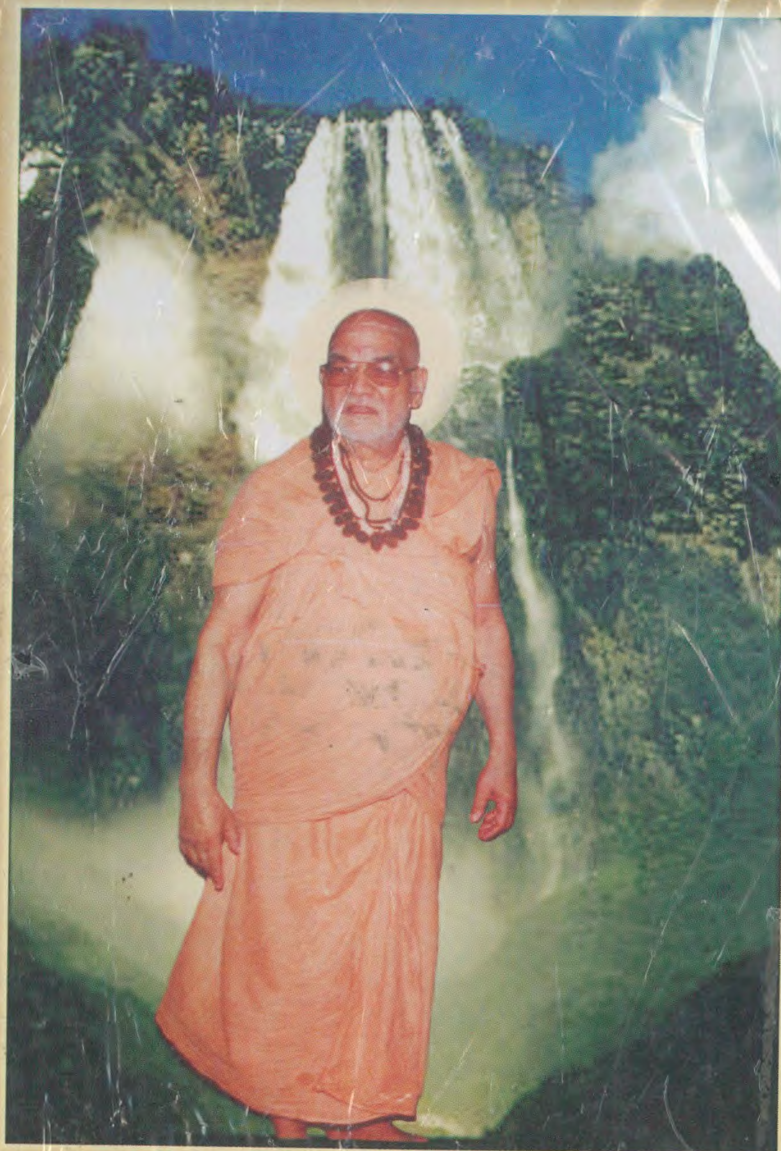


आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी परमार्था पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थविश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आपने कैलास आश्रम की शताब्दी (१९८०-८१), आचार्यद्वय जन्म शताब्दी (१९८५-८६), आद्यश्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी (१९८७-८८), भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर प्रतिष्ठा शताब्दी (१९९२-९७) आदि महत्वपूर्ण महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाकर गुरुजनों के यश को चार चाँद लगाये। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं।

आपने शाङ्करी परम्परा को पुष्ट करने का स्तुत्य सफल प्रयास किया है। शाङ्करभाष्य नित्य पारायण के आप प्रवर्तक हैं और तदनुरूप ग्रन्थों के पारायण संस्करणों को आप प्रकाशित करवा रहे हैं। आपकी इन सभी प्रवृत्तियों को देखकर सन्तों एवं भक्तों ने आपको **शाङ्करी-परम्परा-संपोषकाचार्य** उपाधि से समलंकृत किया है। गुरुजनों

★श्रीशाङ्करभाष्यपारायणप्रवर्तकाचार्य★



श्रीदशमकैलासपीठाधीश्वर
परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज
वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य